भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन
एवं
संवैधानिक विकास

(INDIAN NATIONALIST MOVEMENT AND CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT)

डॉ० विमलेश

एवं

आनन्दचन्द भण्डारी

अध्यक्ष, राजनीति-विज्ञान विभाग

शासकीय महाविद्यालय, झाबुआ (म० प्र०)

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल

प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता, आगरा-३

तृतीय संस्करण की भूमिका

हमें अत्यन्त प्रसन्नता है कि पुस्तक का तृतीय संस्करण आपके सम्मुख है। पिछले संस्करणों की तरह इसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि पुस्तक यथासम्भव दिनाप्त है। चतुर्थ सार्वजनिक निर्वाचनों के उपरान्त देश की राजनीति में जो परिवर्तन आए हैं उनकी विवेचना यथास्थान की गई है। यह न केवल पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं को ही पूरा करेगा वरन् सामान्य-ज्ञान की वृद्धि में भी सहायक होगी, ऐसी हमारी आशा है।

पुस्तक को अधिक उपादेय बनाने के लिए आपके अमूल्य सुझाव अपेक्षित हैं।

—लेखकद्वय

विषय-सूची

१

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास का अध्ययन, जहाँ अत्यन्त रोचक है, वहाँ रोमांचकारी भी है। ब्रिटिश निवासी भारत में व्यापारी बनकर आये तथा व्यापार करते-करते परिस्थितियों के परिणामस्वरूप इस देश के शासक बन गये। हमारे देश में किस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ तथा हमने अंग्रेजों से स्वतन्त्रता प्राप्त की, यह लम्बी गाथा है तथा अनुपम त्याग एवं बलिदान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

उन्नीसवीं शताब्दी ने भारत के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार तथा विदेशी सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क में आने से भारतीयों में एक नवीन भावना तथा चेतना का उदय हुआ। यह कोई आकस्मिक घटना न थी वरन् अनेक कारणों का परिणाम था। भारत में सन् १८५७ की क्रान्ति हो चुकी थी। इस क्रान्ति के सम्बन्ध में विचारकों में जो कुछ भी मतभेद हों, परन्तु कुछ अंशों में यह अवश्य एक व्यापक आर्थिक तथा राजनीतिक असन्तोष की अभिव्यक्ति थी। प्रारम्भ में चाहे यह सिपाहियों का एक विद्रोह मात्र रहा हो, परन्तु भविष्य में इसने एक सर्वतोमुखी व्यापक क्रान्ति को जन्म दिया। इसी काल में अनेक सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। इन आन्दोलनों के कारण जो सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पुनर्जागृति हुई, उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति के लिए जमीन तैयार की। "जब लम्बी दासता से बन्जर हुई भारत की भूमि को सशस्त्र क्रान्ति के विशाल हल ने खोदकर तैयार कर दिया, और जब सुधारकों के दल ने उसमें मानसिक स्वाधीनता के बीज बो दिये, तब यह सम्भव हो गया कि उसमें से राजनीतिक स्वाधीनता के अंकुर उत्पन्न हों। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि मानसिक स्वाधीनता के बिना सामाजिक स्वाधीनता तथा सामाजिक स्वाधीनता के बिना राजनीतिक स्वाधीनता असम्भव है।"[1] डॉक्टर जकारिया ने अपनी पुस्तक 'रिनेसेंट इन्डिया' में लिखा है

---

1 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० २९।

कि भारत की पुनर्जागृति मुख्यतः आध्यात्मिक थी तथा एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण करने से पूर्व इसने अनेक सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया।[1] इन्हीं सुधार-आन्दोलनों के कारण प्रगतिवादी विचारों को प्रेरणा मिली तथा भारतीयों में राष्ट्रीय आत्मसम्मान तथा उत्कट देशभक्ति की भावना उत्पन्न हुई। अंग्रेजों की नौकरशाही की मनोवृत्ति एवं कार्यों ने जनता के हृदयों में राष्ट्रीयता की लहर पनपायी। ब्रिटिश शासन ने समय-समय पर भारतीयों के हृदयों में उमड़ती चेतना का दमन करना चाहा, परन्तु वह जैसे-जैसे दबायी गयी, वह और भी अधिक भड़की। इसी समय यूरोप में भी राष्ट्रवाद की लहर फैल रही थी, जिसके फलस्वरूप जर्मनी तथा इटली का एकीकरण हो चुका था। टर्की से यूनान को तथा हॉलैण्ड से बेल्जियम को भी दासता के बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो चुकी थी तथा पूर्व में एक छोटे से पड़ौसी-देश जापान के एकाएक उत्कर्ष ने भी भारतीयों को प्रेरणा प्रदान की। इन अनेक कारणों के फलस्वरूप भारत में जो राष्ट्रीयता की भावना फैली, उसका मुख्य उद्देश्य भारतीयों की उन्नति ही था। पर क्योंकि भारतवर्ष उस समय ब्रिटिश शासन के अधीन था तथा परतन्त्रता उसकी प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी, इसलिए भारतीय राष्ट्रीयता का मुख्य उद्देश्य विदेशी शासन से मुक्ति पाना बन गया। जिन कारणों से भारत में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ, उनकी चर्चा आगे के पृष्ठों में की जायेगी।

अंग्रेजी शासन के प्रभाव

भारतीयों के हृदयों में राष्ट्रीयता की भावना बढ़ाने में अंग्रेजी शासन ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से पर्याप्त योगदान दिया। अंग्रेजी शासन के फलस्वरूप देश में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हुआ। भारतीय पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क में आये तथा उनके संकीर्ण विचार शनैः-शनैः लुप्त होने लगे। अंग्रेजी शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य देश में राजनीतिक एकता की स्थापना करना था, परन्तु इसके साथ ही, जहाँ अंग्रेजी शासन के कारण यह सब बातें हुई, वहाँ क्योंकि शासन का स्वरूप सदा ही प्रतिगामी रहा, कभी भी शासकों ने भारतीयों की भावनाओं पर ध्यान न दिया, और सर्वदा ही उन्होंने ऐसी नीतियों का निर्धारण किया जो इंग्लैण्ड के हित में अधिक थीं, इसलिए भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध असन्तोष भी पैदा हो गया। इस असन्तोष ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया, जबकि भारतीय ललित-कलाओं तथा उद्योगों को हानि पहुँची। शासकों की जातीय भेदभाव की भावना के कारण भी शासक तथा शासितों के मध्य की खाई शनैः-शनैः बढ़ती ही गयी। जब कभी भी भारतीयों ने सरकार का ध्यान उसकी त्रुटियों की ओर आकर्षित किया, सरकार ने उदासीनता दिखायी तथा जब उन्होंने अधिकारों की माँग की तो उन्हें दमन का आश्रय लिया गया। इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना का विकास अंग्रेजी शासन के विरुद्ध असन्तोष के कारण भी हुआ।

राजनीतिक एकता की स्थापना—इस बात में कोई संशय नहीं किया जा

---

1 [illegible] पृ० १९।

सकता कि भारत में अंग्रेजी शासन का स्वरूप प्रतिगामी था, परन्तु फिर भी इसने देश को राजनीतिक एकता प्रदान की। इससे पूर्व कभी भी ऐसी सुव्यवस्थित तथा विस्तृत एकता देखने में नहीं आयी थी। अशोक अथवा अकबर ने भी देश के एक बड़े विशाल भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, परन्तु कार्ल मार्क्स का मत है कि अंग्रेजी शासन ने जिस एकता को जन्म दिया, वह इससे कहीं अधिक सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित थी। इसके अतिरिक्त पूर्व समय में यह राजनीतिक एकता अधिक काल तक स्थायी न रही थी। इसका कारण यह था कि देश में आवागमन के साधनों का विकास नहीं हुआ था तथा देश के निवासियों में यद्यपि रक्त, रंग, भाषा, रीति-रिवाज आदि की भिन्नता रहते हुए भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान थी, परन्तु उनमें राजनीतिक एकता की आकांक्षा जाग्रत न हो पायी थी। जब अंग्रेजों के शासनकाल में सम्पूर्ण देश एक सुदृढ़ केन्द्रीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत आ गया तथा हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक एक ही प्रशासन, एक ही कानून तथा एक ही न्याय-व्यवस्था की स्थापना हुई तो भारत पहली वार राजनीतिक दृष्टि से संयुक्त हुआ। यद्यपि एक केन्द्रीकृत व्यवस्था तथा यातायात के साधनों का विकास अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए किया ताकि वह देश का शोपण अधिक कर सकें, परन्तु यह एक छलावा मात्र सिद्ध हुआ, क्योंकि अंग्रेजों द्वारा स्थापित राजनीतिक एकता ने सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। लोगों में राजनीतिक चेतना के विकसित होने पर स्थानीय भक्ति का स्थान अब सारे देश के प्रति भक्ति ने ले लिया। जनता ने एक अखण्ड तथा स्वतन्त्र भारत की कल्पना की। जनता में राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार ब्रिटिश सरकार ने अपने विरुद्ध एक चुनौती समझी तथा इसे रोकने के लिए उन्होंने देशवासियों में फूट डालने की नीति अपनायी, परन्तु यह कूटनीति भी राष्ट्रीयता की लहर को दवा न पायी।

पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव—भारत के राजनीतिक जागरण में पाश्चात्य शिक्षा ने भी पर्याप्त योगदान दिया। यद्यपि मैकॉले की नीति यह थी कि देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार कर "अंग्रेजों की आज्ञा को सर झुका कर पालन करने वाले लोगों का एक नवीन वर्ग वनाया जाय, जिसका अपने देशवासियों से कोई सम्बन्ध न रह जाय," परन्तु कालान्तर में यह नीति अदृष्ट रूप में एक वरदान सिद्ध हुई। अंग्रेजी का प्रसार होने से भारतीयों को पाश्चात्य संस्कृति का ज्ञान हुआ। उनमें विचार-स्वातन्त्र्य की भावना का उदय हुआ तथा वह योरोपीय देशों की जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली से परिचित हुए। मेजिनी, गैरीवाल्दी, रूसो, लॉक, वाल्टेयर आदि की रचनाओं को पढ़कर प्रत्येक शिक्षित भारतवासी अपनी गुलामी पर क्षुब्ध होने लगा। सुरेन्द्रनाथ वनर्जी ने लिखा है : "मेजिनी के विचारों एवं लेखों ने मेरे मन पर बहुत प्रभाव डाला है। मेजिनी इटली की एकता का प्रतीक एवं ईश्वरीय दूत तथा मनुष्य जाति का मित्र है। वंगाल की जनता के समक्ष उसे मैंने उदाहरणार्थ रखा जिससे कि वहाँ की जनता उसका अनुसरण करे। मेजिनी ने इटली की एकता का पाठ पढ़ाया

करते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता की भावना पश्चिमी शिक्षा का पोष्य शिशु था।[1]

समाचार-पत्र तथा साहित्य—पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से देश में छापेखानों का विकास हुआ। समाचार-पत्रों की संख्या में शीघ्र ही आशातीत वृद्धि होने लगी। इन्होंने भी देश के राष्ट्रीय जागरण में काफी योगदान दिया। भारतीय समाचार-पत्रों ने अंग्रेजी पत्रों के भारत-विरोधी अनर्गल प्रलापों का मुँह-तोड़ उत्तर दिया तथा उन्होंने विदेशी शासन की त्रुटियों से जनता को परिचित कराया। सन् १८७० तक ब्रिटिश भारत में ६४४ समाचार-पत्रों का प्रकाशन होने लगा था, जिनमें से लगभग ४०० भारतीय भाषाओं के थे। राजा राममोहन राय ने सर्वप्रथम सन् १८२१ में 'सम्वाद कौमुदी' का प्रकाशन आरम्भ किया जिसका दृष्टिकोण राष्ट्रवादी था। सन् १८२२ में फार्दनजी मुर्जवान ने 'वाम्बे समाचार' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। सन् १८३१ में राममोहन राय, द्वारकानाथ टैगोर तथा प्रसन्नकुमार टैगोर ने 'वंगदूत' तथा सन् १८५१ में 'रास्त गुफ्तार' नामक एक गुजराती पत्र का, जिसका सम्पादन कुछ दिन तक दादाभाई नौरोजी ने किया था, प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् १८५७ की क्रान्ति के वाद तो देश में समाचार-पत्रों की वाढ़-सी आयी। 'टाइम्स आफ इण्डिया' (सन् १८६५), 'मद्रास मेल' (सन् १८७६), 'स्टेट्समैन' (सन् १८७५), तथा 'सिविल एण्ड मिलटरी गजट' लाहौर (सन् १८७६), शासन का समर्थन करने वाले पत्रों के प्रकाशन के साथ ही राष्ट्रवादियों ने 'अमृत वाजार पत्रिका' (सन् १८३८), 'ट्रिब्यून' (सन् १८७७) आदि पत्रों का प्रकाशन शुरू करके शासन की नीतियों की आलोचना की।

इसी काल में कुछ लेखक हुए जिनकी कृतियों ने राष्ट्रीयता के विकास में पर्याप्त योगदान दिया। वंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' तथा 'वन्देमातरम्' की रचना की। अनेक भारतीय भाषाओं में गैरीवाल्डी, मेजिनी के जीवन-चरित्रों का प्रकाशन हुआ, जिन्हें पढ़कर जनता में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई। स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश (सन् १८८३) में स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा तथा स्वदेश के पक्ष में जो स्पष्ट विचार प्रकट किये, वह भारतीय राजनीति में सन् १९०१ से पूर्व व्यक्त रूप में नहीं आये थे। उन्होंने प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का समर्थन किया तथा कहा, "सुराज्य स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं हो सकता।" माइकेल मधुसूदन दत्त ने वंगला में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में, नर्मद ने गुजराती में, चिपलूणकर ने मराठी में, भारती ने तामिल में तथा अन्य अनेक साहित्यकारों ने विभिन्न भाषाओं में राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण किया। तत्कालीन समय में साहित्यिक कृतियों ने भारतवासियों के हृदयों में सुधार व जागृति के हेतु अनिवार्य उमंग पैदा करदी।[2]

सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन—अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य प्रभाव के

---

1. "Indian Nationalism to a very great extent is the fosterchild of western education." —*Raghuvanshi* : Indian Nationalist Movement and Thought, p. 25
2. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ३२.

भारतीयों को ऐसे जीव के रूप में चित्रित किया जाता था जो अर्द्ध-गोरिल्ला और अर्द्ध-नीग्रो हो। अंग्रेज भारत में यह भावना लेकर आये कि एक अंग्रेज का जीवन कई भारतीयों के जीवन के बराबर है और उन पर शासन करने के लिए उनमें भय पैदा करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त चूंकि भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अंग्रेजों को अपार हानि उठानी पड़ी थी, अतः भारतीयों के जीवन तथा धन से उन्हें मनमाने रूप से खेलने का अधिकार था।[1] सर हेनरी कॉटन ने अपनी पुस्तक 'न्यू इण्डिया' में लिखा है कि उच्च-शिक्षा प्राप्त तथा उच्च कुल के भारतीयों को ऐंग्लो-इण्डियन क्लबों में घुसने नहीं दिया जाता था। उनके साथ अंग्रेज अत्यन्त निम्न कोटि का व्यवहार करते थे।[2] न्यायालयों में भी उन्हीं का बोलबाला था, इसलिए उनके सब अपराध माफ थे। यहाँ तक कि वह यदि भारतीयों की हत्या भी कर देते तो उन पर मुकद्दमा चलाया जाना तथा न्याय पाना कठिन था। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र के अनुसार यद्यपि नौकरियों के मामलों में भारतीयों को समान अवसर प्रदान किये जाने थे, परन्तु भारतीयों को उच्च पदों से वंचित रखा जाता था। शासन का स्वरूप अनुत्तरदायी था। कौंसिलों में भी अँग्रेजों का ही बहुमत था। इन कारणों से भारतीयों तथा अंग्रेजों के मध्य विद्वेष की खाई दिन-प्रतिदिन गहरी होती गयी। कार्टिस ने अपनी पुस्तक 'डायरकी' की भूमिका में स्वीकार किया है कि वह अनेक शिक्षित भारतीयों के सम्पर्क में आये तथा उनमें से कुछ ऐसे थे जो निश्चित रूप से ब्रिटेन से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते थे। इन सबका मूल कारण यह था कि वे किसी न किसी समय अंग्रेजों द्वारा अपमानित किये जा चुके थे। लॉर्ड लिटन ने भी बाद में स्वीकार किया कि घोषणापत्र में जिन बातों को स्वीकार किया गया था, उन्हें कार्य के रूप में परिणत करना, कभी भी शासन की नीति न रही थी।[3]

सर हेनरी कॉटन ने लिखा है. : "यह एक भयानक रोग का लक्षण है कि भारत में अन्य योरोपीय जनों की भाँति अधिकारी वर्ग भी अब भारतीयों के प्रति द्वेषभाव रखने लगा है।......हम एक अत्यन्त गम्भीर परिस्थिति में आ फँसे हैं, क्योंकि अधिकारियों का यह मत-परिवर्तन पूर्ण हो चुका है और इसके साथ ही (दोनों जातियों के मध्य) तनाव भी शंका-प्रद अवस्था तक पहुँच गया है।" भारतीयों में अविश्वास,

---

1 *Garrat* : An Indian Commentary, pp. 114-116.

2 Ref. *Cotton* : New India. pp. 69-70.
Cotton : Indian & Home Memories, pp. 157-158.
Gokhle : Speeches, p. 924.
Garrat : An Indian Commentary, p. 147.

3 *Lord Lytton* said : "We all know that these claims and expectations never can or will be fulfilled. We have had to choose between prohibiting them (Indians) and cheating them, and we have chosen the last straight-forward course." (*Annie Besent* : How India Wrought for Her Freedom, pp. I-IX; p. 420.

उनकी योग्यताओं पर ध्यान न देना और सेना, पुलिस तथा अन्य उच्च पदों से उनको वंचित रखना या इस भ्रामक धारणा का प्रसार कि एक अंग्रेज में जीवन का मूल्य कई भारतीयों के जीवन के बराबर है, ने भारतीयों के हृदय में अंग्रेज शासन के प्रति असन्तोष का भाव भर दिया। भारतवासी यह सोचने को वाध्य हो गये कि केवल सुसंगठित आन्दोलन ही एक ऐसा उपाय था जिसके द्वारा सरकार को माँगें स्वीकार करने के लिए वाध्य किया जा सकता था।[1] इसी असन्तोष के कारण राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ।

भारतीय उद्योगों को हानि एवं आर्थिक असन्तोष—अंग्रेजी शासन ने आर्थिक क्षेत्र में जिन नीतियों को लागू किया, उन्होंने भी असन्तोष की वृद्धि की। उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत के उद्योग-धन्धे अत्यन्त समृद्ध थे तथा विदेशों को वह माल भेजता था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सन् १८२४ तक भारत में बना कपड़ा इंगलैण्ड में, वहाँ के कारखानों द्वारा वने कपड़े से, आधे मूल्य पर बिकता था। इसके अतिरिक्त भारतीय दस्तकारी आदि भी बाहर भेजी जाती थीं, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में परिस्थिति में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। सरकार ने ऐसी नीतियाँ अपनानी शुरू करदीं कि भारत में निर्मित माल इंगलैण्ड में बने माल की प्रतिद्वन्द्विता में ठहर न सके। भारतीय वस्तुओं पर, जो बाहर जाती थीं, भारी कर लगा दिया गया तथा भारत से आने वाले माल पर धीरे-धीरे आयात-कर में वहुत छूट दे दी गयी। इसका फल यह हुआ कि विदेशी मशीन से बने माल के साथ प्रतिद्वन्द्विता न कर सकने के कारण भारत के उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। यातायात के साधनों के विकास ने भारत में अँग्रेजी वस्तुओं के लिए बाजार अधिक व्यापक किया। सरकार की मुख्य नीति यह भी रही कि भारत इंगलैण्ड के उद्योगपतियों के लिए कच्चे माल देने वाला तथा उनके बने माल का ग्राहक बना रहे। इसीलिए सरकार ने भारतीय उद्योग-धन्धों के प्रति ऐसी नीति अपनायी थी। भारत की पुरानी दस्तकारियों का भी शनैः-शनैः पतन हो गया। डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि शासन की नीतियों ने पुरानी दस्तकारी व कला-कौशल को हानि पहुँचायी। भारत से खद्दर विदेशों को पर्याप्त मात्रा में जाता था, जिसके बदले में गाँव के जुलाहों आदि को बहुत धन मिलता था, पर लंकाशायर के कपड़े आने से वह समाप्त होने लगा तथा लगभग बीस लाख जुलाहे अपने कुटुम्ब के लोगों सहित, जिनकी संख्या लगभग एक करोड़ थी, बेकार हो गये। तीन करोड़ सूत कातने वाले, जिनके कारण बीस लाख करघे चलते थे, रोजी खो बैठे। केवल कपड़ा उद्योग में इस प्रकार लगभग चार करोड़ आदमी बेरोजगार हो गये। इसके अतिरिक्त नगरों में कूड़ा भरने वाली गाड़ियों के लिए रबर टायर आने से बढ़ई बेरोजगार हो गये। बर्किंघम तथा एंटवर्प से आने वाले तार, कब्जे, खूँटी, ताली-ताले आदि लोहे के सामानों के कारण

---

1 *K. V. Punnaiah* : The Constitutional History of India. p. 107.

भारत के लोहार बेकार हो गये। जूते भी विदेशों से आने लगे तथा मोची की जीविका कम हो गयी। चीनी के तथा इनामेल के बर्तनों के कारण कुम्हारों की रोजी मारी गयी। इस प्रकार अँग्रेजी शासन ने भारत में हर प्रकार की दस्तकारी को नुकसान पहुँचाया तथा करोड़ों लोगों को बेकार कर दिया।[1]

भारतीय उद्योगों के पतन के कारण लोगों ने चेष्टा की कि कृषि का सहारा लें, परन्तु विभिन्न दोषों के कारण कृषि की भी दशा अच्छी नहीं थी। जमींदारी-प्रथा के कारण बहुत-से लोग भूमिहीन हो गये तथा लगान के बढ़ने के कारण उनमें दरिद्रता बढ़ती गयी। शासन-व्यवस्था भी बहुत अधिक व्यय-साध्य थी। अँग्रेज अधिकारियों को बहुत अधिक वेतन दिया जाता था। इंगलैण्ड को एशिया में अपने साम्राज्य के विस्तार के हेतु तथा उसकी रक्षा के लिए अन्य देशों से युद्ध भी करना पड़ता था। इसका भी बोझ भारत के ही ऊपर था। इस प्रकार आर्थिक कारणों से भारत के प्रत्येक वर्ग में असन्तोष फैल रहा था। लोग शासन का विरोध करने लगे थे। इसी बीच दुर्भिक्ष आदि भी फैले। इससे जनता की दुर्दशा बढ़ती ही गयी। ड्यूक ऑफ आर्गिल ने, जो सन् १८७२-७६ तक भारत मन्त्री थे, लिखा है : "भारत की जनता में जितनी दरिद्रता है तथा उसके रहन-सहन का स्तर जिस तेजी से गिरता जा रहा है, उसका उदाहरण पश्चिमी जगत में नहीं मिलता है।" मेक्निकोल ने भी लिखा है : "केवल इतना ही नहीं कि हमने इस जाति के हृदय पर विजय नहीं पायी है, हम उसकी भूख भी नहीं मिटा पाये हैं""""यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत में उसे सफलता नहीं मिली है। सर विलियम हण्टर ने भी सन् १८८० में इस मत की पुष्टि की है कि अधिकांश भारतवासी पर्याप्त भोजन की सामग्री जुटाने में असमर्थ रहते थे।[2] लॉर्ड सेलिसबरी ने, जो सन् १८७५ में भारत-मन्त्री थे, स्वयं स्वीकार किया कि ब्रिटिश शासन भारतीयों का खून चूस रहा था। अंग्रेजी शासन की आर्थिक नीतियों से असन्तुष्ट होकर भोलानाथ चन्द्र ने सन् १८७७ में लिखा : 'बिना बल का प्रयोग किये, बिना राजद्रोह किये तथा बिना वैधानिक सहायता की अपेक्षा किये अपने पुराने गौरव को प्राप्त कर लेना हमारे हाथ की बात है। हमारे पास केवल एक परन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली अस्त्र शेष है—नैतिक विरोध ; और इस अस्त्र का प्रयोग किसी प्रकार अपराध नहीं हो सकता। इस अमोघ अस्त्र के प्रयोग का एकमात्र उपाय है—विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।"

उन्नीसवीं शताब्दी में हुए धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों ने भी भारतीयों के हृदय में पर्याप्त मात्रा में राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया। शताब्दियों

पुनरुत्थानवादी आन्दोलन

तक पराधीन रहने के कारण भारतवासी अपने सांस्कृतिक वैभव को भूल गये थे। भारत में अंग्रेजों के आने से ईसाई धर्म का प्रचार होने लगा। इसने भी हिन्दू धर्म के अस्तित्व को चुनौती दी। ऐसे समय कुछ महान् आत्माएँ हुईं जिन्होंने

---

1 History of Nationalist Movement in India, p. 5.
2 Ref. *Fisher F. B.* : India's Silent Revolution, pp. 37-38.

हिन्दू धर्म तथा संस्कृत की रक्षा के हेतु प्रयत्न किये। उन्होंने भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव से अवगत कराया तथा उनके हृदय में यह भावना भरी कि उनकी सभ्यता एवं संस्कृति किसी से कम नहीं थी तथा पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करना उनके लिए उचित न था। ऐनी बीसेन्ट ने कहा भारतीय संस्कृति एक विशाल वृक्ष है जिसके पीछे शताब्दियों का इतिहास है। जवाहरलाल नेहरू ने भी भारत में राष्ट्रीय जागृति के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है : यह दो बातों का परिणाम थी—पश्चिम का अवलोकन तथा "अपना और अपने भूतकाल का निरीक्षण।[1] डा० रघुवंशी ने भी कहा है कि राष्ट्रीय आन्दोलन काफी सीमा तक पुनरुत्थानवादी आन्दोलन था। राष्ट्रीयता पुरानी स्मृतियों एवं उपलब्धियों पर निर्भर करती है तथा जब साम्राज्यवादियों के दबाव से प्रताड़ित होकर भारत की राष्ट्रीय आत्मा अपने भूतकाल से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन में भी भारतीय जनता को अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान हुआ तथा भविष्य में प्रगति करने की संभावना भी प्रतीत हुई।[2] इन धार्मिक सुधार-आन्दोलनों का राष्ट्रीय जागरण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

ब्रह्म समाज—राजा राममोहन राय आधुनिक युग के प्रवर्तक थे। वह एक विद्वान् व्यक्ति थे तथा दर्शन का उन्होंने विस्तृत अध्ययन किया था। जब उन्होंने देखा कि देश के नवयुवकों में अपनी सभ्यता के प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा है, जनता अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों से प्रभावित है तथा बंगाल मे ईसाई धर्म का प्रचार अत्यन्त वेग से हो रहा है तो उन्होंने उसके विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया। उन्होंने सती-प्रथा का विरोध किया तब अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया। सन् १८२८ में उन्होंने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसके सिद्धान्तों में उन्होंने हिन्दू, इस्लाम तथा ईसाई तीनों धर्मों की अच्छी बातों का समावेश किया। सन् १८३३ में राजा राममोहन राय की मृत्यु हो गयी तथा महर्षि देवेन्द्रनाथ तथा केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज के कार्य को आगे बढ़ाया। आगे चलकर ब्रह्म समाज के दो पक्ष हो गये—आदि समाज व साधारण समाज। आदि समाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ थे। इसकी विचारधारा संकुचित तथा रूढ़िवादिता पर आश्रित थी। साधारण समाज सुधारवादी था। केशवचन्द्र सेन ने सन् १८६४ में मद्रास में 'वेद समाज' तथा सन् में १८६६ में बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। राजा राममोहन राय राजनीति-सुधार भी चाहते थे। वह भारतवासियों के लिए उसी प्रकार की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे, जो अँग्रेजों को अपनी विधि-व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त थी। ये पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कार्य-पालिका सम्बन्धी तथा न्याय सम्बन्धी कार्यों के विभाजन का प्रश्न उठाया। बंगाल में राजनीतिक क्षेत्र तथा सामाजिक क्षेत्रों में पुनर्जागरण का श्रेय राजा राममोहन राय को ही है। ऐनी बीसेन्ट का कहना है कि राजा राममोहन राय अग्नि और

---

1 Discovery of India. p. 392.
2 Indian Nationalist Movement and Thought. p. 5.

इस्पात की वह अद्वितीय शक्ति थे जिन्होंने शौर्य और साहस से अकेले ही हिन्दू धर्म की अटूट कट्टरता से लोहा लिया तथा स्वतन्त्रता का बीज बोया जो कालान्तर में विशाल वृक्ष का रूप ले लेता, जिसकी छाया में राष्ट्र के हित निहित थे ।[1]

आर्य समाज—उन्नीसवीं शताब्दी का दूसरा मुख्य आन्दोलन आर्य समाज था। जिसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। वह अंग्रेजी के ज्ञाता नहीं थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना हिन्दी में की, जिससे अधिकांश भारतीय जनता उन्हें समझ सके। हिन्दू धर्म में जो बुराइयाँ व्याप्त थीं, उनका स्वामीजी ने प्रवल विरोध किया। जातपाँत को वह अवैदिक मानते थे तथा उन्होंने अस्पृश्यता का विरोध किया। स्त्रियों को भी वह पुरुषों के ही समान अधिकार देने के पक्षपाती थे। उन्होंने वाल-विवाह, वहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि का विरोध किया तथा विधवा-विवाह का समर्थन किया। 'सत्यार्थ-प्रकाश' उनकी अमर कृति है। उन्होंने वेदों का भी भाष्य किया। उनके उपदेशों से भारतीय जनता में स्वदेशी, स्वराज्य आदि भावनाओं का विकास हुआ। रोमां रोलां ने उन्हें 'इलियड' या 'गीता' का नायक कहा है जो हर्क्युलिज के समान शक्तिवान थे, जिन्होंने हिन्दू कट्टरता पर घोर प्रहार किये और शंकर के बाद बुद्धिमता का ऐसा देवदूत कोई नहीं हुआ था ।[2] हेन्स कोहन का भी मत है कि यह एक धार्मिक एवं राष्ट्रीय पुनरुत्थान आन्दोलन था जो भारतीयों एवं हिन्दू जाति में नवीन जीवन का संचार करना चाहता था ।[3] प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार आर्य समाज को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन समझती थी जो ब्रिटिश प्रभुता के लिए घातक सिद्ध हो सकता था ।[4]

रामकृष्ण मिशन (सन् १८३६-१८८६)—रामकृष्ण परमहंस[5] से भी भारतीय

---

1 Ram Mohan Roy was "that extraordinary spirit of fire and steel, whose heroic courage faced alone the dread and the unbroken force of Hindu orthodoxy, and planted the seed of freedom, the seed destined to grow into a spreading tree the leaves of which are for the healing of the nation." —(India & Nation, pp. 72-73)

2 Ref. *C. Parmeswaran* : Dayananda and Indian Problem, pp. 228-29.

3 History of Nationalism in the East, p. 62.

4 Anglo Indian officials regarded Arya Samaj as a political movement, as a society which has some occult creed and persues its wicked way under the cloak of deceit." —*Mac Donald* : The Awakening of India, pp. 35-36.

5 *Vivekanand* said : "We must go out, and we must conquer the world through our spirituality and philosophy. There is no other alternative, we must do it or die.......The only condition of national life, is the conquest of world by Indian Thought."
—Ref. *Hans Kohn* : Nationalism in the East, pp. 71-72

राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। बाल्यकाल से ही उनकी रुचि आध्यात्म की ओर थी यद्यपि वह अधिक शिक्षित न थे, पर छोटी आयु से ही उनके भाषणों का प्रभाव जनता पर बहुत अच्छा पड़ता था। उनका विश्वास था कि ब्रह्म एक है तथा ईश्वर, अल्लाह, क्राइस्ट आदि एक ही ईश्वर के नाम हैं। वह सब धर्मों के लक्ष्य को समान मानते थे—अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द में भी उत्कृष्ट प्रतिभा, असाधारण वक्तृत्व-शक्ति व त्याग की भावना थी। उन्होंने सन् १८९३ में शिकागो में 'विश्व धर्म-सम्मेलन' में जो भाषण दिया, वह बहुत ही प्रसिद्ध है। इसमें आपने यह सिद्ध कर किया कि भारत मानव-जगत का आध्यात्मिक गुरु है तथा हिन्दू धर्म ही एक मात्र वैज्ञानिक धर्म है। उनका लक्ष्य था कि नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रभाव से भारत को अपना खोया हुआ स्थान पुनः प्राप्त कर जगत की विजय करना चाहिए।[1] उनमें उद्‌भट देशभक्ति तथा उन्नत धार्मिक भावना थी। उनके भाषणों ने न केवल संसार में भारतीय संस्कृति को उज्जवल किया वरन् देशवासियों के हृदय में आत्म-विश्वास तथा स्वधर्म तथा स्वदेश के लिए अभिमान उत्पन्न किया। उन्होंने अपने गुरु के नाम पर 'रामकृष्ण सेवाश्रम' की स्थापना की, जिसके अनेक केन्द्र हैं। यह सेवाश्रम अनेक प्रकार से मानव-जाति की सेवा कर रहा है।

थियोसौफिकल आन्दोलन—इस आन्दोलन ने भी भारत के नव-जागरण में काफी योगदान दिया। इसकी स्थापना सन् १८७५ में एक रूसी महिला मैडम हेलना पेट्रोवना ब्लेवत्सकी तथा अमरीकी सैनिक अफसर हेनरी स्टील ऑलकाट ने अमरीका मे की। इनका लक्ष्य धर्म को समाज-सेवा का मुख्य साधन बनाना था। चार वर्ष बाद भारत में भी अदयार में उन्होंने थियोसौफिकल सोसायटी की स्थापना की। इस सोसायटी ने सभी धर्मों का समर्थन किया तथा इसके नियमों के अनुसार धर्म ही वह तत्त्व था जो राष्ट्रीयता को प्रेरित कर सकता था। सन् १८९३ में एनी बीसेण्ट ने भारत में आकर थियोसौफिकल आन्दोलन को बढ़ाया। वह राजनीति में भी भाग लेने लगीं। शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने बनारस में हिन्दू कालेज की स्थापना की। इस आन्दोलन ने भी हिन्दुओं में नव-जागरण फैलाया तथा राष्ट्रीयता की भावना फैलायी।

अन्य आन्दोलन—इसी काल में अन्य सुधार-संस्थाएँ भी स्थापित हुईं, जिन्होने अपने-अपने क्षेत्र में नव-जागृति फैलायी। बम्बई में प्रार्थना समाज ने श्री महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में समाज-सुधार का काम किया। रानाडे ने विधवा-विवाह-प्रचार के लिए भी एक संस्था की स्थापना की तथा शिक्षा-प्रसार के लिए 'डेकन एजुकेशन सोसायटी' को जन्म दिया। उनके शिष्य श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने सन् १९०५ में 'सरवेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' की स्थापना की। इस संस्था के सदस्य सादा जीवन व्यतीत कर देश-सेवा करना अपना धर्म समझते थे।

योरोपीय विद्वानों ने भी प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करके पुरानी भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की प्रशंसा की। इन विद्वानों में मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, रौथ, सैसून, बुनूफ आदि प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का भी अनुवाद किया। भारतीयों के ऊपर इन पाश्चात्य विद्वानों का बहुत अधिक प्रभाव

पड़ा। उनमें अपने साहित्य तथा संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। उन्हें यह ज्ञात हो गया कि उनकी सभ्यता तथा संस्कृति के सम्मुख योरोपीय संस्कृति कुछ भी नहीं है। इस बात ने उनमें आत्म-सम्मान की वृद्धि की।

लार्ड लिटन की राजनीतिक भूलें

लार्ड लिटन ने अपने शासनकाल में (सन् १८७६-८०) अनेक राजनीतिक भूलें कीं, जिनसे राष्ट्रीय आन्दोलन को अधिक प्रोत्साहन मिला। उसकी सम्राज्यवादी नीतियों ने देश में व्यापक असन्तोष को जन्म दिया जिसके कारण देश में एक राष्ट्रीयता संस्था की स्थापना करने का विचार लोगों के मस्तिष्क में आया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'इन्डियन एसोसियेशन' द्वारा भी राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रसार किया।

सिविल सर्विस आन्दोलन—इण्डियन सिविल सर्विस के लिए नियुक्ति लन्दन में होने वाली एक परीक्षा के द्वारा होती थी। लॉर्ज लिटन की इच्छा थी कि इस परीक्षा में भारतीयों का बैठना निषिद्ध कर दिया जाय तथा भारत-मन्त्री लॉर्ड सेलिसबरी ने सन् १८७६ में एक घोषणा के द्वारा सिविल सर्विस में सम्मिलित होने की आयु २१ वर्ष से घटाकर १६ वर्ष कर दी गयी। इसका फल यह हुआ कि भारतीयों का इस परीक्षा में बैठना असम्भव ही हो गया। सर सैय्यद अहमद ने भी लिखा कि आयु सीमा कम कर देने के कारण भारतीयों का असैनिक सेवाओं में सफलता पाना कठिन ही था तथा आयु कम करने के बाद केवल एक ही भारतीय सफल हुआ था जबकि इसके पूर्व इन पदों के लिए लगभग १ दर्जन भारतवासी सफलता प्राप्त कर चुके थे।[1] सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को सरकार की नीति का विरोध करने तथा 'इण्डियन एसोसिएशन' को अखिल भारतीय स्तर पर आन्दोलन करने का एक अवसर मिल गया। उन्होने सारे भारत का तूफानी दौरा किया। उन्होंने स्वयं लिखा है कि यह आन्दोलन यद्यपि आयु की सीमा बढ़ाकर स्वतन्त्रतापूर्वक भारतीयों को परीक्षा में सम्मिलित होने का अवसर प्रदान करने के पक्ष में था परन्तु इसका मूल उद्देश्य भारतीयों में संगठन एवं एकता की भावना को जागृत करना था।[2] कलकत्ते के टाउन-हॉल में २५ मार्च सन् १८७७ को एक विराट् सभा की गयी तथा देश के अनेक स्थानों पर भी एसोसियेशन की ओर से सभाएँ हुईं। इंगलैण्ड की कॉमन्स सभा के पास भी भारतीयों की ओर से एक स्मृति-पत्र भेजा गया। सरकार को विरोध के सम्मुख झुकना पड़ा तथा परीक्षा में बैठने की आय पुनः बढ़ाकर २१ वर्ष कर दी गयी।

दक्षिण का दुर्भिक्ष और शाही दरबार—सन् १८७७ में जब दक्षिण में बहुत बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा, लॉर्ड लिटन ने उसकी ओर ध्यान न देकर पहली जनवरी को एक विशाल दरबार दिल्ली में आयोजित किया, जिसमें विक्टोरिया को 'भारत की महा-रानी' घोषित किया गया। लोगों के हृदयों में, इस शाही दरवार के ऐसे अवसर पर

---

1 *Ram Gopal* : Indian Muslims; A Political History, p. 53

2 A Nation in Making, p. 51.

होने से, जबकि जनता भूखी मर रही थी, सरकार के प्रति असन्तोष भर दिया। कलकत्ते के एक पत्रकार ने यहाँ तक लिखा कि जब रोमी जल रहा था नीरो खिलवाड़ कर रहा था।[1]

अफगानिस्तान पर आक्रमण—लॉर्ड लिटन की अफगानिस्तान पर हमला करने की नीति ने भी भारतीयों को असन्तुष्ट किया क्योंकि अफगानिस्तान पर आक्रमण करने में जो दो करोड़ स्टर्लिंग खर्च हुआ, वह भारत की निर्धन जनता पर पड़ा। तथा इसमें भारतीयों का कोई हित भी नहीं था। इंगलैण्ड में भी लॉर्ड लिटन के इस कार्य को मूर्खतापूर्ण कहा गया।

वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट—सन् १८७८ में कौंसिल ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' पारित किया। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने इस एक्ट को अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय समाचार-पत्रों पर बलात्कार कहा।[2] शिक्षित वर्ग ने इस एक्ट को "गैंगिंग एक्ट" का नाम दिया। इसके द्वारा देशी भाषाओं के समाचार-पत्रों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण हो गया, क्योंकि जिलाधीश किसी भी प्रकाशक से इस बात की जमानत ले सकता था कि वह शासन-विरोधी लेखों को नहीं छापेगा या जिलाधीश यह भी आज्ञा दे सकता था कि समाचार-पत्र मुद्रित होने से पूर्व प्रकाशक उसके 'प्रूफों' को उससे या किसी अन्य अधिकारी से स्वीकृत करा ले। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने इस कानून से बचने के लिए पत्र बंगला से अंग्रेजी में प्रकाशित करना आरम्भ किया। लिटन ने यह एक्ट इसलिए पारित कराया था कि उसके मत में देशी भाषा के पत्र राजद्रोह का प्रचार कर रहे थे। कौंसिल के कुछ सदस्यों ने एक्ट का विरोध भी किया था, परन्तु लिटन ने उनकी एक न सुनी।

लॉर्ड लिटन के नाम के चारों ओर काली रेखा खींचने के अनेक कारणों में 'आमर्स एक्ट' था। इस एक्ट का उद्देश्य किसी अपराध को रोकना नहीं, अपितु मनुष्यता का दमन करना था। इस एक्ट के अनुसार भारतीय बिना लाइसेन्स में कोई भी शस्त्र लेकर नहीं चल सकते थे, जबकि योरोपियनों या ऐंग्लो-इण्डियनों के ऊपर यह लागू न होता था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का मत है कि इस एक्ट ने देशवासियों के प्रति अविश्वास तथा सन्देह की नीति को जन्म दिया और भारतीयों को अन्य योरोपीय जातियों की तुलना में अपने को हीन समझने का अवसर प्रदान किया। भारतीय जनता ने इसे अपमान समझा तथा सरकार की ओर उसकी यह परेशानी कि कहीं भारतीय अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग न करें, कुछ समय के लिए दूर हो गयी। यद्यपि भारत अहिंसात्मक साधनों से ही स्वतन्त्र हो गया, परन्तु उस समय यह आशंका थी कि यदि भारतीय जनता का निःशस्त्रीकरण न किया गया होता तो सम्भवतः जनता ने सशस्त्र क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न बहुत पहले किया होता।

---

1 *A. C. Mazumdar :* Indian National Evolution, p. 28.
2 भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ४७।

आर्थिक नीति—लॉर्ड लिटन की आर्थिक नीति भी असन्तोष को पैदा करने वाली थी। उसने भारत-मन्त्री सेलिसबरी के दबाव में आकर लंकाशायर के उद्योग-पतियों के हितों की रक्षा के लिए विदेशी सूती कपड़े से आयात-कर हटा दिया। इससे भारत के सूती कपड़े के उद्योग को काफी हानि पहुँची। इससे भारत के कारीगर बेकार हो गये तथा इंगलैण्ड के उद्योगपतियों की जेबें भरने लगीं।

यह सब ऐसे कारण थे जिनसे जनता अंग्रेजी शासन से घृणा करने लगी। तथा उसके हृदय में सरकारी नीतियों का विरोध करने की एक प्रवल आकांक्षा जाग्रत हो गयी।

ग्लैडस्टन के नेतृत्व में बने उदारवादी मन्त्रिमण्डल ने लार्ड रिपन को सन् १८८० में भारत का वायसराय बनाकर भेजा। वे अत्यन्त धार्मिक तथा उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। भारत में आते ही उन्होंने महारानी विक्टोरिया की घोषणा के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का प्रयास किया। लॉर्ड रिपन ने भारत में आकर सबसे पहले अफगानिस्तान के युद्ध को समाप्त किया तथा ऐसी शर्तों पर सन्धि की जिससे इंगलैण्ड की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इससे भारत को युद्ध के आर्थिक भार से भी मुक्ति मिली। लॉर्ड रिपन का दूसरा प्रशंसनीय कार्य 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' को रद्द करना था। उसने मैसूर के हिन्दू राजा को अपनी परम्परा से प्राप्त राजगद्दी पर विठाया।[1] उसने नमक-कर घटा दिया तथा देश की आर्थिक दशा को सुधारने का प्रयास किया। इन सब कार्यों से भी अधिक प्रसिद्ध कार्य स्थानीय शासन का पृथक् संगठन था। इन सब बातों से भारतीय शिक्षित वर्ग अत्यन्त प्रभावित हुआ तथा वह लार्ड रिपन का गुणगान करने लगा। दिन-प्रति-दिन भारतवासियों में उसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी, परन्तु साथ ही साथ वह अँग्रेजों के बीच अप्रिय होने लगा। सन् १८८३ में अँग्रेजों का उसके प्रति रोष तीव्र हो गया, जबकि उन्होंने अपनी कौंसिल के कानूनी सदस्य सर सी० पी० इलबर्ट को आदेश दिया कि वह सन् १८७३ के दण्ड-विधान में परिवर्तन करें। अब तक प्रेसीडेन्सी शहरों को छोड़ कर अन्यत्र अंग्रेज अभियुक्तों पर लगे अभियोगों की सुनवायी केवल अंग्रेज न्यायाधीश ही कर सकते थे। भारतीय न्यायाधीश किसी अंग्रेज की फौजदारी का मुकदमा नहीं कर सकता था जबकि इस समय तक कई भारतीय जज इतने ऊँचे पद पर पहुँच गये कि वह सेशन जज की कुर्सी पर बैठ सकें। लार्ड रिपन ने इसे महारानी विक्टोरिया की घोषणा के विरुद्ध समझा तथा इसीलिए संशोधन प्रस्तुत कराया। इससे अँग्रेजों में हाहाकार मच गया। उन्होंने इसे 'काला कानून', 'कुत्सित इलबर्ट,

लार्ड रिपन का शासन व इलबर्ट बिल विवाद

---

१ हैदरअली ने मैसूर के राजा को पदच्युत करके अपनी सल्तनत कायम की। उसके पुत्र टीपू ने सन् १७९९ में अँग्रेजों से हार जाने पर मार्क्विस वैलेजली ने राजा को पुनः पदारूढ़ कर दिया, परन्तु सन् १८३२ में कम्पनी के शासन के कुप्रबन्ध का वहाना करके राजा को हटा दिया था।

बिल' आदि कहा तथा असन्तोषसूचक प्रस्ताव इंगलैण्ड की सरकार को भेजा। अंग्रेजों ने योरोपियन डिफेन्स एसोसिएशन का निर्माण किया, जो विधेयक के खिलाफ आवाज उठाये। अंग्रेजों का कहना था कि श्वेत जाति का अपमान करने के लिए काले भारतीय कड़ी से कड़ी सजा देंगे। वायसराय के गवर्नमेण्ट हाउस के फाटक तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर खुले-आम अपमान किया गया गया।[1] सर हेनरी काटन का कहना है कि कलकत्ते के कुछ अंग्रेजों ने यह भी षड्यन्त्र रचा कि सरकारी भवन के सन्तरियों को वश में करके लार्ड रिपन की मुश्कें बाँध कर इंगलैण्ड वापस भेज दिया जाय। उनका यह भी कहना है कि यह सब बंगाल के गवर्नर तथा पुलिस कमिश्नर की जानकारी में हुआ।[2] अंग्रेज अब वायसराय की खुले-आम बुराई करने लगे। पहले तो इंगलैण्ड की सरकार ने उस पर ध्यान न दिया, परन्तु जब असन्तोष बढ़ गया, तब अँग्रेजी सरकार ने रिपन को वापस बुलाने का विचार किया। इलबर्ट बिल में काट-छाँट करके अब ऐसी व्यवस्था की गयी कि केवल भारतीय जिलाधीश तथा सेशन जज ही योरोपियनों के मुकद्दमों की सुनवायी कर सकें, परन्तु अपराधी अपने मुकद्दमों में जूरी की नियुक्ति की माँग कर सकते थे जिसके कम से कम आधे सदस्य अंग्रेज हों। इस घटना ने शिक्षित भारतवासियों को इस बात का अनुभव करा दिया कि अँग्रेजों के हृदयों में भारतवासियों के लिए बहुत अधिक अंश तक विष भरा हुआ है। डाँडवेल के मतानुसार इस बिल ने भारतीयों को शिक्षा दी तथा सावधान किया। उन्हें इस बात की आवश्यकता महसूस होने लगी कि किसी अखिल भारतीय संस्था का निर्माण किया जाये जो पूर्ण रूप से राजनीतिक हो। हेनरी काटन का कहना है : इस बिल के विरोध में किये गये योरोपियनों के आन्दोलन ने "भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को जितनी एकता प्रदान की, उतनी तो बिल पारित होकर भी प्रदान नहीं कर सकता था।'[3] ए० सी० मजुमदार का कहना है कि योरोपियनों के आन्दोलन ने भारतीयों को "यह भी अनुभव करा दिया कि यदि राजनीतिक प्रगति वांछनीय है तो केवल एक राष्ट्रीय सभा द्वारा ही सम्भव है। इस सभा का सम्बन्ध विभिन्न प्रान्तों की स्वतन्त्र राजनीति में न होकर देश की एक व्यापक राजनीति से ही होना चाहिए।[4] सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है कि यह एक आँख खोलने वाली घटना थी जिसने हमारी वास्तविक स्थिति का नग्न प्रदर्शन कर दिया जिसे देखकर कोई स्वाभिमानी भारतवासी चुप नहीं रह सकता था। जो इसका महत्त्व समझते थे उनके लिए यह देश भक्ति की पुकार थी। इसी आकांक्षा से विभिन्न प्रान्तों में अनेक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की गयी तथा उन्होंने कांग्रेस की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

---

1 *Cotton* : Indian and Home Memories, pp. 179-180.
2 *Ibid.*
3 *Cotton* . New India ; pp. 3.
4 *A. C. Mazumdar* : Indian National Evolution, p. 39.

कांग्रेस की स्थापना

जब देश में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष की भावना तीव्र हो गयी तो कुछ विचारकों के हृदय में एक अखिल भारतीय संस्था की स्थापना करने की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। इसके पूर्व भी विभिन्न प्रान्तों में अनेक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी। सन् १८६६ में दादाभाई नौरोजी ने ईस्ट इंडिया एसोनियेशन की स्थापना की तथा सन् १८७० में रानाडे ने 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा संस्थापित इंडियन एसोसियेशन की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। लॉर्ड लिटन के प्रतिगामी शासन ने अप्रत्यक्षरूप में इस संस्था को जितना अधिक बल दिया, उतना सम्भवतया यदि कई वर्षों तक राजनीतिक आन्दोलन किया जाता तो भी सम्भव न होता। इस संस्था ने बंगाल के शिक्षित नवयुवकों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया। इस संस्था के उद्देश्य सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में निम्न थे :

प्रारम्भिक प्रयत्न

(१) देश में सबल तथा सतर्क जनमत का निर्माण ;

(२) समान राजनीतिक उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं के आधार पर भारत की विभिन्न जातियों का एकीकरण ;

(३) हिन्दू-मुसलमानों के मध्य मैत्री भावना की स्थापना करना ; तथा

(४) तत्कालीन सार्वजनिक आन्दोलनों में किसानों का सहयोग प्राप्त करना।

इस बात की भी चर्चा ऊपर की जा चुकी है कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को इस संस्था को सिविल परीक्षा की उम्र, जो कम करदी गयी थी, पुनः बढ़वाने में अद्वितीय सफलता मिली थी। इलबर्ट बिल के विरुद्ध भी जो विवाद अंग्रेजों ने चलाया था उसकी इस संस्था ने निन्दा की। सन् १८६५ में बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोशियेशन, सन् १८८१ में मद्रास में महाजन सभा तथा सन् १८८४ में नेशनल लीग की स्थापना भी की गयी। इसके अतिरिक्त भारत के अनेक नगरों में भी संस्थायें स्थापित की गईं। इनमें से आगरा परिषद, रिफायें आम एशोसिएशन, लखनऊ, हिन्दी समाज, इलाहाबाद, अंजमन इस्लामिया, फीरोजपुर, भ्रातृीय सभा, डेरा इस्मायलखां, पीपुल्स एसोसिएशन, ढाका तथा शिलांग एसोसिएशन उल्लेखनीय हैं।[1]

इन अनेक संस्थाओं ने प्रान्तीय स्तर पर राष्ट्रीयता की भावना जगाने में तथा कांग्रेस की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए बहुत काम किया। कांग्रेस की स्थापना का विचार सर्वप्रथम मि० एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम के मस्तिष्क में आया जो कि एक अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी थे। डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैय्या का मत है कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस की

कांग्रेस के संस्थापक मि० ह्यूम

1 *P. N. Chopra* : The genesis of the Congress, The Hindustan Times, Aug. 15, 1958).

स्थापना 'आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से संयोग' तथा राजनीतिक दासता की अनुभूति' का परिणाम था तथा यह संस्था "राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रतिपादन करने वाली संस्था भी थी ।"[1]

मिस्टर ह्यूम अत्यन्त उदारवादी विचारों के थे तथा शासन की अनुदारपूर्ण तथा स्वार्थी नीति देख कर उन्हें बहुत दुःख होता था। इसी मनोभाव का प्रदर्शन उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालयों के ग्रेजुएटों के नाम एक खुले पत्र में १ मार्च, सन् १८८३ को किया। उन्होंने लिखा--

"प्रत्येक राष्ट्र ठीक वैसी ही सरकार प्राप्त कर लेता है जिसके कि वह योग्य होता है। यदि आप लोग, जो देश की आशाओं के केन्द्र हैं, तथा उच्च शिक्षा प्राप्त किए हैं, अपने सुख-चैन तथा स्वार्थ को त्याग कर स्वाधीनता प्राप्त करने के काम में नहीं लग सकते, तो हमें मानना पड़ेगा कि लोग, जो आपके मित्र हैं, भूल में हैं; तब मानना पड़ेगा कि आपकी भलाई के सम्बन्ध में लॉर्ड रिपन की जो आकांक्षाएँ थीं वह निष्फल होकर केवल हवाई कल्पनाएँ सिद्ध हो गयीं; तब कहना होगा कि उन्नति की सब आशाएँ व्यर्थ हैं तथा भारत उसी प्रकार के शासन के योग्य है, जो उसे मिला हुआ है।" उन्होंने पचास ऐसे व्यक्तियों की माँग की जो सच्चे, निस्स्वार्थ, आत्मसंयमी व नैतिक साहस रखने वाले तथा दूसरों का हित करने की उत्कट भावना रखने वाले हों। मि० ह्यूम ने अपने पत्र के अन्त मे कहा, "आपके कन्धों पर रक्खा हुआ जुआ तब तक विद्यमान रहेगा, जब तक आप इस ध्रुव सत्य को समझकर उसके अनुसार कार्य करने को उद्यत न होंगे कि आत्म-बलिदान तथा निःस्वार्थ कर्म ही स्थायी सुख तथा स्वतन्त्रता के अचूक पथ-प्रदर्शक हैं।"

मिस्टर ह्यूम की यह अपील व्यर्थ न गयी। बम्बई व कलकत्ते के जागरूक नेता सचेत हो परस्पर संगठित होने का यत्न करने लगे। फलतः सन् १८८४ के अन्त में 'इण्डियन नेशनल यूनियन' नामक एक संस्था की स्थापना हुई जिसका केन्द्र बम्बई रक्खा गया। इस यूनियन के संचालकों ने निश्चय किया कि सन् १८८५ के दिसम्बर मास में भारत-भर के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया जाए जो राजनीतिक समस्याओं पर विचार करे।

मिस्टर ह्यूम अत्यन्त व्यवहार-कुशल थे। उनकी भावना थी कि जहाँ यह संगठन भारतीयों के अधिकारों के लिए दृढ़ होकर लड़े, वहीं यह अंग्रेजी सरकार के प्रति वफादार हो। वह नहीं चाहते थे कि प्रारम्भ से ही विदेशी शासन इस संस्था को संशय की दृष्टि से देखने लगे। इसलिए उन्होंने अपनी योजना तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डफरिन के समक्ष रक्खी तथा उनकी सम्मति माँगी। मिस्टर ह्यूम का यह भी प्रस्ताव था कि वार्षिक सम्मेलनों में उस प्रान्त का गवर्नर सभापति का आसन ग्रहण करे, जिस प्रान्त में सम्मेलन हो रहा हो। क्योंकि ऐसा होने से सरकारी वर्ग तथा गैर-सरकारी राजनीतिज्ञों दोनों ही वर्गों के मध्य घनिष्ठ सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध

1. The History of Congress. p. 17.

स्थापित होगा। लॉर्ड डफरिन ने ऐसी योजना को पसन्द किया तथा मिस्टर ह्यूम को परामर्श दिया कि "यह अच्छा होगा तथा इसमें शासक व शासितों—दोनों का हित है कि यहाँ के राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष अपना सम्मेलन करें तथा सरकार को यह बताया करें कि शासन में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं तथा उसमें क्या-क्या सुधार किए जाएँ।" लॉर्ड डफरिन इंगलैण्ड के विरोधी दल के समान ही इस संगठन को चाहते थे, क्योंकि ऐसा होने से अंग्रेजों को, जो इस देश में अपनी शासन नीतियों के सम्बन्ध में उठने वाले विचार एवं प्रतिक्रियाओं से अनभिज्ञ थे, ज्ञात हो जाता कि क्या सुधार अपेक्षित हैं। परन्तु गवर्नरों के सभापति बनने के पक्ष में उन्होंने सलाह न दी, क्योंकि इससे कई प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों के पैदा होने का भय था तथा उनकी उपस्थिति में लोग शासन की त्रुटियों को बताने में हिचक सकते थे। वायसराय का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद मिस्टर ह्यूम इंगलैण्ड गए तथा वहाँ उन्होंने अनेक उदारवादी नेताओं तथा संसद-सदस्यों से परामर्श किया। उन लोगों ने इस योजना को पसन्द किया तथा वहाँ भी एक समिति का निर्माण किया गया जो कालान्तर में 'इण्डियन पार्लियामेण्ट्री कमेटी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके सदस्यों से पार्लियामेण्ट का निर्वाचन लड़ने के पूर्व यह शपथ ले ली जाती थी कि न केवल वह भारत की सहायता करेंगे वरन् वह भारतीय मामलों में संसद में रुचि भी लेंगे।[1]

मिस्टर ह्यूम भारत वापस लौट आए तथा वह उत्साहपूर्वक कांग्रेस के पहले अधिवेशन की तैयारी में संलग्न हो गए।

कांग्रेस की स्थापना में अंग्रेजों का सहयोग

सामान्यतः विचारकों की धारणा है कि मिस्टर ह्यूम के मस्तिष्क में कांग्रेस की स्थापना का विचार इस कारण आया कि देश में शासन-विरोधी भावना फैल रही थी तथा वह डर रहे थे कि कहीं भयानक विस्फोट न हो जाए। क्योंकि उनकी आस्था उदारवादी सिद्धान्तों में थी, इस कारण वह यह भी चाहते थे कि जनता की क्रान्तिकारी भावना को मोड़कर वैधानिक मार्ग की ओर ले आना चाहिए। अन्य शब्दों में कांग्रेस की स्थापना भारत में ब्रिटिश शासन की रक्षा करने के उद्देश्य से हुई थी। मिस्टर ह्यूम ने अपने मित्र सर ऑकलैण्ड कॉलविन को यह विचार बताते हुए कहा कि "भारत में असन्तोष की बढ़ती हुई शक्तियों से बचने के लिए एक रक्षा-नली (safety valve) की आवश्यकता थी तथा कांग्रेस से बढ़कर रक्षा-नली कोई दूसरी वस्तु नहीं हो सकती थी।"[2] उन्होंने जनता के असन्तोष रूपी क्रान्ति के विस्फोट को रोकने के लिए ही यह प्रयत्न

---

1 *Pattabbi Sitaramayya* : op. cit., pp. 25-26.

2 "Mr. Hume told his friend Sir Auckland Colvin that he had advanced the scheme, as a safety valve for the escape of great and growing forces generated by our own actions." (Wedderburn *A. O. Hume, p. 71*)

किया था कि कहीं सन् १८५७ की भाँति भारत में पुनः रक्तपात न मच जाये। लाला लाजपतराय ने 'यंग इण्डिया' में लिखा है कि कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी साम्राज्य को खतरे से बचाना था, न कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करना। उनके शब्दों में इसकी स्थापना के पीछे, "ब्रिटिश साम्राज्य का हित प्रमुख था तथा भारत का गौण। कोई यह नहीं कह सकता कि कांग्रेस ने इस उद्देश्य का पालन नहीं किया।"[1] डॉक्टर नन्दलाल चटर्जी ने अपने एक लेख में कहा है, "मि ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना का विचार उस समय देश के सम्मुख प्रस्तुत किया, जबकि भारत पर रूसी आक्रमण का विशेष भय था, अतः यह स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य भारतीय आन्दोलन को ठीक दिशा में परिवर्तित कर देना तथा इस देश में रूसियों के हथकण्डे तथा शरारतें रोकना था.......जब रूसी आक्रमण का भय समाप्त हो गया तो भारत सरकार का व्यवहार कांग्रेस के प्रति एकदम बदल गया।" विलियम वेडरबर्न का भी मत है कि ह्यूम साहब की यह योजना क्रान्ति का भय दूर करने तथा भारतीयों में उमड़ती राष्ट्रीयता की भावना को दूर करने के उद्देश्य से बनायी गयी थी। रजनी पामदत्त का मत है कि ऐसी संस्था की स्थापना करना सरकार की एक पूर्व निश्चित गुप्त योजना के अनुसार थी।[2]

विचारकों के उपरोक्त आक्षेप कुछ अंशों में सत्य हो सकते हैं परन्तु इस मत में पूर्ण सत्यता नहीं दिखाई देती कि कांग्रेस का उद्देश्य केवल ब्रिटिश शासन की रक्षा करना था। जिन १७ लोगों ने ह्यूम साहब के साथ मिलकर इस संगठन की स्थापना करना निश्चित किया था (यह सन् १८८४ में अदयार में थियोसोफिकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित हुये थे), उनमें दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि भी थे। यह सम्भव नहीं कि इन लोगों से अँग्रेजी शासन अपनी बात मनवाने में सफल हुआ होगा तथा उन्होंने इस संस्था की स्थापना करते समय अपने देश के हित का कुछ भी ध्यान न रक्खा होगा। इस सम्बन्ध में श्रीमती एनी बीसेंट को, जिन १७ व्यक्तियों ने इसकी स्थापना करने का निश्चय किया, उनकी नीयत में

---

1. Young India, pp. 126-133.
2. "As is well-known, the National Congress, while arising from the preceding development and beginnings of activity of the Indian middle class, was brought into existence as an organization through the initiative and under the guidance of an Englishman. More than that what isless universally known the National Congress was infact brought into being the thorough initiative and under the guidance of direct British government policy, on a plan secretely prearranged with the Viceroy, as an intended weapon for safe generating British rule against the rising forces of popular unrest and anti-British feeling." (India To-day, p. 289.)

पूर्ण सच्चाई तथा विश्वास प्रतीत होता है । उनका कहना है कि यह सम्भव है कि मि० ह्यूम तथा वेडरबर्न के हृदय में ब्रिटिश शासन को बचाने की भावना हो तथा उन्होंने कांग्रेस की स्थापना एक रक्षा-नली के रूप में की, पर यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि दादाभाई नौरोजी, उमेशचन्द्र बनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे, फीरोजशाह मेहता आदि का भी यही दृष्टिकोण था तथा यह सब नेता इन दोनों अँग्रेजों के हाथ में साधन मात्र थे। उनका कहना है, "निश्चय ही भारत के महान् धर्मों के प्रति लोगों के हृदयों में भरे हुए नवीन अभिमान का स्पंदन, भविष्य में भारत के अतीत के ही अनुरूप गौरव प्राप्त करने की आशा, यह विश्वास कि राजच्युत पूर्व सदैव ही पश्चिमी राष्ट्रों का अनुगामी न रहेगा तथा यह भावना कि अतीत के विशाल साम्राज्यों का पोषक एशिया पुनः राजदण्ड पकड़ने के लिए हाथ बढ़ावेगा—इस स्वप्न की प्रेरणा पाकर यह स्वप्नदर्शी परामर्श करने बैठे होंगे।" मिस्टर ह्यूम के सम्बन्ध में लाला लाजपतराय का कहना है कि उनके हृदय में भारत की स्वतन्त्रता की गहरी भावना थी तथा उनका हृदय भारत की गरीबी तथा दुर्दशा पर रोता था। इन बातों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि कांग्रेस की स्थापना केवल ब्रिटिश साम्राज्य की दृढ़ता के लिए नहीं हुई थी। जिस डफरिन ने प्रारम्भ में कांग्रेस की स्थापना के विचार का स्वागत किया था, उसने दो वर्ष उपरान्त ही कहा कि यह जनता के 'सूक्ष्म-अल्पमत' (microscopic-minority) का प्रतिनिधित्व करती है। वेलेन्टाइन शिरोल ने इसे साम्प्रदायिक हिन्दू नेताओं की प्रवक्ता बताया। कांग्रेस के बाद के अधिवेशनों में भी शासन की नीतियों की तीव्र निन्दा की गयी जिसने सरकार को कांग्रेस का विरोधी बना दिया। इन सब बातों के आधार पर यह कहना गलत होगा कि कांग्रेस अँग्रेजी साम्राज्य की पृष्ठपोषक थी।

२

कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप—उदारवादी राष्ट्रीयता

कांग्रेस का इतिहास भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास है। सन् १८८५ में उसका जो प्रथम अधिवेशन हुआ था, वह थी एक छोटी-सी चिनगारी, जिसने सूखे जंगल में पड़ी चिनगारी के समान एक भयंकर दावाग्नि का रूप धारण कर लिया। यह किसको ज्ञात था कि बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज में २८ दिसम्बर, सन् १८८५ को ७२ प्रतिनिधियों ने जिस बीज को बोया, वह ६२ वर्षों तक निरन्तर असंख्यों देशभक्तों द्वारा अपने रक्त से सींचा जाकर एक अपूर्व अहिंसात्मक सफल क्रान्ति के रूप में परिणित होगा। 'लन्दन टाइम्स' के संवाददाता ने इस अधिवेशन के सम्बन्ध में लिखा : "मद्रास से लाहौर तथा बम्बई से लेकर कलकत्ता तथा सारे देश का प्रतिनिधित्व था। जब से सृष्टि की रचना हुई है तब से अब तक यह प्रथम अवसर था कि सारे भारतवासी एक राष्ट्र के रूप में एक साथ एकत्रित हुए।" तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन ने भी जब ह्यूम साहब की कांग्रेस की योजना की सराहना की थी तो उन्हें भी यह आभास न था कि "उसकी जाति की अदूरदर्शिता भरी हुई नीति उन थोड़े-से अँग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों के आन्दोलन रूपी पवन को उत्तेजित करके कुछ वर्षों में झंझावत का रूप दे देगी।"[1] जिस समय कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ, उसमें सम्मिलित ७२ प्रतिनिधियों ने अपने आपको ही प्रतिनिधि चुन लिया, परन्तु अगले अधिवेशनों में प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि होती रही। दूसरे, तीसरे या चौथे अधिवेशन में क्रमशः ४३६, ६०७ तथा १२४८ प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा इसने एक अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया। कांग्रेस की प्रगति के सम्बन्ध में पट्टाभि सीतारमैय्या का मत है, "जिस तरह एक बड़ी नदी का मूल एक छोटे-से सोते से होता है, उसी प्रकार महान् संस्थाओं का प्रारम्भ भी बहुत साधारण होता है। जीवन के प्रारम्भ में वह अत्यन्त वेग के साथ दौड़ती है, परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापक होती जाती है त्यों-त्यों उनकी गति

1. इन्द्र विद्यावाचस्पति, भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ६५।

मन्द किन्तु स्थिर होती जाती है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों उनमें सहायक नदियाँ मिलती जाती हैं तथा वे उसको अधिकाधिक सम्पन्न बनाती जाती हैं। यही उदाहरण हमारी कांग्रेस पर भी लागू होता है।[1] पंडित मदन मोहन मालवीय ने कांग्रेस के सम्बन्ध में कहा था "भारत ने अपनी आवाज इस महान संस्था में पायी।"

कांग्रेस के इतिहास के तीन काल

कांग्रेस का इतिहास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम काल सन् १८८५ से १९०५ तक का है। इस काल में कांग्रेस की नीति उदारवादी रही। इसके नेताओं ने ब्रिटिश सम्राट के प्रति विश्वास तथा सहयोग की नीति अपनायी तथा कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं को यह विश्वास था कि वह याचना, स्मरण-पत्रों तथा खुशामद से भारतीयों को राजनीतिक अधिकार दिलाने में सफल होंगे। सन् १८९२ का कौंसिल एक्ट उदारवादियों की एक महान् विजय थी। दूसरा काल सन् १९०६ से १९१९ का है। इन १३ वर्षों में कांग्रेस के भीतर उग्रवाद तथा धार्मिक पुनरुत्थान की जागृति हुई। उग्रवादी सरकार का रुख देखकर यह समझ गए थे कि प्रार्थनाओं अथवा याचना के द्वारा भारत के राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं की जा सकती थी। उग्रवादियों ने यह कहा कि भारतीयों को स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी माँगें पूरी करानी चाहिये। सन् १९०७ में सूरत विच्छेद हुआ, जिसमें कांग्रेस दो पक्षों—गरम तथा नरम दल में बँट गयी। इन दोनों दलों के मध्य समझौता केवल सन् १९१५ में ही हो सका। इस काल में कांग्रेस ने मौलिक राजनीतिक सुधारों की माँग की तथा मुसलमानों ने, जो अब तक कांग्रेस का साथ देते आये थे, कांग्रेस को छोड़कर अपनी अलग संस्था बना ली। कांग्रेस के इतिहास का तीसरा काल सन् १९२० से १९४८ तक है। यह युग 'गांधी युग' भी कहलाता है, क्योंकि गांधीजी ही राजनीतिक क्षेत्र में केन्द्र बिन्दु रहे। उन्हीं के नेतृत्व में सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों के बल पर हमने स्वतन्त्रता प्राप्त की। सन् १९१८ में नरम दल के लोग कांग्रेस से पृथक् हो गए तथा उन्होंने अपनी अलग संस्था 'आल इण्डिया लिबरल फेडरेशन' बना ली। इस काल में हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव अपने चरम-स्तर पर पहुँच गया। मि० जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने 'पाकिस्तान'

---

2. Great institutions have always had small beginnings, even as the great rivers of the world start as their streams. As the commencement of their Career and course. they progress rapidly, and as widen, became slower and steadier. By the confluence of their various tributaries, they are enriched as they flow on, both in volume and content. The evolution of Indian National Congress presents the same phehomenon." *B. Pattabbhi Sitaramayya,* (The History of Congress. p. 29.)

की मांग की तथा उसने सफलता भी प्राप्त की, जिसके फलस्वरूप भारतवर्ष का विभाजन हुआ।

कांग्रेस—एक राष्ट्रीय संगठन

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सच्चे अर्थों में एक राष्ट्रीय संस्था रही है इसने किसी भी जाति-विशेष, वर्ग-विशेष अथवा किसी विशेष हित का प्रतिनिधित्व नहीं किया है, वरन् समस्त भारतीयों के हितों का प्रतिनिधित्व करके इस बात को सिद्ध किया है कि यह संस्था वास्तव में एक व्यापक दृष्टिकोण रखने वाली संस्था है। प्रारम्भ में इस संस्था को अंग्रेजों व सभी जातियों के प्रमुख व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त था। मि० ह्यूम, सर विलियम वेडरबर्न तथा सर हेनरी कॉटन ने इस संस्था की बड़ी सेवा की। इसके प्रथम अधिवेशन के सभापति उमेशचन्द्र बनर्जी थे, जो कि एक भारतीय ईसाई थे। दूसरे अधिवेशन की अध्यक्षता दादाभाई नौरोजी ने की, जो पारसी थे, तीसरे अधिवेशन के अध्यक्ष एक मुसलमान बदरुद्दीन तैय्यबजी थे। चौथे तथा पांचवें अधिवेशन के अध्यक्ष अंग्रेज थे—जार्ज यूल तथा सर विलियम वेडरबर्न। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कांग्रेस की बड़ी सेवा की तथा वह दो बार सन् १८९५ तथा १९०२ में अध्यक्ष बने। महाराष्ट्र के नेताओं ने भी इस संस्था को सहयोग दिया। गोपाल कृष्ण गोखले सन् १९०५ में इस संस्था के अध्यक्ष बने। मद्रास के आनन्द चार्लू तथा पंजाब के लाला लाजपतराय ने कांग्रेस की अमूल्य सेवाएँ कीं। इस प्रकार से ही कांग्रेस की स्थापना से ही लगभग सभी प्रान्तों के लोगों ने, जो कि विभिन्न धर्मों के अनुयायी थे, कांग्रेस की सेवा कर इसमें संकीर्णता की भावना न उपजने दी। इसके वार्षिक अधिवेशन भी विभिन्न प्रान्तों में होते रहे। कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप को महात्मा गांधी ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :—

"वास्तविक अर्थों में यह राष्ट्रीय है। यह किसी विशेष जाति, वर्ग अथवा हित की प्रतिनिधि नहीं है। यह समस्त भारतीय हितों तथा सभी वर्गों की प्रतिनिधि होने का दावा करती है। मेरे लिए यह बताना सबसे अधिक प्रसन्नता की बात है कि उसकी उपज आरम्भ में एक अंग्रेज के मस्तिष्क में हुई। एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम को कांग्रेस के पिता के रूप में हम जानते हैं। दो महान् पारसियों फीरोजशाह मेहता तथा दादाभाई नौरोजी ने, जिन्हें सारा भारतवर्ष 'वृद्ध पितामह' कहने में हर्ष अनुभव करता है, इसका पोषण किया। आरम्भ में ही कांग्रेस में मुसलमान, ईसाई, ऐंग्लो-इण्डियन आदि सम्मिलित थे, वरन् मुझे यों कहना चाहिए कि इसमें सभी धर्मों, सम्प्रदायों तथा हितों का पूर्णता के साथ प्रतिनिधित्व होता रहा था।"[1]

---

1 Ref. Gandhiji's speech before the *Federal* Structure Committee at the Second Round Table Conference.

प्रारम्भ में एक मध्यवर्गीय संगठन तथा क्रान्तिकारी नहीं

कांग्रेस का कार्य-क्षेत्र प्रारम्भ में तो नगरों तक ही सीमित रहा तथा यह एक जनसंगठन न थी। यद्यपि यह देश की सभी जातियों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व करती थी, उनकी कठिनाइयों को दूर करने तथा उसको राजनीतिक अधिकार दिलाने की लालसा रखती थी, परन्तु वास्तव में यह एक मध्यवर्गीय तथा बुद्ध-जीवियो तथा व्यापारियों की संस्था रही। धीरे-धीरे इसके आदर्शों का प्रसार नगरों से ग्रामों में हुआ तथा कृपकों तथा श्रमिकों ने भी इसके आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया। प्रारम्भ में कांग्रेस एक क्रान्तिकारी संगठन भी नहीं थी। उसके नेता अत्यन्त उदारवादी विचारों के थे। अंग्रेजों की न्यायप्रियता में उनकी आस्था थी तथा वह अंग्रेजों के सहयोग से भारत की उन्नति करने में विश्वास रखते थे। वह भारतीयों को राजनीतिक अधिकार दिलाने के भी इच्छुक थे, परन्तु वह अपने उद्देश्य उग्र साधनों द्वारा नहीं, वरन् स्मृतिपत्रों, याचना, प्रतिनिधि मण्डलों द्वारा पूरा करना चाहते थे। प्रारम्भिक काल में कांग्रेस के उद्देश्य अत्यन्त नम्र थे तथा प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के विकास तथा उसमें भारतीयों को प्रतिनिधित्व मिले, इसी के लिए उसके नेता प्रयत्नशील थे। कांग्रेस की स्थापना से पूर्व, इसके संस्थापकों ने अप्रैल, सन् १८८५ में एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जिसमें कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य "राष्ट्र के प्रति सद्भावना रखने वाले कार्यकर्ताओं में निकटतम सम्बन्धों की स्थापना" बताया गया था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि "इसका अवान्तर उद्देश्य यह होगा कि 'नेटिव पार्लियामेण्ट' का अंकुर बन जाए, जो भविष्य में भली प्रकार पनपने पर इस आक्षेप का अकाट्य समाधान हो जाए कि भारत प्रतिनिधि-सत्तात्मक संस्थाओं के सर्वथा अयोग्य है।"

प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के कार्य

प्रथम अधिवेशन सन् १८८५

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन २८ से ३१ दिसम्वर सन् १८८५ तक पूना में होना था, पर वहाँ हैजा फैल जाने के कारण यह वहाँ न होकर बम्बई में हुआ। इसके अध्यक्ष उमेशचन्द्र बनर्जी थे तथा मन्त्री मि० ह्यूम। इस अधिवेशन में भाग लेने वालों में मुख्य थे—दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, दीनसा इदुलजी वाचा, नारायण गणेश चन्दावरकर, पी० आनन्द चार्लू, रहीमतुल्ला सयानी, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, एस० सुब्रह्मण्यम, अय्यर आदि। इसमें सरकारी अधिकारियों ने भी भाग लिया, जिनमें मुख्य हैं सर विलियम वेडरवर्न, श्री महादेव गोविन्द रानाडे व आगरा के लाला बैजनाथ। इसमें सरकारी कर्मचारियों के शामिल होने का मुख्य कारण यह था कि प्रारम्भ में सरकार इसे अविश्वास की दृष्टि से नहीं देखती थी। उमेशचन्द्र बनर्जी ने सभापति-पद से भाषण देते हुए इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि इसमें देश के सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि उपस्थित थे।

उन्होंने कहा "इससे पूर्व भारत भूमि पर इतना महत्वपूर्ण तथा विशाल सम्मेलन कभी नहीं हुआ था।" उन्होंने अपने भाषण में कांग्रेस के चार उद्देश्य बताए—

(१) साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के देशभक्तों में परिचय तथा मित्रता स्थापित करना,

(२) जाति, सम्प्रदाय तथा प्रान्त से सम्बन्ध रखने वाले भेदभावों को मिटा-कर, एक राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ करना;

(३) परस्पर परामर्श द्वारा वर्तमान समय की मुख्य सामाजिक समस्याओं पर सम्मति स्थिर करना ; तथा

(४) यह निश्चय करना कि आगामी बारह महीनों में उद्देश्यों की पूर्ति के लिये क्या-क्या साधन काम में लाए जावेंगे।

अपने भाषण में श्री बनर्जी ने कुछ आपत्तियों तथा आशंकाओं की भी चर्चा की, जो आरम्भ से ही कांग्रेस के सम्बन्ध में की जा रही थीं। लोगों के इस मत का विरोध करते हुए कि यह एक राजद्रोही संस्था होगी, उन्होंने कहा, "मैं सब उपस्थित सज्जनों के मत को प्रकट कर रहा हूँ, जब मैं कहता हूँ कि अंग्रेजी सरकार को मेरी ओर यहाँ बैठे हुए मेरे मित्रों की अपेक्षा अधिक गहरे तथा पक्के राजभक्त व्यक्ति मिलना असम्भव है।" उन्होंने अपने भाषण के अन्त में कहा—

"भारत की भलाई के लिए इंगलैण्ड ने बहुत कुछ किया है। उसके लिए सारा देश इंगलैण्ड का कृतज्ञ है। उसने हमें शान्ति दी, रेलवे दी तथा सबसे बढ़कर पश्चिमी शिक्षा दी, परन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। देश के निवासी ज्यों-ज्यों शिक्षा प्राप्त करेंगे, उनके हृदय में राजनीतिक उन्नति की इच्छा प्रबल होती जायगी। मैं समझता हूँ कि योरोप के ढंग की शासन-प्रणाली की अभिलाषा चाहना राजद्रोह नहीं है। हमारी केवल यह इच्छा है कि शासन का आधार अधिक विस्तृत हो तथा उसमें देशवासियों को उचित तथा न्यायपूर्ण भाग प्राप्त हो। मेरा विश्वास है कि हम जो कुछ चर्चा करेंगे, वह शासन तथा प्रजा दोनों के लिए लाभदायक होगी।"

सभापति के भाषण के उपरान्त कांग्रेस ने निम्नलिखित आशय के प्रस्ताव स्वीकृत किए—

(१) भारत के शासन की जांच के लिए एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति की जाए ;

(२) इंगलैण्ड में बनी हुई सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की कौंसिल के वर्तमान संगठन को तोड़ दिया जाए ;

(३) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों का विस्तार तथा सुधार किया जाए। उसमें प्रश्न पूछने तथा बजट पास करने की प्रथा जारी की जाए ;

(४) सिविल सर्विस की परीक्षा भारत तथा इंगलैण्ड, दोनों देशों में एक साथ हो, तथा परीक्षार्थियों की आयु बढ़ा दी जाए ;

(५) सैनिक व्यय में कमी हो ;

(६) इंगलैण्ड से आने वाले कपड़े पर आयात कर, जो हटा दिया गया था, पुनः लगाया जाय ;

(७) उत्तरी वर्मा को दक्षिणी वर्मा से मिला लेने तथा उसको भारत में सम्मिलित करने की नीति का विरोध किया गया ;

(८) यह भी निश्चय किया गया कि उपरोक्त सभी प्रस्ताव देश की अन्य राजनीतिक संस्थाओं को भेज दिए जाएँ तथा उनसे निवेदन किया जाए कि वह भी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों का समर्थन कर उसे सरकार के पास भेजें, तथा

(९) अगला अधिवेशन कलकत्ते में २८ दिसम्बर को होना निश्चय हुआ।

इस अधिवेशन के सभापति के भाषण तथा स्वीकृत प्रस्तावों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगों ने कांग्रेस की संस्थापना की, वह अंग्रेजी सरकार तथा इंगलैण्ड के राजमुकुट की न्याय-परायणता पर पूर्ण विश्वास रखते थे। वह सच्चे दिलों से राजभक्त थे ; उनकी राजभक्ति में कृत्रिमता न थी। उनकी मांगें वैधानिक थीं। अभी वह औपनिवेशिक स्वराज्य अथवा प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन के लक्ष्य से बहुत दूर थे। यह लोग इंगलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद करने की बात स्वप्न में भी न सोच सकते थे। महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में उनकी बहुत आस्था थी।

दूसरा अधिवेशन सन् १८८६

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार कलकत्ते में हुआ। इसके अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा मदनमोहन मालवीय भी इसी वर्ष कांग्रेस में सम्मिलित हुए। इस अधिवेशन में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या ४०६ थी तथा इसमें लगभग ४००० दर्शक भी उपस्थित थे। इसमें एक प्रस्ताव इम्पीरियल कौंसिल तथा प्रान्तीय कौंसिल के सम्बन्ध में स्वीकृत किया गया, जिसमें कहा गया कि इन संस्थाओं के कम से कम ५० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित हों, जो कि अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने थे। इस प्रकार प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्य का निर्वाचन तो म्युनिसिपल तथा स्थानीय बोर्डों, व्यापार संघों तथा विश्वविद्यालयों के द्वारा होना था तथा सर्वोच्च केन्द्रीय कौंसिल का निर्वाचन प्रान्तीय कौंसिलों द्वारा होना था। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि प्रान्तीय सरकारों को कौंसिलों के निर्णयों को अस्वीकृत करने का भी अधिकार प्राप्त हो, परन्तु जब कि प्रान्तीय कौंसिलों के निर्णय अस्वीकृत किये जाएँ तो उन्हें भी यह अधिकार प्राप्त हो कि वह प्रान्तीय सरकार के निर्णय के विरुद्ध अपील भारत सरकार से कर सकें तथा यदि भारत सरकार इम्पीरियल कौंसिल के किसी निर्णय को रद्द करे, तो कौंसिल 'हाउस ऑफ कॉमन्स' की 'स्थायी समिति' से अपील कर सकें। इसी अधिवेशन में यह मांग फिर दोहरायी गयी कि सिविल सर्विस की परीक्षा इग्लैण्ड तथा भारत में एक साथ हो तथा प्रान्तीय सेवाओं के लिए भी प्रतियोगिता हों। एक प्रस्ताव में इस बात पर बल दिया गया कि मुकद्दमों की सुनवाई के समय जूरी प्रथा को अधिक मान्यता दी

जाए तथा न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक हो कि वह जूरी के निर्णय के अनुसार अपना निर्णय घोषित करें। यह भी स्वीकृत हुआ कि भारतीयों को स्वयंसेवक के रूप में सेना में भरती होने का अवसर दिया जाए।

इसी अधिवेशन में यह भी निश्चित किया गया कि इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में एक 'डेपूटेशन' दादाभाई नौरोजी के नेतृत्व में वायसराय से भेंट करे। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन ने इस डेपूटेशन से मिलना भी स्वीकार किया। इन प्रस्तावों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस के सदस्य तत्कालीन शासन व्यवस्था से संतुष्ट न थे तथा वह प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के पक्ष में थे।

तीसरा अधिवेशन सन् १८८७

कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन मद्रास में बदरुद्दीन तैय्यबजी के सभापतित्व में हुआ तथा इसमें ६०७ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। तैय्यबजी कांग्रेस के प्रथम मुसलमान अध्यक्ष थे। इस अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष सर टी० माधवराव थे। उनका कहना था कि कांग्रेस 'ब्रिटिश शासन की महानतम विजय तथा ब्रिटिश राष्ट्र के लिए गौरव की वस्तु है।' मद्रास के गर्वनर ने भी प्रतिनिधियों को राज-भवन में प्रीतिभोज पर निमंत्रित किया। इस अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए, उनमें से निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं—

(१) सैनिक अफसरों की शिक्षा के लिए भारत में सैनिक विद्यालय की स्थापना हो ;

(२) शस्त्र कानून तथा शस्त्र रखने के नियमों में संशोधन किया जाए;

(३) इस अधिवेशन में पिछले अधिवेशन में स्वीकृत इम्पीरियल तथा प्रान्तीय कौंसिलों के सुधार करने के सम्बन्ध में पुनः प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। इसी अधिवेशन में एक सदस्य अर्डले नार्टन ने जिन्हें प्रायः उनके देशवासी छिपा राजद्रोही कहते थे इस दोषारोपण का, कि कांग्रेस एक राजद्रोही संस्था है बहुत ही उत्तम जवाब दिया। उन्होंने कहा—

"यदि अत्याचार का विरोध करना राजद्रोह हो, यदि यह कहना कि जनता का अपने देश के शासन में अधिकाधिक हाथ रहना चाहिए, राजद्रोह हो, यदि वर्ग अत्याचार का विरोध करना, दमन के विरुद्ध अपनी आवाज उठाना, अन्यायों का सामना करना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का समर्थन करना तथा उत्तरोत्तर किन्तु सदैव विकासशील सुधार के सामान्य अधिकार को प्रमाणित करना राजद्रोह हो, तो मैं निस्संदेह राजद्रोही हूं, तथा मुझे अपने को राजद्रोही कहलाने में अपूर्व प्रसन्नता होती है जब मैं आज अपने चारों ओर विराजमान राजद्रोहियों की गौरव-पूर्ण पंक्ति में स्वयं अपने को शामिल पाता हूँ।"[1]

---

1 *Chintamani* : Indian Politics Since the Mutiny, P. 41.

चौथा अधिवेशन सन् १८८८

कांग्रेस का चौथा अधिवेशन इलाहाबाद में जार्ज यूल, जोकि कलकत्ते के योरोपियन व्यापारियों के नेता थे, की अध्यक्षता में हुआ। इस बीच सरकार को कांग्रेस से यह भय होने लगा कि यदि कहीं इसकी लोकप्रियता तथा प्रगति में, जिस ढंग से विस्तार हो रहा था वैसा ही होता रहा, तो सरकार के लिए खतरा न उत्पन्न हो जाए। लॉर्ड डफरिन ने भी कहा, "अब कांग्रेस का सुझाव राजद्रोह की ओर गया है, और यह संस्था शिक्षित भारतीयों का नाममात्र का प्रतिनिधित्व करती है।" अंग्रेजी समाचार पत्रों में भी कांग्रेस-विरोधी विचार व्यक्त किये जाने लगे। ब्रिटिश नौकरशाही को भी इस वर्ष कांग्रेस के विरोध में मुसलमानों को संगठित करने में सफलता मिली। सर सैय्यद अहमद खां ने 'एंग्लो-मुसलिम डिफेन्स ऐसोसियेशन' की नींव इसी वर्ष डाली तथा अपने सहधर्मियों को कांग्रेस से पृथक रहने को कहा। सन् १८८८ में कांग्रेस का चतुर्थ अधिवेशन इलाहाबाद में करने स्वागत समिति को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। क्योंकि सर ऑकलैण्ड कालविन यह न चाहते थे कि कांग्रेस का अधिवेशन हो तथा उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि स्वागत समिति को अधिवेशन करने के लिए कोई स्थान न मिले। स्वागत समिति के अध्यक्ष पण्डित अयोध्यानाथ किसी भी प्रकार से, चाहे स्वयं उन्हें व्यय सहन करना पड़े, कांग्रेस अधिवेशन करने के पक्ष में थे। स्थान की समस्या दरभंगा के महाराजा ने बड़ी आसानी से हल कर दी। उन्होंने राजभवन के सामने ही इस कार्य के लिए एक बँगला खरीद लिया।[1] युक्त प्रान्त के गवर्नर को यह अपमानजनक प्रतीत हुआ तथा वह दौरे की आड़ लेकर इलाहाबाद के बाहर चला गया। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या १२४८ थी। श्री चिन्तामणि का कहना है कि पहले तीन अधिवेशनों की तुलना में यह अधिवेशन कहीं अधिक सफल रहा।[2] इसी वर्ष के बाद सरकार ने अपने कर्मचारियों को यह आदेश दे दिया कि वह कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित न हों। इस आदेश के जारी होने से भी कांग्रेस की लोकप्रियता पर कोई प्रभाव न पड़ा तथा वह उत्तरोत्तर बढ़ती रही। इस अधिवेशन में भी पिछले अधिवेशनों में स्वीकृत माँगें दोहराई गयीं। सरकार ने भारत की औद्योगिक उन्नति, कला-कौशल तथा शिक्षा के सम्बन्ध में ठोस कदम उठाए।

पाँचवां अधिवेशन सन् १८८९

कांग्रेस का पाँचवां अधिवेशन सन् १८८९ में बम्बई में सर विलियम वेडर-बर्न के सभापतित्व में हुआ। संयोगवश इस वर्ष उपस्थिति भी १८८९ ही थी। इंग्लैंड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चार्ल्स ब्रॉडला भी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। वह भारत में शासन-सुधार के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने इस अवसर पर

1. इसी स्थान पर सन् १८९२ में भी कांग्रेस अधिवेशन हुआ।
2. *Chintamani*, op. cit., pp. 42.

एक महत्वपूर्ण भाषण भी दिया।[1] उन्होंने ब्रिटिश संसद में भी एक बिल इण्डिया कौंसिल में सुधार करने के लिए प्रस्तुत किया था। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने भूमिकर सम्बन्धी नीति में सुधार करने के लिए एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया।

नवाँ अधिवेशन सन् १८९३

कांग्रेस का छठवां अधिवेशन कलकत्ते में फीरोजशाह मेहता, सातवां नागपुर में आनन्द चालू तथा आठवां इलाहाबाद में उमेश चन्द्र बनर्जी के सभापतित्व में हुआ। इन अधिवेशनों में प्रायः उन्हीं सब प्रस्तावों को दोहराया गया जो पहले स्वीकृत हो चुके थे। सन् १८९२ में कांग्रेस के प्रचार के ही कारण 'इण्डियन कौंसिलस एक्ट' पास हुआ तथा अब कांग्रेस ने पुनः यह मांग दोहराई कि सिविल सर्विस की परीक्षाएँ भारत तथा इंग्लैंड दोनों जगह हो। सन् १८९३ का अधिवेशन लाहोर में हुआ तथा दादाभाई नौरोजी दूसरी बार इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इसी बीच वह इंगलैंड के 'हाउस ऑफ कामन्स' के भी सदस्य निर्वाचित हो गये थे। जब वह भारत आए तो देश में उनका अपूर्व स्वागत किया गया। भारत में ऐसा स्वागत अब तक किसी व्यक्ति का नहीं किया गया था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में, "यह ऐसा स्वागत था जिसे देखकर राजे-महाराजे भी डाह करते।" इस अधिवेशन में बेगार की प्रथा का उन्मूलन, सूती कपड़े पर उत्पत्ति कर हटाने, स्वतन्त्र मेडीकल सर्विस की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत किए गए। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा सरकार के उस आदेश का भी विरोध किया गया, जिसके द्वारा जनता द्वारा चांदी के सिक्कों को स्वतन्त्र रूप से ढलवा सकने की व्यवस्था का निषेध किया गया था। एक अन्य प्रस्ताव कांग्रेस ने न्याय तथा शासन विभागों को पृथक करने के लिए एक क्रियात्मक योजना बनाने के सम्बन्ध में एक समिति की नियुक्ति की।

अन्य अधिवेशनों में स्वीकृत मुख्य प्रस्ताव

कांग्रेस के अन्य अधिवेशन प्रतिवर्ष होते रहे। सन् १९०६ तक कांग्रेस के अधिवेशनों में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के विकास पर बराबर बल दिया जाता रहा, यद्यपि अब तक इसने स्वराज्य की माँग को अपना लक्ष्य नहीं बनाया था। इसके अतिरिक्त इसके अधिवेशनों में अनेक प्रस्ताव स्वीकृत किए गए जो कि भारतीयों के जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित थे। इसके सन् १८९३ के अधिवेशन में सन् १८९२ के इण्डियन कौंसिलस एक्ट की भी निन्दा की गई। गोखले का मत था कि "व्यवस्थापिका सभाओं के सम्बन्ध में जो कानून बनाये गए थे, उनसे सुधार-योजना का उद्देश्य ही जानबूझ कर नष्ट कर दिया गया था।" दसवें अधिवेशन में कांग्रेस ने भारत में बने कपड़े पर उत्पत्ति कर लगाये जाने का

1. Mr. Brodlaugh said in the course of his memorable oration, "For whom should I work it not for the people, I will die of the people and Iknow no geographical or race limitations."

विरोध किया तथा एक प्रस्ताव द्वारा यह भी मांग की कि न्याय-विभाग के उच्च अफसर वकीलों में से नियुक्त किये जावें। इसी अधिवेशन में उपनिवेशों में बसे भारतीयों की स्थिति में उन्नति करने के लिए प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सन् १८९५ के अधिवेशन में इससे पिछले वर्ष केन्द्रीय कौंसिल में वकीलों के कानून के संशोधन करने के सम्बन्ध में पेश किए गए बिल की आलोचना की गई। इस संशोधन के स्वीकृत हो जाने पर वकीलों को जिलाधीशों तथा रेवेन्यू कमिश्नरों के आधीन रहना पड़ता तथा उन पर राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने पर रोक लग जाती। किसानों की कर्जदारी दूर करने के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। कांग्रेस के तेरहवें अधिवेशन में, जो अमरावती में शंकरन नायर के सभापतित्व में हुआ, कुछ प्रतिगामी कानूनों, जैसे बंगाल रेगुलेशन (सन् १८१८), मद्रास रेगुलेशन (सन् १८११) तथा बम्बई रेगुलेशन (सन् १८२७)[1] को रद्द करने की मांग की गयी। इसी अधिवेशन में 'इण्डियन पीनल कोड' की धारा १२४ ए तथा ५०५ में किये गये संशोधनों का भी विरोध किया गया। इसमें से पहली धारा राजद्रोह तथा दूसरी झूठी अफवाह फैलाने के सम्बन्ध में थी। पन्द्रहवें अधिवेशन (सन् १८९९) में लाला लाजपतराय की प्रेरणा पर शिक्षा तथा उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित समस्याओं पर विशेष विचार किया गया तथा सोलहवें अधिवेशन (सन् १९००) में दक्षिणी अफ्रीका के उपनिवेशों में भारतीयों के साथ किए जाने वाले हीन व्यवहारों का विरोध किया गया था। उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति न की जाने वाली नीति का विरोध किया गया। अगले वर्ष भी महात्मा गांधी ने अफ्रीका में प्रवास करने वाले भारतीयों की ओर से प्रार्थी के रूप में उन पर किये जाने वाले अन्यायों के सम्बन्ध में प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसी अधिवेशन में आसाम के चाय बागानों में काम करने वाले कुलियों की दशा में सुधार करने के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। अठारहवें अधिवेशन (सन् १९०२ में यह मांग की गई कि भारत में सेना पर होने वाले व्यय को केवल भारत पर न डालकर इंगलैंड तथा भारतवर्ष के बीच विभक्त किया जाना चाहिए। भारत में ब्रिटिश सैनिकों के वेतन में वृद्धि हो जाने के कारण सैनिक व्यय में ७,८६,००० रुपये वार्षिक की वृद्धि का कांग्रेस ने विरोध किया। सन् १९०४ में हुए बीसवें अधिवेशन में कर्जन की भारत विरोधी नीतियों का विरोध किया गया। कांग्रेस ने बंग-भंग के विरोध में प्रस्ताव स्वीकृत किया। इक्कीसवां अधिवेशन सन् १९०५ में गोपाल कृष्ण गोखले के सभापतित्व में हुआ। इसमें यह मांग की गयी कि भारत की सरकार के शासन व गतिविधि के सम्बन्ध में ब्रिटिश संसद द्वारा समय-समय पर यह जाँच की जानी चाहिए तथा भारतीय शासन में सुधार कर जनता का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

१. इसी वर्ष सरकार ने बम्बई रेगुलेशन के अन्तर्गत नाटू बन्धुओं को गिरफ्तार करके यह स्पष्ट कर दिया था कि ये कानून अभी जीवित थे तथा सरकार उनका मनमाना प्रयोग कर सकती थी।

इस अधिवेशन में सेना पर होने वाले व्यय तथा प्रवासी भारतीयों की हीन दशा में सुधार करने के सम्बन्ध में भी प्रस्ताव स्वीकृत किए गए ।

कांग्रेस के प्रति सरकार का दृष्टिकोण

यह पहले भी कहा जा चुका है कि कांग्रेस की स्थापना के समय तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन ने उसके शीश पर अपना वरद् हस्त रक्खा तथा प्रारम्भिक कुछ वर्षों में इसे सरकार का सहयोग प्राप्त रहा । द्वितीय अधिवेशन में सम्मिलित प्रतिनिधियों का स्वागत भी लार्ड डफरिन ने किया था। तीसरे अधिवेशन पर मद्रास में गवर्नर ने प्रतिनिधियों का राजभवन में सम्मान किया था तथा स्वागत समिति की मदद की थी।[1] परन्तु शनैः-शनैः कांग्रेस के सम्बन्ध में सरकार के रुख में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा । यू० पी० के गवर्नर सर ऑकलैण्ड कॉल्विन कांग्रेस के अत्यन्त विरोधी थे तथा उनका कहना था कि यह एक खतरनाक संस्था है जो अपने आलोचनात्मक व्यवहार से राजभक्त लोगों तथा राष्ट्रवादियों के निमित्त एक गहरी खाई बना रही थी तथा जो जनता के बहुमत का समर्थन प्राप्त करने का झूठा दावा करती थी ।[2] १८८८ में यद्यपि उन्होंने इलाहाबाद में कांग्रेस अधिवेशन न होने देने के भरसक प्रयत्न किए पर उनको मुँह की खानी पड़ी । सन् १८९१ में नागपुर में जब कांग्रेस अधिवेशन हुआ तो कमिश्नर मैक्डानल्ड ने कहा कि वह कांग्रेस में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों को कोई महत्व नहीं देते थे । इसका मुख्य कारण यह था कि बारम्बार इसके अधिवेशनों में शासन में सुधार तथा भारतीयों की सामाजिक तथा आर्थिक दशा में सुधार किए जाने के सम्बन्ध में काफ़ी बल दिया जा रहा था। लॉर्ड डफरिन, जिन्होंने मिष्टर ह्यूम को स्वयं परामर्श दिया था कि वह कांग्रेस का कार्यक्षेत्र केवल सामाजिक न रखकर राजनीतिक रक्खें, अब इसके कार्यों से भय खाने लगे । उनका कहना था कि एक समझदार मनुष्य यह कैसे सोच सकता है कि ब्रिटिश शासन, जो भारत की सुरक्षा एवं कल्याण के लिए ईश्वर तथा सभ्यता के समक्ष उत्तरदायी है, किस प्रकार, शासन की बागडोर अत्यन्त अल्पमत (microscopic minority) को सौंप दे । सरकार तथा अंग्रेजी समाचर-पत्र कांग्रेस को एक राजद्रोही संस्था घोषित करने लगे । कालान्तर में सरकार ने सरकारी कर्मचारियों को इसके अधिवेशनों में दर्शक के रूप में, भी सम्मिलित होने पर मनाही लगा दी ।[3] सन् १८९७ में ही 'इण्डियन पीनल कोड' में भी राजद्रोहात्मक भाषणों तथा कार्यों पर नियंत्रण रखने के लिए संशोधन किए गए । धीरे-धीरे समाचार-पत्रों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गए तथा सरकार ने काँग्रेस के विरोध में मुसलमानों को संगठित होने की प्रेरणा दी । यद्यपि सन् १८५७

1. *C. Y. Chintamani* : Indian Politics Since Mutiny. p. 37.
2. *Pattabbi Sitaramayya* : op. cit., pp. 107. 108.
3. *Ibid.*, p. 109.

के विद्रोह के पूर्व तथा इसके पश्चात् भारतीय मुसलमानों के प्रति सरकार नाराज रही थी, परन्तु जैसे-जैसे कांग्रेस की शक्ति का विस्तार होने लगा, सरकार मुसलमानों के प्रति अपनी नीति परिवर्तन करने लगी। इस प्रकार स्पष्ट रूप से सरकार ने हिन्दू-मुसलमानों के मध्य फूट डाल कर फायदा उठाने की नीति अपनायी। प्रारम्भ से ही सरकार ने कांग्रेस के कार्यों को राजद्रोहात्मक समझ कर उसका दमन करना आरम्भ कर दिया। इस दमन के कारण भी राष्ट्रीय चेतना पर्याप्त मात्रा में फैली। इस प्रकार सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील रही कि जहाँ तक सम्भव हो राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल डाला जाए।

उदारवादियों की मनोवृत्ति

कांग्रेस अपने प्रारम्भिक काल में पूर्णतया उदारवादियों के प्रभुत्व में थी। इनके विचार उग्रवादी अथवा क्रान्तिकारी बिल्कुल न थे, वरन् यह ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति प्रदर्शित करके वैधानिक साधनों द्वारा शासन में सुधार कराना चाहते थे। यह इस बात में विश्वास रखते थे कि इग्लैण्ड से सम्बन्ध रखे बिना भारत की राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक उन्नति करना असम्भव होगा। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उदारवादियों में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था, इनमें देश-प्रेम न था। यह लोग पक्के देशभक्त थे, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि इनके लिए किसी भी प्रकार के उग्र-साधनों का व्यवहार में लाना खतरनाक होता। सरकार प्रारम्भ में ही इनका दमन कर देती तथा इस प्रकार सम्भवतः राष्ट्रीयता का विकास इतनी जल्दी, इतना अधिक न हुआ होता। अधिकांश उदारवादी उच्च-वंशीय थे तथा पाश्चात्य शिक्षा का उन पर बहुत अंश तक प्रभाव पड़ा था। परन्तु इसके साथ ही वह अंग्रेजी शासन की बुराइयों से भी परिचित थे तथा उसे दूर कराने के लिए भी सरकार का ध्यान आकर्षित करते थे। इनके हृदयों में ब्रिटिश शासन के प्रति कृतज्ञता के भाव थे क्योंकि उसी के द्वारा उनमें शिक्षा का विस्तार हुआ था। इसी शिक्षा के द्वारा भारत में प्रजातन्त्रात्मक भावना फैली थी। इसके अतिरिक्त भारतीयों की सामाजिक उन्नति तथा सांस्कृतिक उन्नति भी अंग्रेजों के सम्पर्क से हुई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कहना था कि "इंगलैण्ड हमारा पथ-प्रदर्शक है।" कांग्रेस के ६ठवें अधिवेशन में सर फीरोजशाह मेहता ने कहा कि इग्लैण्ड तथा भारत में निकट सम्पर्क होना दोनों के ही लिए लाभप्रद है तथा चिरस्थायी रहेगा। यह लोग अंग्रेजी शासन को एक प्रकार का वरदान समझते थे जिसने भारत को अधोगति की दशा से उन्नति की दशा पर पहुँचाया तथा प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की माँग अंग्रेजों के शत्रु होने के रूप में नहीं अपितु साम्राज्य के शुभचिन्तक होने के नाते करते थे।[1] कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं की अंग्रेजी राजमुकट के प्रति इन्हीं

ब्रिटिश शासन के प्रति राज-भक्त होते हुए भी देशभक्त

1 *Raghuvanshi* : op. cit, pp. 66-65.

कारणों से गहरी भक्ति थी। कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन भी विक्टोरिया की जय-जयकारों से समाप्त हुआ था। दादाभाई नौरोजी भी कहा करते थे, आओ हम नम्र पुरुषों की तरह बोलें तथा यह घोषणा कर दें कि हम पूर्णरूप से राजभक्त हैं।" सरकार की उदारवादियों की मनोवृत्ति तथा शासन के प्रति भक्ति-भावना से भली-भाँति परिचित थी। समय-समय पर उसने उदारवादियों को पदवियों से सुशोभित किया। कुछ को गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का सदस्य तथा कुछ को अन्य उच्च पदों पर नियुक्त किया। सरकार इस बात से अच्छी तरह परिचित थी कि वह विदेशी है तथा समय-समय पर उसे इन्हीं कांग्रेसियों का मुँह ताकना पड़ सकता था। संक्षेप में, सरकार ने रियायतों के द्वारा अनेक प्रतिभासम्पन्न भारतीयों को अपनी ओर आकृष्ट कर रखा था। हमारे लिए उन तत्कालीन नेताओं के लिए जिन्होंने पदवियाँ व उच्च पद ग्रहण किए, यह कहना गलत होगा कि वह पद-लोलुप थे तथा इसी कारण वह सरकार के प्रशंसापात्र बने रहना चाहते थे। वह इसे अपनी योग्यताओं तथा प्रतिभाओं का उचित मूल्यांकन समझते थे।

अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास

उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था। डाक्टर पट्टाभि सीतारमैय्या का कहना है कि उदारवादी नेता इस बात पर विश्वास करते थे कि अंग्रेज न्यायप्रिय होते हैं तथा यदि उन्हें भारतीय समस्याओं का सही ज्ञान करा दिया जाए तो वे सच्चाई से कभी नहीं हटेंगे।[1] रहीमतुल्ला सयानी ने सन् १८९६ के अधिवेशन में घोषित किया था, "अंग्रेजों से से बढ़कर सच्चरित्र तथा सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाश के नीचे नहीं बसती।[2] फीरोजशाह मेहता भी इस बात पर विश्वास रखते थे कि अंग्रेज न्यायप्रिय होते हैं तथा वह भारतीयों की माँगों पर हमेशा सहानुभूतिपूर्ण विचार करेंगे। उदारवादियों को इस बात पर विश्वास था कि भारत में भी वह अपने यहाँ जैसी प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना करेंगे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कहना था, "अंग्रेजों के न्याय, बुद्धि तथा दया भावना में हमारा दृढ़ विश्वास है। संसार की महानतम प्रतिनिधि सभा, संसदों की जननी ब्रिटिश कॉमन्स सभा के प्रति हमारे हृदय में बहुत श्रद्धा है। अंग्रेजों ने सर्वत्र ही प्रतिनिध्यात्मक आदर्श पर ही शासन की रचना की है।" कांग्रेस के जन्म के लिए भी उदारवादी अंग्रेजों के कृतज्ञ थे। सन् १८९३ में कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष सरदार दयालसिंह मजीठिया ने कहा था, "कांग्रेस भारत में ब्रिटिश शासन की कीर्ति का कलश है।" इसी प्रकार सन् १८८७ में सर टी० माधवराव ने कहा था कि कांग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च यश-शिखर तथा

1 'That the English people are essentially just and fair, and that if properly informed they would never deviate from truth and right."

2 *Annie Besant :* How India Wrought Freedom, p. 232.

ब्रिटिश जाति का कीर्ति-मुकुट है। दादाभाई नौरोजी का तो अंग्रेजों की न्यायप्रियता में इतना अधिक विश्वास था कि वह कहते थे कि एक समय आ जाएगा जब अंग्रेज भारत से स्वयं चले जावेंगे।[1]

राजनीतिक विचारधारा

उदारवादियों ने कांग्रेस के दूसरे ही अधिवेशन में यह स्पष्ट घोषित कर दिया था कि उनका उद्देश्य स्वशासन प्राप्त करना है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसी अधिवेशन में कहा, "स्वशासन एक प्राकृतिक देन है, ईश्वरीय शक्ति की कामना है। प्रत्येक राष्ट्र को स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय करना चाहिए। यही प्रकृति का नियम है।"[2] उनका विश्वास था कि स्वशासन भारतीयों के लिए कोई नयी व्यवस्था नहीं तथा स्वतन्त्र संस्थाएँ देश की बौद्धिक तथा नैतिक संयम की सबसे अच्छी पाठशालाएँ होती हैं। इनके बिना स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन सम्भव नहीं।[3] इसी कारण प्रारम्भ में कांग्रेस देश में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना करने पर अधिक बल देती थी।

वैधानिकतावाद

वैधानिकतावाद प्रारम्भ के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य विशेषता है। प्रारम्भिक कांग्रेसी इस बात मे विश्वास नहीं करते थे कि यदि भारत अंग्रेजों से सम्बन्ध रक्खेगा तो हानि उठावेगा। वह इसीलिए देश में प्रचलित संस्थाओं तथा व्यवस्था में आकस्मिक परिवर्तन न चाहते थे। वह क्रान्तिकारी साधनों तथा ऐसे प्रत्येक कार्य के विरोधी थे, जिसके कारण प्रचलित विधियों तथा नौकरशाही से इनका प्रत्यक्ष संघर्ष हो। हिंसा के प्रति उनके हृदय में घृणा की भावना थी। वह विद्रोह, विदेशी आक्रमण की सहायता तथा अपराध को आश्रय देने के घोर विरोधी थे। वह हमेशा ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति प्रदर्शित करते थे तथा हमेशा सरकार से सहयोग करने के इच्छुक रहते थे। वह चूंकि अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास रखते थे, अतः वे सरकार का ध्यान भाषणों, याचना, स्मृति-पत्रों शिष्ट मण्डलों द्वारा आकर्षित करना चाहते थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रिटिश सरकार व संसद

---

1 "The day, I hope is not distant when the world will see the noblest spectacle of a great Nation like the British holding out the hand of true fellow-citizenship to the vast mass of humanity of this great and ancient land of India, with benefits and blessing of the human race." (*Ibid.*, p. 165)

2 "Self-Government is the ordering of the nature, the will of Divine Providence. Every nation must be the arbiter of its own destinies such is the omnipotent fiat inscribed by Nature with her own hands and in her own eternal book." (*Ibid.*, p. 26)

3 *Ibid.*, p. 41.

को भारत का दृष्टिकोण समझाने के लिए कांग्रेस ने कई शिष्टमण्डल भेजे। सन् १८८९ में कांग्रेस ने एक ब्रिटिश समिति की स्थापना की तथा उसके संचालन के लिए ४५,००० रुपयों की राशि स्वीकृति की। सन् १८९३ में ब्रिटिश कॉमन्स सभा के सदस्यों में भारत के राजनीतिक विकास के पक्ष में हलचल मचाने के लिए सर विलियम वेडरबर्न ने 'इण्डियन पार्लियामेंटरी कमेटी' की स्थापना की। पण्डित मदन-मोहन मालवीय ने कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन मे निम्न शब्दों में उदारवादी साधनों की चर्चा की, "हमें सरकार से बार-बार निवेदन करना चाहिए कि वह हमारी माँगों पर शीघ्रता से विचार करे तथा फिर हम अपनी इन सुधार सम्बन्धी माँगों को स्वीकार कराने पर जोर दें।"[1] राजनीतिक सुधारों के लिए वह सरकार से याचना करने में किसी भी प्रकार की लज्जा का अनुभव न करते थे। कारण कुछ लोग उदारवादियों की नीतियों को 'राजनीतिक भिक्षा वृत्ति की नीति' कहते थे।

याचना तथा प्रार्थना

उदारवादियों का मूल्यांकन

राष्ट्रीयता के जनक

भारत में राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय संस्थाओं के जन्मदाता उदारवादी थे। गुरुमुख निहालसिंह का कहना है कि प्रारम्भ से ही कांग्रेस ने "राजभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति, आवेदन, आवेदन ही नहीं वरन् भिक्षावृत्ति के बावजूद भी उन दिनों राष्ट्रीयजागरण, राजनीतिक शिक्षा, भारतीयों को एक सूत्र में आवद्ध करने तथा उनमें सामान्य राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने में कठिन परिश्रम किया था।" यद्यपि उनके साधनों का 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' कहकर उपहास उड़ाया जाता है, परन्तु जैसा पट्टाभि सीतारमैय्या का कहना है कि उनका उपहास उड़ाना तो आसान है परन्तु जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया उस समय वह अकेले थे। उन्होंने जो नीतियाँ अपनायीं, उनके लिए हम उनको कोई दोष नहीं दे सकते। उनका कहना है कि किसी आधुनिक इमारत की नींव में छः फुट नीचे जो ईंट-चूना और पत्थर गड़े हैं क्या उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है ? क्योंकि वही तो आधार हैं जिन पर सारी इमारत खड़ी होती है। सर्व-प्रथम औपनिवेशक स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होमरूल, उसके बाद स्वराज्य तथा सबके शीर्ष पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें एक के बाद एक बन सकी हैं।[2]

अन्य सफलताएँ

उदारवादियों की एक महान् देन यह भी है कि उन्होंने भारतीयों को राज-नीतिक शिक्षा प्रदान की। उन्होंने सर्वप्रथम प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों का प्रसार किया। उन्होंने महत्वपूर्ण विषयों पर अपने अधिवेशनों में विचार-विमर्श करके प्रबल जनमत संगठित

1 *Ibid.*, p. 45.
2 The History of Congress, p. 99.

किया। सन् १६६२ का इंडियन कौंसिल एक्ट भी उनकी महान् सफलता है। यद्यपि यह भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सका ; परन्तु फिर भी देश के वैधानिक विकास की ओर यह एक कदम था।

दुर्बलताएँ

इतना होने पर भी उदारवादियों में कुछ दुर्बलताएँ भी थीं। वह ठीक-ठीक यह न समझ सके कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का वास्तविक आधार क्या था। उनकी धारणा भी भ्रामक थी कि ब्रिटेन का साथ करके ही भारत राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति कर सकता है। वह ब्रिटिश शासन के वरदानों के प्रति कृतज्ञता तो प्रकट करते थे, परन्तु यह समझ सकने मे असमर्थ रहे कि इंगलैंड हर प्रकार से भारत का शोषण करना ही अपने हित मे समझता था। वह अंग्रेजों को सदा ही न्यायप्रिय कहते थे तथा उनका विश्वास का कि शासक इंगलैंड की ही तरह की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की भारत में भी स्थापना करेंगे, परन्तु उनकी यह आशा कभी पूरी न हुई। सन् १६१८ तक उनकी अनेक प्रार्थनाओं एवं याचनाओं के बावजूद भी अँग्रेजी शासन ने उनकी वैधानिक मांगों के प्रति कोई दिलचस्पी न दिखायी। उन्होंने जिन साधनों का प्रयोग किया, वह अत्यन्त साधारण कोटि के थे तथा ब्रिटिश शासन पर उनका कोई प्रभाव न पड़ता था। वह शासन या विधियों से किसी प्रकार का संघर्ष न चाहते थे। गुरुमुख निहालसिंह का कहना है कि तिलक तथा गोखले को छोड़कर कांग्रेस के नरम नेताओं में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए वैयक्तिक त्याग करने तथा कष्ट सहने की शक्ति न थी।

प्रारम्भिक देशभक्त

दादाभाई नौरोजी

दादाभाई नौरोजी को 'भारत का वयोवृद्ध पुरुष' (Grand Oldman of India) कहा जाता है। प्रारम्भिक राष्ट्रनिर्माताओं में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म बम्बई के एक प्रतिष्ठित पारसी परिवार में चार दिसम्बर सन् १८२५ को हुआ। दस वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता का देहावसान होने के कारण उनकी माता ने बड़े कष्टों से उच्च शिक्षा दिलाई। बम्बई के मुख्य न्यायाधीश सर एर्सकिन पैरी चाहते थे कि दादाभाई इंगलैण्ड में वकालत की शिक्षा प्राप्त करें, परन्तु क्योंकि इनके परिवार के लोग पुराने विचारों के थे अतः यह इंगलैण्ड न जा सके। सन् १८५० में वह एलफिस्टन कालेज में अध्यापक हो गये तथा इस पद पर सन् १८५६ तक रहे। इसके बाद वे एक पारसी कम्पनी की तरफ से इंगलैण्ड चले गये। वह कुछ दिनों बड़ौदा राज्य के दीवान भी रहे। तीस वर्ष की आयु से ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। उनके सम्बन्ध में सर सी० वाई० चिन्तामणि का कहना है कि यद्यपि अपने देश का सार्वजनिक जीवन बौद्धिक दिग्गजों तथा

निःस्वार्थ देशभक्तों की आकाश गंगा से अलंकृत रहा है, परन्तु वर्तमान समय में दादाभाई के समकक्ष कोई दूसरा नहीं हुआ।[1]

दादाभाई के सार्वजनिक जीवन का क्षेत्र व्यापक था। उन्होंने तीन संस्थाओं तथा अनेक समाचार-पत्रों को जन्म दिया। उनका मुख्य उद्देश्य देश का राजनीतिक तथा सामाजिक सुधार करना था। सन् १८६६ में उन्होंने इंगलैण्ड में 'ईस्ट इण्डियन एसोसियशन' की स्थापना की। इसका उद्देश्य अंग्रेजी जनता को भारतीय समस्याओं से परिचित कराना था। कांग्रेस से तो उनका सम्बन्ध उनके जन्मकाल से ही रहा। वह तीन बार सन् १८८६, १८९३, १९०६ में कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। वही सर्वप्रथम भारतीय थे जो 'हाउस ऑफ कामन्स' के भी सदस्य निर्वाचित हुए। उन्होंने ही सर्वप्रथम सन् १९०५ के अधिवेशन में 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया तथा स्वदेशी का समर्थन किया। लार्ड कर्जन के शासनकाल में भारत की जो अधोगति हुई उसकी उन्होंने कटु निन्दा की। उन्होंने अपनी पुस्तक 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में भारत में दरिद्रता के कारणों पर प्रकाश डाला। लार्ड वेल्वी के सभापतित्व में नियुक्त रॉयल कमीशन के समक्ष गवाही देते हुए उन्होंने भारत में विदेशी शासन की तीव्र आलोचना की तथा यह बताया कि इंगलैंड ने भारत का किस तरह आर्थिक शोषण किया था। अपने जीवन के अन्तिम काल में वह इस बात के समर्थक हो गए थे कि जब तक भारत में स्वशासन की स्थापना नहीं होती, भारत उन्नति नहीं कर सकता है। गोखले के शब्दों में उनका जीवन देशभक्ति का सबसे उत्तम उदाहरण था।

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के जनक कहे जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत में उनसे प्रसिद्ध अन्य कोई व्यक्ति न था। सर हेनरी काटन का कहना है, "शिक्षित वर्ग ही देश की बुद्धि तथा वाणी है। अब पेशावर से लेकर चटगाँव तक बङ्गाली बाबू देश के जनमत पर शासन करते हैं तथा वर्तमान काल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नाम मुलतान तथा दक्षिण की जनता को समान रूप से उत्साहित करता है।"[2] वह अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। सन् १८६८ में वह इंगलैण्ड में सिविल सर्विस की प्रतियोगिता में सफल हुए, परन्तु वह अंग्रेज अफसरों के कृपा पात्र न थे। दो ही वर्षों के भीतर उन्हें सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी। उन्हें बाद में सरकार ने विलायत में कानून के अध्ययन की भी आज्ञा नहीं दी। बाद में दो लेफ्टीनेण्ट गवर्नरों ने उनको नौकरी से हटाए जाने को सर्वथा अन्यायपूर्ण घोषित किया। देश के लिए उनका सरकारी नौकरी से हटाया जाना एक प्रकार से वरदान ही था। सी० वाई० चिन्तामणि का कहना है, "शासन की हानि देश का लाभ बन गई।"[3]

---

1 C. Y. Chintamani Indian Politics Since the Mutiny, p. 20.
2 New India, p. 28.
3 Indian Politics Since the Mutiny, pp. 68-69.

नौकरी छोड़ने के उपरान्त कुछ समय तक उन्होंने विद्यासागर कालेज (जो उस समय मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट के नाम से विख्यात था) में अध्यापकी की। बाद में उन्होंने रिपन कॉलेज (जो अब उन्हीं के नाम पर कर दिया गया है) की स्थापना की तथा उसी में वर्षों तक अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। 'बंगाली' का सम्पादन कर इन्होंने देश में राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया। सन् १८८३ में सरकार की आलोचना करने पर उन्हें दो मास का कारावास का दण्ड मिला जिससे जनता में उनका मान अधिक बढ़ गया। वह कांग्रेस के एक प्रमुख नेता थे तथा इंगलैण्ड में कई बार उसके शिष्ट मण्डल के नेता होकर गए। वहाँ उन्होंने अपने भाषणों से इंगलैण्डवासियों का हृदय मोह लिया तथा वहाँ के शिक्षित-वर्ग में वह 'इण्डियन ग्लेडस्टन' के नाम से विख्यात थे। पट्टाभि सीतारमैया का कहना है कि कांग्रेस के मंच से उनकी जोशीली आवाज देश के कोने-कोने में गूँज जाती थी। भाषा के ऊपर अधिकार, रचना नैपुण्य, कल्पनाशीलता, उच्च भावुकता तथा वीरोचित हुँकार उनके भाषणों की विशेषता थी, जिसकी समता तो क्या निकटता तक पहुँचना भी असम्भव था।[1] मैकाले के समान ही उनकी स्मरण शक्ति भी विलक्षण थी। कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते समय वह मुद्रित प्रति को बिना देखे भाषण किया करते थे तथा उसमें एक शब्द की भी गलती नहीं होती थी। उन्होंने सन् १८७६ में 'इण्डियन एसोशियेशन' की स्थापना की जिसका लक्ष्य आई० सी० एस० की परीक्षा में सम्मिलित होने वालों की अवस्था २१ से १९ वर्ष कराने के लिए आन्दोलन करना था। शीघ्र ही यह संस्था एक राष्ट्रीय संस्था बन गयी। सन् १८८६ में जब वह कांग्रेस में सम्मिलित हुए तो एक प्रकार से यह एसोसियेशन ही कांग्रेस में विलीन होगया। सन् १९१७ तक वह कांग्रेस के प्रभावशाली नेता रहे तथा दो बार (सन् १८९५ तथा १९०३) कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १९०५ में बंग-विच्छेद के विरोध में आन्दोलन करने में उन्होंने प्रमुख भाग लिया तथा उन्होंने पुलिस के डण्डे खाए। वह अपने दृष्टिकोण तथा कार्यों दोनों ही में नरम थे। उन्होंने कभी भी क्रान्ति का पक्ष नहीं लिया। अंग्रेजी सभ्यता, संस्कृति तथा संस्थाओं के प्रति उनके हृदय में बड़ा प्रेम था तथा वे विश्वास करते थे कि इंगलैंड के सम्पर्क से भारत को लाभ होगा। इसके साथ ही वह ब्रिटिश नौकरशाही की त्रुटियों से भी परिचित थे तथा इनके निवारण के लिए भी वह प्रयत्नशील रहे। उनका प्रभाव राजनीतिक नेताओं विशेष कर उदारवादियों पर बहुत अधिक था। उन्होंने ही सन् १९१९ के माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को मानने के लिए उन्हें बाध्य किया। इसी वर्ष उन्होंने 'अखिल भारतीय लिबरल फेडरेशन' का संगठन किया। सन् १९१५ में इनकी मृत्यु हो गयी।

हमारे राष्ट्र निर्माताओं में गोपाल कृष्ण गोखले का नाम प्रथम श्रेणी के

---

1 The History of Congress, p. 167.

गोपाल कृष्ण गोखले

नेताओं में गिना जाता है। उनका सारा जीवन अपने देश-वासियों को ऊँचा उठाने में लगा रहा। १८ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने जीवन का प्रारम्भ एक अध्यापक के रूप में किया। २२ वर्ष की अवस्था में वह बम्बई विधान परिषद् के सदस्य तथा ३९ वर्ष की आयु में कांग्रेस के अध्यक्ष (सन् १९०५) निर्वाचित हुए। यह उनकी मेधावी बुद्धि तथा काम के प्रति लगन का परिचायक है। उन्हें देश के दीन-हीन किसानों तथा लोगों से बड़ा मोह था क्योंकि स्वयं उनका अपना प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त कष्ट में बीता था। सन् १९०७ की सूरत फूट के उपरान्त वह नरम दल के कर्णधार रहे तथा उनके जीवन काल में नरम व गरम दल के मेल के सारे प्रयत्न निष्फल रहे। वह एक कुशल वक्ता थे तथा इंगलैण्ड में वेल्बी कमीशन के समक्ष उन्होंने दक्षिण सभा का प्रतिनिधित्व किया। यह कमीशन सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण करने तथा सेना के व्यय को कम करने के सम्बन्ध में उनके तर्कों से अत्यन्त प्रभावित हुआ। सन् १९०२ मे वह इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १९०५ में उन्होंने 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य ऐसे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को शिक्षित करना था जो अत्यन्त न्यून पारिश्रमिक पर मातृभूमि की सेवा, कठोर अनुशासन का पालन तथा साम्राज्य के प्रति राजभक्ति के हेतु वचनवद्ध हों। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने प्रवासी भारतीयों के हितों की रक्षा के लिए गांधीजी के साथ काम किया। गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन से भी वह काफी प्रभावित हुए थे।

श्री गोखले अत्यन्त स्पष्टवादी थे। अपने विचारों को अत्यन्त संयत भाषा में प्रस्तुत करते थे तथा लोगों को आसानी से आकर्षित कर लेते थे। वह अपने मत को जब तक कि उसकी सत्यता में उन्हें विश्वास न हो जाए, तब तक प्रकट नहीं करते थे तथा एक बार किसी राय को कायम कर लेते थे तो अन्त तक उसी पर दृढ़ रहते थे। वह उद्देश्य को पूरा करने के लिए हर प्रकार के साधनों के प्रयोग के पक्षपाती न थे, वरन् वह प्रत्येक कार्य का आधार नैतिकता मानते थे। लॉर्ड कर्जन उनसे बहुत प्रभावित था तथा उसने लिखा था, 'ईश्वर ने आपको असाधारण योग्यताओं से विभूषित किया है तथा आपने उन योग्यताओं को देश के हित में प्रयुक्त किया है।"[1] इंगलैण्ड के प्रसिद्ध लेखक तथा एक समय ब्रिटेन में भारत-मन्त्री लॉर्ड मोर्ले ने कहा था कि वह सरकार के आलोचक होते हुए भी एक राजनीतिक दिमाग तथा शासन-कार्य चलाने योग्य उत्तरदायित्व की भावना रखते थे।[2] वेलेन्टाइन शिरोल, जिसने अपनी पुस्तक 'इण्डियन अनरेस्ट' में भारत के विरुद्ध बहुत विष उगला है, गोपाल कृष्ण गोखले का निम्न शब्दों में वर्णन किया है, "अधिक ध्यान देने योग्य चेहरा गोखले महोदय का था। वह चेहरा चौकन्ना, सुसंस्कृत तथा प्रतिभापूर्ण था। उनके सर पर

1 Quoted by Chintamani, p.40.
2 Mary : India : Minto & Morley, p. 161.

महाराष्ट्र की लाल पगड़ी रहती थी : मि० गोखले महाराष्ट्र ब्राह्मणों के उस कुल में उत्पन्न हुए थे जो अंग्रेजों के आने के समय दक्षिण पर शासन कर रहा था। वह शिक्षा की दृष्टि से जितने भारतीय थे, उतने ही पाश्चात्य भी।" सी० वाई० चिन्तामणि ने, जो उनके परम शिष्य थे, लिखा है, "उन्होंने मुझे यह गुरुमन्त्र दिया था कि देशभक्त उच्चकोटि का वीर है। वह स्वयं आदर्श देशभक्त थे तथा हम लोगों की दृष्टि में उच्चकोटि के वीर थे। गोखले की मृत्यु के उपरान्त विचारकों ने उन्हें 'छिपा हुआ राजद्रोही' कहा। कुछ अंशों तक यह ठीक भी है। उनमें मातृभूमि के प्रति अटूट भक्ति तथा सत्य के प्रति अपरिमित निष्ठा थी। वह वैधानिकता को राजनीतिक आन्दोलन की 'लक्ष्य-रेखा' मानते थे, परन्तु उनकी भाषा में नर्मी तथा कभी भी खुशामद की बू देखने में नहीं आती थी। देश के जिस अपमान को पूर्व-युग के कांग्रेसी नेता 'ईश्वर की इच्छा' कहकर टालने का प्रयत्न करते थे; गोखले का हृदय उस पर उबल पड़ता था।" परन्तु इसके साथ ही "उनकी यह भी विशेषता थी कि वह अपने हृदय को मस्तिष्क पर हावी नहीं होने देते थे, तथा हृदय की गर्मी मस्तिष्क तक पहुँच कर उनके व्यवहार तथा भाषण में एक ऐसा तेज उत्पन्न कर देती थी, कांग्रेस की राजनीति में एक नवीन बात थी।[1] वह क्रियात्मक राजनीति में विश्वास रखते थे तथा 'भिक्षावृत्ति' के विरोधी थे। उनका कहना था "हम भिक्षुक नहीं हैं वरन् एक विदेशी शासक के समक्ष अपने देश की जनता के राजदूत हैं जिसका लक्ष्य अपने के हितों की रक्षा करना है।"[2] जब कर्जन ने शासन में कुशलता बढ़ाने की आड़ में राष्ट्रीय प्रगति में रोड़े अटकाने शुरू किए तो उनके देशभक्ति से भरे हृदय पर चोट लगी। वंगविच्छेद की घटना ने उन्हें और भी विद्रोही बना दिया। इस अवसर पर उन्होंने अपने भाषणों में काफी उग्र व चुटीली भाषा का प्रयोग किया था।

सर फिरोजशाह मेहता

प्रारम्भिक देशभक्तों में फीरोजशाह मेहता का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। इन्होंने भारतीयों को शिक्षित करने एवं उन्हें स्वशासन के योग्य बनाने का अथक प्रयत्न किया। दादाभाई नौरोजी के प्रभाव से आपको देश-प्रेम की प्रेरणा प्राप्त हुई। देश के हित के लिये आप राजनीतिक दलों का होना आवश्यक मानते थे। उन्होंने के० टी० तैलंग तथा बदरुद्दीन तैय्यबजी के सहयोग से 'बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन' की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य प्रमुख राजनीतिक

1 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० १००।
2 "We are not beggars and our policy is not that of mendicancy. We are ambassadors of our people at a foreign court, to watch and guard the interest of our country and to get as much for her as we can. That is our position."
(Quoted by Lajpatrai : Young India,)

प्रश्नों पर जनमत जाग्रत करना था। सन् १८६८ से आप मृत्यु पर्यन्त बम्बई कार्पोरेशन के सदस्य रहे आप कांग्रेस के पंचम अधिवेशन के स्वागत समिति के अध्यक्ष थे तथा १८९० में ६ठवें अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए।

सर फीरोजशाह अंग्रेजों के परमभक्त थे। वह मानते थे कि अंग्रेज जाति संसार की उच्चतम जाति है तथा उसी के सहयोग से भारतीयों की सांस्कृतिक, आर्थिक उन्नति हो सकती है। वह घरेलू उद्योग-धन्धों के पक्ष में थे। सन् १९०७ के सूरत अधिवेशन के बाद वह कांग्रेस से अलग हो गए। यद्यपि उन्हें १९०९ में पुनः सभापति चुना गया पर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। कांग्रेस मंच बम्बई लेजिसलेटिव काउन्सिल, वॉइसराय कौंसिल तथा अन्य सार्वजनिक सभाओं में आपके दिए भाषण अत्यन्त प्रभावोत्पादक थे। वे एक निडर आलोचक थे। लार्ड हृदरफोर्ड ने मैनचेस्टर गार्जियन में लिखा कि, "अगर वह इंगलैण्ड में पैदा हुए होते तो प्रधानमन्त्री बन गए होते।"

इण्डियन कौंसिल एक्ट, १८९२

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने भारतीयों में एक नयी भावना जागृत कर दी। अब भारतीय यह समझने लग गए थे कि देश के शासन में उन्हें भी भाग लेने का अवसर प्रदान किया जाए। इसके साथ ही सरकार की दमनात्मक नीति में भी कोई परिवर्तन नहीं दृष्टिगोचर हो रहा था। जनता को लुभाने के लिए सरकार ने एक नयी योजना की आवश्यकता प्रतीत की और यह एक्ट इसी दिशा में एक कदम था।

व्यवस्थापिका सभा का विस्तार

इस एक्ट के द्वारा कौंसिल के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १२ से बढ़ा कर १६ कर दी गयी। इसी प्रकार बम्बई तथा मद्रास की परिषदों में आठ से बीस तक बढ़ाई जा सकती थी। संयुक्त प्रान्त की कौंसिल की सदस्य संख्या १५ तथा बर्मा तथा पंजाब की नयी स्थापित कौंसिलों की सदस्य संख्या ९ रखी गयी। नए मनोनीत सदस्यों की यह संख्या भारत की विशालता को देखते हुए बहुत कम थी। कर्जन इस पक्ष में था कि अधिक सदस्यों से शासन खर्चीला हो जायगा तथा सदस्य अपना श्रम व्यर्थ वाद-विवाद में नष्ट करेंगे तथा शासन कार्य कुशलता पूर्वक नहीं चलाया जा सकेगा। अब कौंसिलों में प्रश्नोत्तर करने की प्रथा भी लागू की गयी, परन्तु यह अधिकार वर्तमान प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित न था। कौंसिल में केवल वे ही प्रश्न पूछे जा सकते थे जो कि सूचनात्मक हों। प्रश्न तभी पूछे जा

प्रश्नोत्तर का अधिकार

सकते थे जबकि इस सम्बन्ध में सूचना दे दी गयी हो। प्रश्नों पर किसी प्रकार का वाद-विवाद नहीं हो सकता था। इस एक्ट ने बजट पर सदस्यों को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार दिया। प्रत्येक सदस्य को इसकी एक प्रति कुछ दिन

पूर्व दे दी जाती थी। सदस्य इस पर अपने सुझाव भी दे सकते थे। परन्तु किसी भी कौंसिल में इसके किसी विषय पर सदस्यों में विभाजन नहीं हो सकता था। सदस्यों के निर्वाचन की कोई स्पष्ट व्यवस्था एक्ट ने नहीं की। यह अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया कि वह कौंसिल के अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति की प्रणाली स्वयं निर्धारित करें। यह अत्यन्त अप्रजातान्त्रिक था। वास्तव में इस प्रश्न को गवर्नर जनरल की इच्छा पर छोड़ देने का अर्थ कुछ भी न था।

बजट पर वाद-विवाद

सदस्यों की नियुक्ति

इस एक्ट के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी आड़ में वास्तव में राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर बनाने का प्रयत्न किया गया। फीरोजशाह मेहता का मत था कि यह विधेयक एक अत्यन्त सुन्दर 'स्टीम इंजन' के समान था जिसमें से 'स्टीम' बनाने की आवश्यक सामग्री निकाल कर कुछ अन्य दिखावे की वस्तुएँ रख दी गई थीं। लार्ड सेलसबरी एवं ग्लेडस्टन की आशा कि इसके द्वारा भारतीयों को शासन में वास्तविक एवं जीवित प्रतिनिधित्व मिलेगा, निराशा में बदल गई।

---

1 *A. C. Banerji* : Indian Constitutional Document, p. Vol. II, p. 137.

३

उग्रवाद का प्रादुर्भाव

राष्ट्रीय आन्दोलन में नयी प्रवृत्तियाँ—प्रारम्भिक वर्षों मे कांग्रेस की बागडोर सम्पूर्ण रूप से उदारवादी नेताओं के प्रभाव में थी, जोकि अंग्रेजों की न्याय-प्रियता में विश्वास रखते हुए वैधानिक साधनों द्वारा राजनीतिक-सुधार प्राप्त करना चाहते थ। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा बीसवीं के प्रारम्भिक वर्षों में अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनके कारण कुछ भारतीयों की मनोवृत्ति व दृष्टिकोण में बिलकुल ही परिवर्तन हो गया तथा उन्होंने समझा कि वैधानिक साधनों तथा शासकों की खुशामद से अब कोई फल न निकलेगा, तथा उन्हें स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देनी चाहिए कि ब्रिटिश शासन मनोवांछित सुधारों के लिए बाध्य हो जाए। इसके अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र में एक नवीन बात देखने में आने लगी। अब तक तो राष्ट्रीय आन्दोलन में केवल मध्यवर्ग के शिक्षित लोग ही भाग लेते थे, परन्तु शनैः शनैः यह आन्दोलन केवल मध्यवर्ग तक ही सीमित न रहकर एक जनवादी आन्दोलन का रूप लेने लगा।

विचारों में परिवर्तन

सन् १८९२ के तुरन्त बाद ही, जबकि नवीन इण्डियन कौंसिल ऐक्ट पारित हुआ, भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उग्रवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं—गोखले, मेहता, बनर्जी आदि का विश्वास था कि सेवा, प्रार्थना तथा सहयोग की नीति का अवलम्बन करते हुए वह ब्रिटिश शासकों की सहानुभूति प्राप्त कर लेंगे, परन्तु जब उन्होंने नवीन एक्ट को देखा तो वह स्वयं भी बहुत असन्तुष्ट हुए। कांग्रेस के भीतर बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में एक नवीन शक्ति का उदय हो रहा था तथा बंगाल में विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष राजनीतिक गतिविधियों को एक नवीन दिशा देने के लिए प्रयत्नशील थे। इन लोगों का मत था कि राजनीतिक सुधारों के लिए जिन साधनों का अब तक प्रयोग किया गया था, उनसे किसी भी प्रकार की सफलता की आशा करना नितान्त

हुए जिनके कारण जनमत नौकरशाही का विरोध करने लगा। इस काल में भारत में तीन वायसराय हुए—लॉर्ड लैंसडाउन (सन् १८८८-९४), लॉर्ड एल्गिन (सन् १८९४-९८) तथा लॉर्ड कर्जन सन् (१८९९-१९०५) तथा इन तीनों ने जिन नीतियों को लागू किया, भारतीय उन्हें सहन करने को तत्पर न थे। इन तीनों वॉयसरायों के काल में शनैः-शनैः भारतीय जनता का यह विश्वास कि अंग्रेज न्यायप्रिय होते हैं, खत्म होने लगा। यहाँ तक कि उदारवादी नेता भी शासन की नीतियों का विरोध करने लगे। लॉर्ड लैंसडाउन के शासन काल में ही गोपाल कृष्ण गोखले ने सन् १८९२ में स्पष्ट घोषणा कर दी कि 'शासन की प्रतिगामी नीति के, जिसका सम्बन्ध शिक्षा, स्थानीय स्वशासन तथा राजकीय सेवाओं से है, भयंकर परिणाम हो सकते हैं। इंडियन पब्लिक सर्विसेज कमीशन (सन् १८८८) की रिपोर्ट ने भी भारतीयों को क्षुब्ध कर दिया जिसमें कि उच्च प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति के लिए भारतीयों की माँग के सम्बन्ध में कोई न्याय नहीं किया गया वरन् उन्हें उल्टे हानि ही पहुँची। यद्यपि प्रान्तीय सेवाएँ विशेषकर भारतीयों के लिए ही शुरू की गयीं पर वह सिविल सर्विस में उनके प्रति भेदभाव का उचित मुआवजा न था।

लॉर्ड लैंसडाउन

लार्ड एल्गिन ने अपने कार्यकाल में जिस दमन-नीति का सहारा लिया, उसने भी राजनीतिक क्षितिज पर काले बादलों के मँडराने की सूचना दी। प्रशासनिक कार्यों में वह सर्वदा अपने परामर्शदाताओं पर निर्भर रहता था, तथा उसने स्वयं यह आनन्द चार्लू से स्वीकार किया था कि उसे भारत के बारे में बहुत कम जानकारी थी। सन् १८९७ में भारतीय दंड विधान में दो नवीन धाराएँ १२४ ए तथा १५३ ए जोड़ दी गयीं। इसके द्वारा जनता के असन्तोष को राजद्रोह का रूप देकर सरकार दमन नीति अपना सकती थी। उसने यह भी सोचा था कि तिलक को राजद्रोह के अपराध में १८ मास का कठोर कारावास दण्ड दे देने से जनता दब जाएगी, परन्तु इसका प्रभाव उलटा ही पड़ा। उदारवादी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का इस सम्बन्ध में कहना था कि "तिलक के लिए मेरे हृदय में पूरी सहानुभूति है। मेरी सद्भावनाएँ उनके साथ जेल के भीतर हैं तथा राष्ट्र रो रहा है।" एल्गिन के काल में ही दामोदर तथा बालकृष्ण चाफेकर को प्राणदण्ड तथा दक्षिण में प्रभावशाली जमीदार नाटू-बन्धुओं को देश निकाला देकर उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया, क्योंकि उनके ऊपर यह सन्देह किया गया था कि वह राजद्रोही है। इसके अतिरिक्त सन् १८९६ में रुड़की के इंजीनियरिंग कॉलेज में शुद्ध ऐशियन प्रजाति के लोगों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया। सन् १८९८ में कांग्रेस सभापति आनन्द मोहन बोस ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि एशिया की अशुद्ध जातियों को महत्व देना वर्णशंकरता को बढ़ावा देना था, जो भारत सरकार की एक विशिष्ट नीति थी।[1] इन सब घटनाओं ने यह स्पष्ट कर

लॉर्ड एल्गिन

1 How India Wrought for Freedom, p. 272.

दिया कि अंग्रेजी शासन भारत में किसी भी राजनीतिक सुधार के लिए तत्पर न था। इस सम्बन्ध में रमेशचन्द्र दत्त का कहना था कि "लोगों में असन्तोष की भावना उग्रतम होती जा रही थी तथा अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा समदृष्टि भावना में भारतीय जनता का जो विश्वास था, वह ऐसा हिल गया था, जैसा पहले कभी भी नहीं।"[1]

लॉर्ड कर्जन का प्रतिगामी शासन

लॉर्ड एल्गिन के बाद लॉर्ड कर्जन भारत के वायसराय बने। उन्होंने भी अपने पूर्व वायसरायों द्वारा चलायी गयी नयी नीति को जारी रखा तथा उनकी साम्राज्यवादी नीति मे अनेक लोग ब्रिटिश शासन के तीव्र विरोधी बन गये। रमेशचन्द्र दत्त ने 'इण्डिया इन विक्टोरियन एज' में कर्जन के सम्बन्ध में लिखा है कि "उसमें कुछ ऐसी विशेषताओं का अभाव था, जिनके बिना कोई भी व्यक्ति सफल शासक नहीं बन सकता। वह पक्का जोशीला साम्राज्यवादी था—उसे स्वराज्य की भावना से न कोई सहानुभूति थी, तथा न जनता के सहयोग में विश्वास था। वह ओजस्वी तथा महत्वाकांक्षी होने के साथ-साथ पूर्व में ब्रिटेन के बल, गौरव तथा व्यापारिक हितों की रक्षा का प्रबल पक्षपाती था। ...वह इस पूर्वीय विशाल जाति की आर्थिक उन्नति तथा राजनीति विकास का वैसा पक्षपाती नहीं था, जिसका उसे शासन करना था। उसका आदर्श था—तानाशाही शासन।" इन्द्र विद्यावाचस्पति का तो कहना है कि "उसने अपनी असाधारण शक्तियों का अनुचित ढंग पर प्रयोग कर ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वह कार्य किया, जो मुगल साम्राज्य के लिए औरङ्गजेब ने किया था। उसने कठोर गाली देकर और कोड़े फटकार कर भारतवासियों को यह अनुभव करा दिया कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के हिस्सेदार नहीं, वरन् गुलाम हैं।"[2]

सन् १९०५ की कांग्रेस के अध्यक्ष गोपालकृष्ण गोखले ने लॉर्ड कर्जन की विदाई के सम्बन्ध में कहा, "यह लोकोक्ति सर्वथा सत्य है कि कभी-न-कभी प्रत्येक वस्तु का अन्त होता है। तभी तो लॉर्ड कर्जन की वायसरॉयल्टी का भी अन्त हो गया। लम्बे सात वर्षों तक, सब आँखें उस एक शक्तिसम्पन्न मूर्ति की ओर उठी रही हैं—कभी उन आँखों में प्रशंसा का भाव होता था, तो कभी आश्चर्य का। अधिकतर उनमें क्रोध तथा दुःख की भावना छिपी रहती थी। देशवासी उस मूर्ति की ओर देखने के इतने आदी हो गए थे कि आज यह अनुभव करना कठिन हो गया है कि सचमुच वह लम्बी यातना समाप्त हो गयी है। यदि हम लॉर्ड कर्जन की उपमा इतिहास में तलाश करना चाहते हैं तो हमें अपने देश के इतिहास में औरङ्गजेब के शासनकाल की ओर जाना पड़ेगा।"

---

1 *Annie Besant* : How India Wrought for Freedom, p. 27.

2 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ९० ।

केन्द्रीकरण की नीति—लार्ड कर्जन ने प्रारम्भ से ही केन्द्रीकरण की नीति अपनायी। उसका यह विश्वास था कि भारतीयों में शासन की योग्यता का अभाव है तथा उसने सभी महत्वपूर्ण पदों पर अंग्रेजों की नियुक्ति की। शासन में कुशलता लाने के लिए नौकरशाही का नियन्त्रण उसकी दृष्टि में आवश्यक था। वह स्वजातीयता में विश्वास रखता था तथा उसका यह भी कहना था कि "ईश्वर ने एक ही जाति को शासन करने के हेतु पैदा किया और वह है अंग्रेज जाति। भारतीयों को शासनाधिकार सौंप कर उस सर्वोच्च सत्ता—ईश्वर के नियम का तिरस्कार करना है।" लॉर्ड कर्जन का सबसे पहला प्रहार स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं पर हुआ। इस प्रकार इन संस्थाओं ने लॉर्ड रिपन के काल में तथा उसके बाद जो भी प्रगति की थी, उस सब को ठेस लगी। लार्ड रिपन ने तो यह आशा व्यक्त की थी कि ऐसी संस्थाएँ भारतीयों को स्वशासन की कला में अपेक्षित शिक्षण देंगी, परन्तु कर्जन पक्का साम्राज्यवादी था। वह भावी शासन में कुशलता लाने के लिए तथा स्वतन्त्रता के लिए वर्तमान शासन की कुशलता को बलिदान करने के हेतु कदापि न था।[1] उसका विश्वास था कि शासन में जन-उपक्रम को उत्साहित करने की कोई आवश्यकता नहीं तथा स्थानीय संस्थाएँ नौकरशाही के अधीन रहनी चाहिए। इसी उद्देश्य से सन् १८९९ में 'कलकत्ता कॉरपोरेशन एक्ट' (Calcutta Corporation Act, 1899) पास किया गया, जिसके द्वारा कॉरपोरेशन के सदस्यों की संख्या ७५ से घटाकर ५० कर दी गयी। सदस्य-संख्या में यह कमी इसलिए की गयी कि कॉरपोरेशन तथा उसकी समितियों में निर्वाचित भारतीय अल्पसंख्यक रह जाएँ तथा सरकारी सदस्यों का बहुमत हो जाय। सरकार के इस कार्य से जनता में तीव्र असन्तोष फैला तथा २८ भारतीय सदस्यों ने त्यागपत्र भी दे दिया, किन्तु सरकार पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा।

विश्वविद्यालयों का सरकारीकरण—स्थानीय संस्थाओं पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित करने के बाद कर्जन का ध्यान विश्वविद्यालयों के सरकारीकरण की ओर भी आकर्षित हुआ। सन् १९०४ के 'भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट' के द्वारा विश्वविद्यालयों के सीनेट की सदस्य-संख्या कम कर दी गयी। सिंडीकेट तथा अन्य प्रबन्ध-समितियों के संगठन में संशोधन किया गया। सरकार ने विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध विद्यालयों के निरीक्षण की व्यवस्था की तथा विद्यालयों को मान्यता प्रदान करने अथवा न करने का अन्तिम निर्णय अपने हाथ में रखा। ऐसा होने से विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता पर आघात पहुँचा। इस कृत्य ने शिक्षित भारतीयों को सरकार की नीति का विरोधी बना दिया तथा उन्हें यह अनुभव होने लगा कि वायसराय का अभिप्राय विश्वविद्यालय-प्रणाली पर एक प्रहार करने का था।[2]

1 गुरुमुख निहालसिंह : भारत का वैज्ञानिक तथा राष्ट्रीय विकास, पृ० १४४।
2 *Ronaldshay* : Life of Lord Curzon, vol, II, p. 322.

आफशियल सीक्रेटस एक्ट—'कलकत्ता कारपोरेशन 'एक्ट' तथा 'इंडियन यूनिवर्सिटीज एक्ट' के अतिरिक्त लार्ड कर्जन के शासनकाल में एक अन्य विधेयक पारित हुआ, जिसने देशभक्त भारतीयों की भावनाओं पर कुठाराघात किया। यह था 'ऑफिशियेल सीक्रेट्स एक्ट' जो सन् १९०४ में पास हुआ था। इस कानून ने सन् १८८९ तथा १८९८ के सरकारी गुप्त समितियों के कानून में सरकार को जो अधिकार प्रदान किये थे, उनमें वृद्धि कर दी। अब सैनिक गुप्त बातों के अतिरिक्त सरकार की सार्वजनिक गुप्त बातों का प्रकाशन भी दण्डनीय कर दिया गया तथा समाचार-पत्रों में प्रकाशित सरकारी कार्यों की उन आलोचकों को, जिनसे सरकार के प्रति सन्देह अथवा घृणा उत्पन्न हो, अपराध घोषित कर दिया गया। संक्षेप में, केवल वही बातें भारतीय समाचार-पत्र तथा पत्रकार प्रकाशित कर सकते थे, जिन्हें सरकार पसन्द करती हो। इस कानून में सन् १८९८ के कानून द्वारा दी गयी राज-द्रोह की परिभाषा में भी विस्तार किया गया।

भारतीयों के प्रति अविश्वास—यह पहले भी कहा जा चुका है कि लॉर्ड कर्जन का दृष्टिकोण सदा ही भारत विरोधी रहा। उसके हृदय में इस देश के प्रति रंचमात्र भी सहानुभूति न थी, जिसका वह शासक था। उसने अपनी वाणी तथा कृत्यों द्वारा सर्वदा ही भारतीयों के प्रति अपने अविश्वास को खुले तौर पर प्रदर्शित किया। सन् १९०५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति के पद से दिये गये दीक्षान्त भाषण में उसने भारतीयों के चरित्र पर गम्भीर आक्षेप किये तथा यहाँ तक कह डाला कि "भारतवासियों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है, और वस्तुतः भारतवर्ष में सत्य को कभी आदर्श माना ही नहीं गया है।" उसने यह भी कहा कि पाश्चात्य देशों में नैतिक आचरण में सत्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है परन्तु पूर्व के नैतिक आचरण में सत्य के स्थान पर मक्कारी तथा कूटनीतिज्ञता का प्रचार है। कर्जन के मत में भारतीय साहित्य में भी इसी बात की प्रतिष्ठा थी। इन्द्र विद्यावाचस्पति के मतानुसार उपयोगितावाद तथा नास्तिकता के प्रवाह में बहते हुए योरोप के निवासी से 'सत्यमेव जयते' की परम्परा में पले हुए भारतीयों ने जब यह मर्मभेदी आरोप सुना तो देश में एक क्षोभ की लहर-सी दौड़ गयी।[1] स्थान-स्थान पर इस भाषण के विरोध में प्रदर्शन किये गए। कर्जन ने भारतवासियों के आत्मसम्मान को अपने पैरों तले रौंदा तथा यह कह कर कि 'भारतीय राष्ट्र नाम की कोई वस्तु नहीं है,' देश भर में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध तीव्र भावना भर दी। शासन की बागडोर लेते समय उसका यह दृढ़ विश्वास था कि वह बिना किसी परेशानी के कांग्रेस को समाप्त करने में सफल होगा। उसका यह अभिमान भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में अधिक अंशों में सहायक रहा।

बंगाल का विभाजन—भारतीय राष्ट्रीयता पर कर्जन सरकार का सबसे

1 भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ९५।

जबरदस्त प्रहार बंगाल का विभाजन था। सन् १९०५ में बंग-विच्छेद का जो कानून अंग्रेजी सरकार ने एक विष भरा तीर समझकर फेंका था, वह परिणामत: अमृत का घड़ा सिद्ध हुआ। यद्यपि कर्जन का उद्देश्य भारत में राष्ट्रीयता की भावना को कुचल देना था, पर उसके कृत्यों ने उल्टा ही प्रभाव दिखाया। एक दृष्टि से तो हम उसे भारत का महान उपकारक मान सकते हैं, क्योंकि यदि वह भारत के राजनीतिक वातावरण को इतना अधिक गर्म न कर देता तो सम्भवत: यहाँ राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार होने में कई दशक लग जाते तथा भारतवर्ष की राजनीति इतनी शीघ्र शैशवावस्था से यौवनावस्था में प्रवेश न कर पाती।

बंगाल का विभाजन करने के पक्ष में सरकार का कहना था कि बंगाल प्रान्त बहुत बड़ा हो गया था तथा सुशासन के लिए यह आवश्यक था कि उसका विभाजन दो भागों में कर दिया जाय। उस समय बंगाल प्रान्त में उड़ीसा तथा बिहार भी सम्मिलित थे, तथा उसकी कुल जनसंख्या लगभग ८ करोड़ थी। यदि प्रान्त के विभाजन की पृष्ठभूमि में केवल सुशासन का ही विचार होता अथवा यह विभाजन भाषा के आधार पर किया जाता तो सम्भवत: जनता इस विभाजन का इतना उग्र विरोध न करती। सुशासन के लिए विभाजन की आड़ लेकर सरकार का वास्तविक उद्देश्य एक मुस्लिम बहुल प्रान्त का निर्माण करना तथा बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता का गला घोंटना था।[1] वह विभाजन के द्वारा बंगाल के हिन्दू व मुसलमानों को पृथक् करना चाहता था तथा इस प्रकार वह 'फूट डालकर शासन करने की नीति' को ही क्रियान्वित कर रहा था। ए० सी० मजूमदार का कहना है कि कर्जन ने मुसलमानों को अपने पक्ष में करने के लिए पूर्वी बंगाल का दौरा किया तथा अपने भाषणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूर्वी बंगाल का निर्माण हो जाने के उपरान्त मुसलमान सुख से रह सकेंगे तथा समृद्धशाली बन सकेंगे क्योंकि उनके ऊपर किसी भी अन्य जाति का प्रभुत्व न रह जायगा।

बंगाल-विभाजन का विरोध करने के लिए शीघ्र ही बंगाल में आन्दोलन शुरू हो गया तथा यह शनै: शनै: अन्य प्रान्तों में भी फैल गया। ७ अगस्त, सन् १९०५ को कलकत्ते के टाउन-हॉल में विदेशी तथा विशेषतया अंग्रेजी वस्तुओं का सबल बहिष्कार करने की नीति अपनायी गयी, क्योंकि अंग्रेज जाति भारतीय समस्याओं के प्रति पूर्ण रूप से उदासीनता बरत रही थी तथा तत्कालीन सरकार जनमत की अवहेलना कर रही थी[2] सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विपिनचन्द्र पाल इस आन्दोलन के मुख्य नेता थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि केवल बंगाल प्रान्त में ही

1 Cotton writes that it was "part and parcel of Lord Curzon's policy to enfeeble the growing power and destroy the political tendencies of a patriotic spirit." (New India, pp, 11-12.)

2 *Surendra Nath Banerji* : A Nation in the Making, p. 192.

विभाजन का विरोध करने के लिए १००० से अधिक सभाएँ हुईं। देश के कोने-कोने से वायसराय के पास इस आशय के स्मृति-पत्र भेजे गये कि विभाजन की योजना लागू न की जाय। सत्तर हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना-पत्र ब्रिटेन की संसद के पास भी भेजा गया, परन्तु उसका कोई फल न निकला। लार्ड कर्जन ने इस आन्दोलन को बनावटी तथा कुछ स्वार्थी लोगों के दिमाग की उपज बताया तथा १ सितम्बर, सन् १९०५ को दी गयी विभाजन की घोषणा को १६ अक्टूबर को कार्यान्वित कर दिया। इसका फल यह हुआ कि गोपालकृष्ण गोखले, जो उदारवादी माने जाते थे, उनमें भी जोश का संचार हुआ। उन्होंने भी बंग-विच्छेद की चर्चा करते हुए बनारस कांग्रेस सन् (१९०५) में अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कहा :

"हममें से प्रत्येक के मन में सबसे पहले जो प्रश्न घूम रहा है, वह बंग-विच्छेद का है। हमारे बंगाली भाइयों पर एक क्रूरतापूर्ण अत्याचार किया गया है, जिसने सारे देश में शोक तथा विक्षोभ की ऐसी गहरी धारा बहा दी है, जैसी इससे पहले कभी नहीं देखी गयी थी। बंग-विच्छेद की योजना अन्धकार में तैयार की गयी, और देश के अभूतपूर्व विरोध की उपेक्षा करके कार्यान्वित की गयी। अंग्रेजी सरकार का यह कार्य वर्तमान नौकरशाही शासन की बुराइयों का सबसे गन्दा दृष्टान्त है। इसमें लोकमत की घोर उपेक्षा की गयी है, इसके बारे में ऊँची अक्लमन्दी के हिमाकत भरे दावे किये गये हैं, इसके द्वारा जनता की प्रिय भावनाओं को कुचल कर रख दिया गया है और साथ ही न्याय का ढोंग किया गया है और इस कार्य से यह सिद्ध हो गया है कि वर्तमान अंग्रेज शासकों की दृष्टि में भारत की प्रजा कोई कीमत नहीं रखती है।"

जनता के व्यापक विरोध के फलस्वरूप सन् १९११ में इस विभाजन को रद्द किया गया।

सैनिक नीति—लॉर्ड कर्जन की सैनिक नीति भी असन्तोषजनक थी। भारतीय साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिये उसने भारतवर्ष के चारों ओर के देशों से मैत्री स्थापित करने का प्रयत्न किया तथा आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही भी की, जिससे व्यय मे बहुत अधिक वृद्धि हुई तथा जिसका भार भारतीय करदाताओं को सहना पड़ा। उसकी सीमान्त नीति, तिब्बत तथा फारस की खाड़ी के सैनिक अभियान, चीन में फौज भेजना आदि कार्यों ने भारतीयों के मन में शासन की नीतियों के विरुद्ध तीव्र रोष पैदा किया।

दिल्ली दरबार—इन सब बातों के अतिरिक्त लॉर्ड कर्जन ने भारतीयों से कर के रूप में वसूल किये गये धन का दुरुपयोग भी किया। उसने १ जनवरी, सन् १९०३ को दिल्ली में एक विराट् दरबार किया, जिसमे एडवर्ड सप्तम को भारत के सम्राट् होने की घोषणा की गयी। इस दरबार का आयोजन करके कर्जन अपने से पूर्व हुए गवर्नर-जनरलों को मात देना चाहता था। उसने अपने दरबार को

लॉर्ड लिटन के दरवार से अधिक शानदार तथा खर्चीला बनाने में कोई कसर न छोड़ी। इस दरवार का केन्द्रीय विन्दु स्वयं लॉर्ड कर्जन था। दरवार की शाही कुर्सी पर बैठने पर उसकी मनोवृत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अपने को किसी मुगल बादशाह से कम न समझता होगा। इस दरवार का भारतीयों के हृदय पर जो प्रभाव पड़ा, उसका वर्णन करते हुए लालमोहन घोष ने सन् १९०३ की कांग्रेस में अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कहा कि जनता ने इस दरवार का विरोध इस कारण नहीं किया था कि उसमें राजभक्ति की कमी थी, वरन् "हिज मैजेस्टी के मन्त्रियों ने यदि अपने कर्त्तव्य का पालन किया होता तथा भारत में दुर्भिक्ष-पीड़ित निवासियों की दीन अवस्था का वास्तविक चित्र उनके सामने रखा होता, तो दयालु हिज मैजेस्टी स्वयं आज्ञा दे देते कि भूख से मरती हुई प्रजा पर ऐसे भड़कीले तमाशे का बोझ न लादा जाय।" दरवार के अतिरिक्त एक करोड़ से भी अधिक राशि व्यय करके 'विक्टोरिया मेमोरियल' का निर्माण किया गया। कर्जन की योजना तो यह थी कि 'मेमोरियल एक राष्ट्रीय संग्रहालय होगा, परन्तु इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि भारत में "अँग्रेजों के कारनामों की प्रदर्शिनी थी।" इसके निर्माण में राजा-महाराजाओं व निर्धनों से चूसा धन 'चन्दे' के नाम से अर्जित किया गया। शिक्षित भारतवासियों ने इसे 'धन का अपव्यय' तथा 'भारत की राष्ट्रीयता का अपमान' कहा, परन्तु कर्जन पर सदा की भाँति किसी भी विरोध का असर न हुआ।

दुर्भिक्ष तथा महामारी

शासन की ओर से अकाल तथा महामारी से पीड़ित जनता के कष्टों का निवारण करने के लिये जिस नीति को कार्यान्वित किया गया, उसने भी राष्ट्रीयता की जागृति में योगदान दिया। सरकार ने ऐसे समय में भी उदासीनता प्रदर्शित की, जिससे जनता में घोर असन्तोष फैला। सन् १८९६-९७ में दक्षिण घोर दुर्भिक्ष से आक्रान्त हो उठा। सरकार ने जनता की सेवा करने के बजाय जिस मन्द गति से अपने उत्तरदायित्व को पूरा किया तथा लगान क्षमा कर देने के सम्बन्ध में जो शिथिलता दिखायी, उससे जनता असंतुष्ट हुई तथा उसने सरकार को ही जनता के कष्टों के लिये उत्तरदायी ठहराया। सन् १९०० में वर्षा न होने के कारण पुनः दुर्भिक्ष पड़ा जो पहले से भी अधिक भीषण था। सरकार ने जो भी सहायता देने का प्रयत्न किया, वह अपर्याप्त तथा आधे दिल से किया गया था। एक ओर तो दुर्भिक्षों के कारण प्रजा निर्धन होती गयी तथा दूसरी ओर जमीन के लगानों में कमी होने के बजाय समय-समय पर वृद्धि होती रही। यही कारण था कि दुर्भिक्षों का ताँता लगा रहा। सरकार द्वारा नियुक्त 'फैमीन कमीशन' ने भी अपनी रिपोर्ट में यह स्वीकार किया कि बढ़े हुए लगानों से उत्पन्न हुई दरिद्रता के कारण ही भारतवर्ष के किसान जरा-सी भी अनावृष्टि हो जाने के कारण भुखमरी के शिकार हो जाते हैं।

एक ओर तो दुर्भिक्ष ही जनता को आक्रान्त किये हुए था कि पूना में सन् १८९७ के निकट प्लेग फैला। सरकारी रिपोर्ट के आधार पर १,७३,००० व्यक्ति

इस बीमारी के कारण काल के ग्रास हो गये। सरकार ने यद्यपि संकट का सामना करने में अपनी ओर से कोई कसर न उठा रखी; परन्तु जिन साधनों का प्रयोग किया गया, उनसे लोगों की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँची। महामारी का सामना करने के लिये सरकार ने जनता से कोई सहयोग न लिया तथा केवल सरकारी आदमियों की नियुक्तियाँ की गयीं व सेना की सहायता ली गयी। इन लोगों को घर में घुसने, निरीक्षण करने एवं रोगियों को अस्पताल ले जाने के अधिकार प्रदान कर दिये गये। ये तरीके जनता को पसन्द न आये। लोगों ने सैनिकों को घर में घुसने पर एतराज किया उन्हें अपनी पत्नी या बच्चों का जबरदस्ती अस्पताल ले जाया जाना पसन्द न था। इससे जनता की छूआछूत सम्बन्धी मान्यताओं की भी ठेस पहुँची। जनता सरकार के प्लेगनिवारण सम्बन्धी कार्यों से इतनी क्रुद्ध हुई कि पूना में प्लेग कमिश्नर मिस्टर रैण्ड तथा उनके सहयोगी सैनिक अधिकारी लेफ्टिनैण्ट आयर्स्ट को गोली मार दी गयी। गोली मारने वाले नवयुवक को बाद में फाँसी की सजा दी गयी। इसी अवसर पर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में सरकार के प्लेग-निवारण के लिए उठाए गये कदमों का तीव्र विरोध किया। परिणामत: सरकार ने तिलक के ऊपर रैण्ड के कत्ल के लिए उत्तेजना फैलाने का अपराध लगाया। इसके लिए तिलक को अठारह मास के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। तिलक ने इस दण्ड के विरोध में प्रिवी कौंसिल में अपील करने की अनुमति माँगी, पर वह प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गयी। इसने सारे देश में उत्तेजना फैला दी, क्योंकि तिलक अपने कार्यों से सम्पूर्ण भारत के नवयुवकों के हृदय-हार बन चुके थे। अनेक नवयुवक केवल इसी बात के कारण उग्रवादी बन गये।

आर्थिक असन्तोष

सरकार की आर्थिक नीति भी भारतीयों के हित में न थी। जनता में यह भावना व्याप्त हो चुकी थी कि जिन कष्टों का सामना उसे करना पड़ रहा है, वह केवल भारत के सम्बन्ध में ब्रिटिश शासन द्वारा अपनायी गयी नीति का अनिवार्य परिणाम है। दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त, दीनशा एडुलजी वाचा आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत में जो निरन्तर निर्धनता बढ़ रही है, उसका एकमात्र कारण सरकार की आर्थिक नीति है। इस बात ने जनता के मन में अंग्रेजी शासन के प्रति घृणा के भाव भर दिये। कपास से बनी वस्तुओं पर पहले ५ प्रतिशत आयात-कर लगता था। ब्रिटिश व्यापारियों के हितों को ध्यान में रखते हुए यह घटाकर ३½ प्रतिशत कर दिया गया। इसके अतिरिक्त भारत में बने कपास के कपड़ों पर तथा 'तुल्यभूत अन्तः शुल्क' (Centre-vailing Excise Duty) लगा दी गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का कपड़ा मंहगा हो गया तथा विदेशों से आने वाला कपड़ा सस्ता रहा.
उद्योग को विदेशी उद्योग से जबरदस्त प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी।

उग्र राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने में

धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान

आन्दोलनों ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया। राममोहन राय, दयानन्द, रामतीर्थ, विवेकानन्द व एनी बीसेंट की शिक्षाओं ने भारतीयों का ध्यान अपने गौरवपूर्ण अतीत की ओर आकर्षित किया। उग्रवादियों में धार्मिक भावना बहुत अंशों में विद्यमान थी तथा उन्होंने भारत के पश्चिमीकरण का घोर विरोध किया। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा विपिनचन्द्र पाल की उग्र राष्ट्रीयता का आधार हिन्दू धर्म था। उन्होंने हिन्दू धर्म की आड़ लेकर उग्र राष्ट्रीयता के विचारों का प्रसार किया। वंकिमचन्द्र चटर्जी के 'वन्देमातरम्' तथा 'आनन्दमठ' ने नवयुवकों में देशप्रेम की भावना भरने में सहायता पहुंचायी। रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं ने भी भारतीयों को अपने देश तथा संस्कृति पर अभिमान करने की प्रेरणा दी। पाश्चात्य संस्कृति के प्रसार के द्वारा भारतीयों में जिस हीन भावना का विकास हो रहा था, उसे दूर करने में इन लोगों ने पर्याप्त सहायता दी तथा नवयुवक-वर्ग अब अपने देश के गौरव की रक्षा के लिए कष्ट सहने तथा अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए धीरे-धीरे तत्पर होने लगा।

विदेशों में भारतीयों के साथ अभद्र व्यवहार

ब्रिटिश शासन के काल में न केवल भारतवर्ष से ही भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था वरन् विदेशों में गोरे लोग भारतीयों के साथ तिरस्कारपूर्ण एवं निन्दनीय व्यवहार करते थे। दक्षिण अफ्रीका तथा अन्य उपनिवेशों में भारतीयों को पहले तो मजदूरों के रूप में ले जाया गया तथा बाद में उन्हें राजनैतिक तो क्या, सामाजिक अधिकार भी प्रदान नहीं किये। उन्हें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों के अधीन जीवन-यापन करना पड़ता था। वह मताधिकार से वंचित थे, सड़क की पटरियों पर न चल सकते थे तथा रेल के डिब्बों में अंग्रेजों के साथ नहीं बैठ सकते थे। भारतीयों ने सोचा कि विदेशों में भारतीयों के साथ अमानवीय एवं बर्बरतापूर्ण व्यवहार का मुख्य कारण यह है कि वे पराधीन हैं।[1] इस बात ने उनके हृदय में विदेशी शासन के विरुद्ध घृणा का भाव भर दिया तथा वह अपने को अंग्रेजों के चंगुल से स्वाधीन करना चाहने लगे। शिरोल ने जो 'लन्दन टाइम्स' के विशेष संवाददाता के रूप में लॉर्ड मिन्टो के वायसराय-काल में भारत आया, इस बात को स्वीकार किया है कि भारतीयों के साथ दक्षिण अफ्रीका तथा उपनिवेशों में मानवोचित एवं न्यायोचित व्यवहार नहीं किया जाता था।[2] दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी के नेतृत्व में 'निष्क्रिय विरोध आन्दोलन'

---

1. Lala Lajpatrai wrote that outside India, an Indian carries a badge of political subjection with him. The British colonies, more than any other country, bang their doors on him. He is a pariah all over the world.'' (Young India, pp, 80-81)
2. *Indian Unrest, p. 3,*

आरम्भ कर दिया गया। भारत में इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए चन्दा एकत्रित किया गया तथा आन्दोलनकारियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव

कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भी भारतीयों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया। प्रारम्भ में लोगों का यह विचार था कि यूरोपीय अजेय हैं, परन्तु इटली द्वारा अबीसीनिया (सन् १८८६) तथा जापान द्वारा रूस के पराजित होने पर (सन् १९०४-०५) लोगों की यह धारणा मिथ्या घोषित हो गयी। मिस्र, टर्की तथा फ्रान्स आदि एशियाई राष्ट्र परतन्त्रता की नींद त्याग कर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थे। भारतवर्ष भी निकटस्थ देशों के राजनीतिक वातावरण से अछूता न रहा। इसके अतिरिक्त भारतवासी इस बात से भी प्रभावित हो चुके थे कि जापान के निवासी क्योंकि उग्र राष्ट्रवादी हैं, इसी कारण वह एक बड़े देश रूस को पराजित करने मे सफल रहे। इससे भारतीयों को प्रेरणा मिली तथा उनकी हीनता की भावना दूर होने लगी। इसी समय इटली का एकीकरण हुआ। मैजिनी, गैरीबाल्डी तथा कावूर आदि के प्रयत्नों का प्रभाव भारतीयों पर भी पड़ा मैजिनी व गैरीबाल्डी के सम्बन्ध में भारतीय भाषाओं में पुस्तकें लिखी गयीं तथा विदेशी पुस्तकों का भी अनुवाद किया गया। भारत के राष्ट्रीयतावादी नेताओं ने भी अपने देशवासियों को जाग्रत करने के लिए इटली का उदाहरण प्रस्तुत किया।[1] भारतीयों के हृदय में इस प्रकार विदेशी शासन का अन्त कर देने की भावना बलवती होने लगी।

जहाँ इन अनेक कारणों से भारतीयों में ब्रिटिश-विरोधी भावनाएँ प्रबल होती जा रही थीं, वहीं नवयुवक-वर्ग में अब तक कांग्रेस ने जिस नीति का अवलम्बन किया था, उसके प्रति घोर अन्धविश्वास दृष्टिगोचर होने लगा था। उनका

उदारवादियों के साधनों में अविश्वास

विचार था कि भिक्षावृत्ति अथवा प्रस्तावों द्वारा भारतीयों का कोई हित न होगा, क्योंकि प्रारम्भिक बीस वर्षों में कांग्रेस इस नीति का पालन करके जनता को किसी भी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त कराने में असमर्थ रही थी तिलक, विपिनचन्द्र पाल व लाला लाजपतराय आदि की धारणा थी कि यदि हमें स्वराज्य प्राप्त करना है तो ब्रिटिश शासन के साथ अब तक अपनायी गयी सहयोग देने की नीति का परित्याग करके स्वयं प्रयत्नशील होना पड़ेगा। इसी कारण कांग्रेस ने सन् १९०५ के अधिवेशन में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन की नीति स्वीकार की। कांग्रेस ने लाला लाजपतराय व गोपालकृष्ण गोखले को इंगलैण्ड भेजा कि वह वहाँ की जनता को भारतीयों के कष्टों से अवगत करा सकें, परन्तु वहाँ से लौटने पर लाला

---

१ गुरुमुख निहालसिंह : भारत का वैधानिक तथा राष्ट्रीय विकास, पृ० १५४।

लाजपतराय ने बताया कि इङ्गलैण्ड में भारतीयों के लिए कोई सहानुभूति नहीं है तथा उन्हें आत्मनिर्भर होकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए तत्पर हो जाना चाहिए।

उग्रवादी आन्दोलन की प्रगति—उपरिवर्णित कारणों ने भारत में उग्रवादी राष्ट्रीयता का प्रसार हुआ तथा शनैः शनैः सारे देश में, विशेषकर नवयुवक-वर्ग में, विदेशी शासन के प्रति घृणा तथा स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्राणों को भी उत्सर्ग कर देने की तीव्र भावना जाग्रत हो गयी। कांग्रेस के भीतर भी लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय के नेतृत्व में उग्र दल पनपने लगा।

(1) महाराष्ट्र—महाराष्ट्र भारत का पहला प्रदेश था, जहाँ उग्र राष्ट्रीय भावना का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव हुआ। लोकमान्य तिलक के रूप में उसने एक आदर्श तथा कर्मठ नेता प्राप्त किया उन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि, विद्वत्ता, धर्मनिष्ठा तथा त्याग के द्वारा न केवल महाराष्ट्र के लोगों का ही दिल जीत लिया वरन् वह सारे भारत के बेताज के सम्राट बन गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल का मत है कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्वेष फैलाने वालों में तिलक अत्यन्त भयंकर थे तथा ब्रिटिश राजसत्ता के प्रति अभक्ति की प्रेरणा देने वाले तथा भारतीय अशान्ति के जन्मदाता थे। सन १८८० में उन्होंने 'केसरी' (मराठी साप्ताहिक) तथा 'मराठा' (अंग्रेजी साप्ताहिक) का प्रकाशन आरम्भ किया। राष्ट्रीय चेतना को फैलाने में इन दोनों समाचार-पत्रों ने अभूतपूर्व कार्य किया। सन् १८८२ में उन्होंने 'केसरी' तथा 'मराठा' में कुछ लेख कोल्हापुर राज्य की तत्कालीन शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रकाशित किये यद्यपि इन लेखों के लेखक तिलक या उनके सहयोगी आगरकर न थे, परन्तु पत्रों का सम्पादक होने के कारण इन दोनों को १०१-१०१ दिन का कारावास का दण्ड मिला। इस कारावास के दण्ड से न केवल महाराष्ट्र के लोगों की वरन् सारे देश की जनता की आंखों में तिलक तथा उनके सहयोगी का सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया।

तिलक ने जनता में राष्ट्रीय चेतना फैलाने के लिए पत्रों का ही सहारा न लिया, वरन् अप्रत्यक्ष रूप से कुछ ऐसे साधन भी अपनाये जो देखने में राजनीतिक न थे। उन्होंने महाराष्ट्र के नवयुवकों में आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास तथा आत्म-बलिदान की भावना जाग्रत करने के लिए गोवध निरोध समितियों, अखाड़ों व लाठी क्लबों का संगठन किया। इन सब बातों के पीछे तिलक का मुख्य उद्देश्य यह था कि नवयुवक अपने ऊपर निर्भर होकर स्वराज्य की प्राप्ति कर सकें और अंग्रेजों की कृपा पर न रहें। वह सन् १८८९ में कांग्रेस में सम्मिलित हुये थे, परन्तु उस समय कांग्रेस पर उत्तरवादियों का प्रभुत्व था तथा तिलक उदारवादी साधनों में आस्था नहीं रखते थे। सन् १८९३ में उन्होंने गणपति आयोजन का उत्सव का आयोजन किया। इसका उद्देश्य यद्यपि देखने में धार्मिक था, पर उसके मूल में राजनीतिक भावना सक्रिय थी। वह इस उत्सव द्वारा लोगों में मिल-जुलकर कार्य करने की प्रेरणा जाग्रत करना

गणपति उत्सव

चाहते थे। विद्यालयों में भी उन्होंने गणपति उत्सव मनाने की प्रेरणा दी। इस उत्सव के आयोजन में उन्हें पूर्ण सफलता मिली। इस सफलता से प्रेरित होकर उन्होंने सन् १८९५ में शिवाजी की स्मृति में शिवाजी उत्सव का आयोजन किया। इस उत्सव के आयोजन का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक था। वह जनता के सम्मुख इस उत्सव द्वारा उस आदर्श वीर पुरुष का उदाहरण उपस्थित करना चाहते थे, जिसने अपने शौर्य द्वारा महाराष्ट्र को मुगल सम्राट के विरुद्ध संगठित किया था तथा सफलतापूर्वक एक स्वतन्त्र महाराष्ट्र की स्थापना की थी। तिलक का उद्देश्य था कि लोग शिवाजी के आदर्श को सामने रखते हुए अँग्रेजों से मोर्चा लें तथा भारत को स्वतन्त्र करें। लाठी-प्रदर्शन, जुलूस, भाषण, कथाएँ आदि इन उत्सवों के मुख्य कार्यक्रम थे।

शिवाजी उत्सव (3)

जिस समय तिलक गणपति उत्सव व शिवाजी उत्सव का आयोजन कर लोगों में राष्ट्रीय भावना का जागरण तथा अँग्रेजी शासन के विरोध में भारतीयों को संगठित होने का आह्वान कर रहे थे, प्रकृति ने भी उनका साथ दिया। जब दुर्भिक्ष तथा प्लेग फैले तो सरकार ने इनके निवारण में उदासीनता का परिचय दिया तथा जिन साधनों का प्रयोग किया, उनसे जनता और भी उत्तेजित हो गयी। चाफेकर बन्धुओं ने जनता को हिंसा के लिए उत्साहित किया तथा अँग्रेजों के विरुद्ध रोष को तीव्र किया। 'सेडीशन कमेटी' की रिपोर्ट में कहा गया है कि उन्होंने कुछ कविताएँ आदि पढ़ीं, जिनका आशय था कि "हम शत्रुओं के रक्त से पृथ्वी रंग देंगे, यह शत्रु हमारे धर्म का नाश करने वाले हैं, हम उन्हें मार भगायेंगे, हम उनको मार कर मरेंगे।''''क्या आपको अपनी दासता पर लज्जा का अनुभव नहीं होता''''यह अँग्रेज दुष्ट हैं, गायों तथा बछड़ों की हत्या करते हैं''''मर जाओ किन्तु अँग्रेजों को मार दो''''हमारा देश हिन्दुस्तान है, फिर यहाँ अँग्रेजों का राज्य क्यों ?"[1] तिलक ने दुर्भिक्ष के अवसर पर सहायता कोष की स्थापना की तथा सन् १८९६ में कलकत्ता कांग्रेस में जनता को, यदि वह असमर्थ हो तो लगान भी न देने का आदेश दिया। इतना होते हुए भी तिलक की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने जनता को हिंसा का मार्ग अपनाने के लिए कभी भी प्रेरणा न दी। प्लेग के फैलने पर उन्होंने अपने जीवन को संकट में डाल कर जनता की सेवा की। ऐसे ही वातावरण में रैण्ड तथा आयर्स्ट की हत्या कर दी गयी और चाफेकर बन्धुओं को गिरफ्तार करके फाँसी की सजा दी गयी।

दुर्भिक्ष तथा प्लेग (4)

इन हत्याओं का तिलक से सम्बन्ध न था तथा 'केसरी' में प्रकाशित लेखों में उन्होंने उसका प्रतिवाद भी किया, परन्तु अँग्रेजों ने तिलक को इस घटना के लिए जिम्मेदार ठहराया तथा अँग्रेजी पत्रों ने आतंकवाद को प्रोत्साहन देने के अपराध

तिलक की १८९७ की कारावास यात्रा (5)

1 Sedition Committee Report, p. 2.

में उनके ऊपर मुकद्मा चलाए जाने की माँग की। २७ जुलाई, सन् १८७० को उनको गिरफ्तार करके एक अंग्रेज नवयुवक स्ट्रैची की अदालत में मुकद्मा चलाकर १८ मास का सपरिश्रम कारावास का दण्ड दे दिया गया। इस दण्ड पर सारे देश में शोक प्रकट किया गया तथा न केवल महाराष्ट्र में ही वरन् देश भर में उग्रवादी भावना तीव्र होने लगी।

सूरत की फूट

तिलक को प्रारम्भ से ही उदारवादी नीति में विश्वास न था। वह स्वराज्य-प्राप्ति के लिए एक सुदृढ़ तथा शक्तिशाली नीति अपनाना चाहते थे, परन्तु क्योंकि कांग्रेस की प्रारम्भिक काल में बाग-डोर उदारवादियों के हाथ में थी, इसलिए तिलक को विशेष सफलता न मिल पायी थी। सन् १९०४ के सूरत अधिवेशन में उदारवादियों तथा तिलक और अन्य उग्रवादियों के मध्य तीव्र संघर्ष हो गया, तथा उग्रवादी कांग्रेस से पृथक रहकर सन् १९१५ तक, जबकि वह पुनः कांग्रेस में शामिल हुए, कार्य करते रहे। श्रीमती ऐनीबीसेन्ट ने इसे कांग्रेस के इतिहास में सबसे दुःखद घटना कहा है।[1]

१९०८ का कारावास

सन् १९०८ में, जब देश में बंग-भंग विरोधी आन्दोलन तीव्र हो रहा था, तिलक को राजद्रोह के अपराध में बन्दी बना लिया गया। 'केसरी' में प्रकाशित उनके कुछ लेखों के आधार पर यह मुकद्मा चलाया गया था। बम्बई उच्च न्यायालय में तिलक ने अपने बचाव में २१ घण्टे १० मिनट तक स्मरणीय भाषण किया। उन्होंने 'केसरी' में प्रकाशित लेखों में सरकार द्वारा जो अनुवाद कराया गया था, उस पर आपत्ति की तथा कहा कि उन्होंने एंग्लो-इंडियन समाचार-पत्रों की आलोचना का प्रत्युत्तर मात्र देकर अपने सम्पादकीय कर्त्तव्य का पालन किया था। उनका कहना था कि वे अपने लेखों द्वारा सरकार को संकेत कर उसका ध्यान सुधार करने की ओर आकर्षित करना चाहते थे। न्यायाधीशों ने तथा ९ में ७ जूरियों ने उन्हें अपराधी ठहराकर ६ वर्ष का कारावास दिया तथा १००० रुपया जुर्माना किया गया। निर्णय सुनाने से पहले जज ने जब तिलक को इस बार बोलने का अवसर दिया तो उन्होंने कहा :

"मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि जूरी का निर्णय चाहे जो हो, मैं अपने आपको निश्चित रूप से निर्दोष मानता हूँ। विभिन्न वस्तुओं के भाग्य का संचालन करने के लिए उच्चतर शक्तियाँ हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि जिस आदर्श का मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ, वह ईश्वरेच्छा के अनुसार मेरे स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा मेरे कष्टों से अधिक फलीभूत होगा।"[2]

तिलक को मांडले जेल भेज दिया गया। जेल में तिलक ने दो अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे—"गीता रहस्य" तथा "द आर्कटिक होम ऑफ द वेदाज।" इन ग्रन्थों

1 How India Wrought for freedom, p. 465.
2 Indian Unrest, p. 56.

में तिलक की विद्वत्ता, ऐतिहासिक शोध-प्रवृत्ति, विस्तृत ज्ञान तथा उत्कृष्ट विचारों का परिचय मिलता है।

होम-रूल आन्दोलन

तिलक के मांडले चले जाने के बाद महाराष्ट्र में उग्रवादी आन्दोलन धीमा पड़ गया। सरकार ने अपने प्रतिगामी कानूनों द्वारा भी जनता में आतंक फैला दिया। मांडले से आने पर उन्होंने श्रीमती एनी बीसेन्ट के साथ 'होम-रूल आन्दोलन' में भाग लिया। उन्होंने नारा लगाया, "स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है तथा मैं उसे लेकर रहूँगा।"

तिलक का व्यक्तित्व तथा दृष्टिकोण

तिलक के सम्बन्ध में महात्मा गांधी का कहना है कि वह हिमालय की तरह महान् तथा ऊँचे व्यक्ति थे तथा देश-प्रेम की ज्योति जगाने वाले पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति को अपना जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया। वे एक जन्मजात योद्धा थे तथा उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था—भारत की सोयी हुई आत्मा को गहरी निद्रा से जगा कर फिर से उसके जर्जर कलेवर में प्राणवाहिनी जीवनधारा का संचार किया जाए, जिससे वह पुनः एक बार अपने गौरवशाली अतीत को प्राप्त कर सके। तिलक सन् १९०० से १९१८ तक भारतीय राजनीतिक क्षेत्र के एक महान् नेता थे तथा उनका जनता के ऊपर बहुत अधिक प्रभाव था। सन् १९०८ में जिस समय उन्हें ६ वर्ष का कारावास दण्ड दिया गया तो देश में अनेक स्थानों पर जनता विक्षुब्ध हो गयी। वेलेन्टाइन शिरोल का कहना है कि पुलिस का अच्छा प्रबन्ध होने पर भी "अभियोग के बाद कई बड़े दंगे हुए। कभी-कभी तो इन दंगों ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। कई बार तो आत्म-रक्षार्थ भीड़ पर यूरोपियनों को अपनी पिस्तौल तथा सैनिक-दस्तों को गोली चलानी पड़ती थी।.... दंगों की गुरुता से इस बात का पता चलता था कि न केवल उच्च वर्गीय लोगों के ही ऊपर अपितु समाज के निम्न वर्गों के ऊपर भी तिलक का कितना जोरदार असर था।"[1] सी० वाई० चिन्तामणि का कहना है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। जब कभी भी वह किसी बात के लिए तत्पर हो जाते थे तो फिर पीछे हटना उनके लिए असम्भव था। उन्होंने अपने विचारों एवं कार्यों के लिए अपने समकालीन राजनीतिज्ञों की तुलना में सबसे अधिक कष्ट सहे।[2] वह भारत के पाश्चात्यीकरण के विरोधी थे तथा धर्म में उनकी असीम आस्था थी। भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी श्रेष्ठ एवं महान् है, उसके वह उपासक थे। भारत को अपने गौरवपूर्ण अतीत से वर्तमान अधोगति तक लाने के लिए वह अँग्रेजों को उत्तरदायी समझते थे। वेलेन्टाइन शिरोल[3] ने उन्हें नवीन राष्ट्रवाद (जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म था) का महान् पुजारी तथा शासन के विरुद्ध विद्रोह फैलाने वालों

1 Indian Unrest, p. 56.
2 *Chintamani, C. Y.* : Indian Politics Since the Mutiny, pp.116-18.
3 Indian Unrest pp. 40-41.

में अग्रदूत कहा है। उसके अनुसार वस्तुतः तिलक ही भारतीय अशान्ति के जन्मदाता थे। उनमें संगठन करने की अपूर्व क्षमता थी तथा जिस योग्यता से उन्होंने गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव तथा अन्य समितियों का संगठन करके भारत में राष्ट्रीयता की भावना फैलाने का अथक प्रयत्न किया, वैसी योग्यता उस समय के किसी भी राजनीतिज्ञ में दिखायी नहीं देती।

लोकमान्य तिलक को आधुनिक भारत का कृष्ण अथवा कौटिल्य कहा गया है। उनके विचारों में लक्ष्य के न्याय्य होने पर सब साधन न्याय्य थे। भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए वह प्रत्येक उपाय उचित मानते थे। तिलक का कहना था कि "महापुरुष सामान्य नैतिक सिद्धांतों से ऊपर होते हैं।" गीता का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा, "यदि हम स्वार्थ की भावनाओं से प्रेरित नहीं तो अपने गुरुओं तथा सम्बन्धियों की हत्या में भी कोई पाप नहीं होगा।"[1] तिलक ने इतना होते हुए भी हिंसा का प्रचार नहीं किया परन्तु उन्होंने दूसरों को इस बात के लिए नहीं रोका कि वे जनता को विदेशी शासन के प्रति न भड़काएँ अथवा उनमें हिंसा अथवा क्रान्ति का प्रचार न करें।[2] वह यह समझते थे कि भारत की तत्कालीन परिस्थिति ऐसी थी, जिसमें हिंसा कभी भी सफल न हो सकती थी। मि० मांटेग्यू ने उनके लिए कहा था कि भारत में केवल लोकमान्य तिलक ही वास्तविकता में उग्र राष्ट्रवादी थे।[3] जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि तिलक कभी भी उदारवादियों के विचारों तथा साधनों से सन्तुष्ट न थे। वह राजनीतिक अधिकारों को भिक्षा के रूप में प्राप्त नहीं करना चाहते थे वरन् वह चाहते थे कि कि लोग साहसी, निर्भय, स्वतन्त्र व आत्म-निर्भर बनें। उदारवादी नेताओं तथा उनमें एक महान् अन्तर यह भी था कि जहाँ उदारवादियों ने केवल वाणी का प्रयोग किया तथा वैयक्तिक त्याग करने से भागते रहे, वहाँ तिलक अपने विचारों तथा कार्यों के लिए वैयक्तिक त्याग करने को सर्वथा प्रस्तुत रहे। वह अपने अध्यवसाय, अनुराग, बलिदान, साहस तथा दृढ़ निश्चय के बल पर अपने मार्ग से कभी विचलित न हुए। यही कारण था कि उन्हें अपने उद्देश्यों में बहुत अंशों तक सफलता मिली। जनता ने उनका आदर किया तथा देशभक्तों के वह सिरमौर बने। श्रीमती एनी बीसेंट का कहना है कि यदि उस समय भारत की जनता में राजनीतिक चेतना पर्याप्त मात्रा में रही होती तो वह क्रॉमवेल के समान देश के सफल नायक होते।[4]

---

1 *Ibid.*, pp. 46-47.
2 गुरुमुख निहालसिंह, पृ० १६८।
3 *Chintamani, C. Y.* : op. cit., p. 117.
4 Annie Besant described Tilak as "a statesman and a combatant against autocracy of the most military type......He inherited the fiery traditions of his race, the Marathas, strong brained, strong armed that warred against the great Mughal Empire, and had India been awake he might have played the part of a Cromwell."
(India ; Bond or Free, pp. 158-59)

महाराष्ट्र ने आधुनिक काल में दो महान् राजनीतिज्ञों को जन्म दिया—तिलक तथा गोखले। इन दोनों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि दोनों में बहुत अन्तर था। महात्मा गांधी ने स्वयं इन दोनों की तुलना करते हुए कहा था कि तिलक जहाँ हिमालय के सदृश उच्च तथा अगम्य थे, वहाँ गोखले गंगा की निर्मल धारा के सदृश थे, जिसमें आसानी से गोता लगाया जा सकता है। इन दोनों के विचारों का स्पष्ट तुलनात्मक अध्ययन पट्टाभि सीतारमैय्या ने प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, "गोखले 'नरम' थे तथा तिलक 'गरम'। गोखले चाहते थे कि तत्कालीन विधान में सुधार कर दिया जाए, परन्तु तिलक उसे फिर से बनाना चाहते थे। गोखले को नौकरशाही के साथ काम करना पड़ता था तो तिलक की नौकरशाही से भिड़न्त रहती थी। गोखले कहते थे, 'जहाँ सम्भव हो, सहयोग करो; जहाँ आवश्यक हो, विरोध करो।' तिलक का झुकाव अड़ंगा-नीति की ओर था। गोखले जहाँ शासन तथा उसके सुधार की ओर मुख्य ध्यान देते थे, वहाँ तिलक राष्ट्र तथा उसके निर्णय को सबसे मुख्य समझते थे। गोखले का आदर्श था प्रेम तथा सेवा, पर तिलक का आदर्श था सेवा तथा कष्ट सहना। गोखले विदेशियों को जीतने के उपाय करते थे, तिलक उनको हटाना चाहते थे। गोखले दूसरों की सहायता पर विश्वास रखते थे, तिलक स्वावलम्बन पर। गोखले उच्च वर्ग तथा बुद्धिवादियों की ओर देखते थे, परन्तु तिलक सर्व-साधारण तथा करोड़ों की ओर। गोखले का अखाड़ा था कौंसिल भवन तो तिलक की अदालत थी गाँव की चौपाल। गोखले अँग्रेजी में लिखते थे, परन्तु तिलक मराठी में। गोखले का उद्देश्य था स्वशासन, जिसे योग्य लोग अपने को अँग्रेजी की कसौटियों पर कस कर बनावें, परन्तु तिलक का उद्देश्य था 'स्वराज्य', जो प्रत्येक भारतवासी का जन्मसिद्ध अधिकार है तथा जिसे वह विदेशियों की सहायता या बाधा की परवाह न करते हुए प्राप्त करना चाहते थे। गोखले अपने समय के साथ तथा उपयुक्त थे, तिलक अपने समय के आगे।"[1]

बालगंगाधर तिलक तथा गोपालकृष्ण गोखले

बंगाल—बंगाल में आरम्भ से ही राष्ट्रीय चेतना भारत के अन्य भागों से सर्वाधिक रही है, परन्तु लॉर्ड कर्जन के शासनकाल में जो घटनाएँ घटीं, उनसे बंगाल का झुकाव उग्रवाद की ओर अधिक हो गया। यदि कर्जन ने भारत-विरोधी विचार न व्यक्त किये होते तथा भारतीयों की भावना का आदर किया होता तो सम्भवतः बंगाल का झुकाव उग्रवाद की ओर कदापि न होता।[2] बंगाल में यह उग्रवाद की जो लहर उठी, वह केवल बंग-भंग के रद्द हो जाने पर सन् १९११ में ही रुकी। तत्कालीन विचारकों ने लॉर्ड कर्जन को ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराया

1 *Pattabhi Sitaramayya* : The History of the Congress, p. 166.

2 *Desai A. R.* : The Social Background of Indian Nationalism, p. 306.

है। श्रीमती एनी बीसेंट का मत है कि "लॉर्ड कर्जन द्वारा बोए गए बीजों का अजगर के दांतों की फसल के रूप में पकना निश्चित ही था।"[1] गोखले का भी कहना है कि कर्जन के शासन के अन्तिम दिनों में जनता घोर सन्ताप की स्थिति में थी।

बंग-भंग विरोध

यह पहले भी कहा जा चुका है कि बंग-भंग का विचार केवल एक राजनीतिक धूर्तता थी, जिससे बंगाल में उठती हुई राष्ट्रीयता की लहर पर काबू पाया जा सके। यह पहले भी कहा जा चुका है कि जनता पूर्णरूप से कर्जन के हिन्दू व मुसलमानों में फूट डालने के इरादे को समझ चुकी थी तथा इसके विरोध में स्थान-स्थान पर जो आन्दोलन हुए, उनका सरकार ने केवल दमन ही किया। डॉक्टर जकारिया का भी मत है कि 'यह कार्य अपने उद्देश्य तथा प्रभाव से एक धूर्ततापूर्ण कार्य था।" बंगाली पत्रकार कृष्णकुमार मित्र ने अपनी 'संजीवनी' मासिक पत्रिका में इस सम्बन्ध में लिखा कि यदि शासन बंगाल का विभाजन करने को तैयार है तो देश भर से अँग्रेजी माल का बहिष्कार कर दिया जाए अँग्रेजी माल के बहिष्कार की पृष्ठभूमि में यह धारणा थी कि उनके माल का प्रयोग न कर उन्हें इतनी अधिक हानि पहुँचाई जाए कि वह भारतीयों की भावना का अपमान न करें। ७ अगस्त को बंगाल के प्रमुख जागीरदार कासिम बाजार के महाराज मणिन्द्रचन्द्र नन्दी के सभापतित्व में हुई एक विराट् सभा में जनता ने प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य में केवल देशी कपड़ों का ही प्रयोग करेगी।

१६ अक्तूबर, सन् १९०५ को बंगाल के विभाजन की पूर्व योजना कार्यान्वित कर दी गई। पूर्वी बंगाल तथा आसाम के नये प्रदेश का निर्माण किया गया, जिसमें बंगाल के पूर्वी भाग, ढाका, चटगांव, राजशाही, माल्दा, तथा त्रिपुरा के राज्य ब्रह्मपुत्र तथा सूरमा की घाटी के जिलों के साथ मिला दिये गये। इस भाग का एक पृथक् लैफ्टीनेण्ट गवर्नर नियुक्त किया गया शेष जिले बिहार तथा उड़ीसा के प्रान्तों के साथ बंगाल प्रान्त के नाम से रहे। इस विभाजन से एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि पूर्वी बंगाल में बंगाली भाषा की प्रभुता समाप्त हो गयी तथा कलकत्ता हाईकोर्ट का प्रभाव भी संकुचित हो गया।[2] इसी दिन सारे देश में बंगाल के विभाजन के विरोध में प्रदर्शन किया गया तथा सारे बंगाल में यह दिन उपवास तथा शोक-प्रदर्शन का मनाया गया। इन्द्र विद्यावाचस्पति का कहना है कि इस दिन "घरों में चूल्हे ठण्डे रहे। उपवास के व्रती नर-नारी अपने समीप की नदी या तालाब में स्नान करने

1 She worte, "The seeds sown by Curzon were to ripen into th harvest of dragon-teeth."

(How India Wrought for freedom. p. 26.

2 पूर्वी बंगाल का लेफ्टीनेण्ट गर्वनर सर बैम्पलाइड फुलर तथा पश्चिमी बंगाल के सर एन्ड्र फ्रेजर नियुक्त हुए।

के लिए मानो माता के अंग-भंग का जो पाप हुआ, उसका प्राक्षालन करने गये। सबने एक दूसरे के राखियां बांधकर प्रतिज्ञा की कि मिलकर स्वदेशी का व्यवहार तथा अँग्रेजी माल का बहिष्कार करेंगे, और तब तक आराम से न बैठेंगे, जब तक बंग-विच्छेद को रद्द न करवा लेंगे।"[1] पेरिस के एक भवन के नमूने, Hotel Des Invalides पर एक 'फेडरेशन हॉल' का शिलान्यास किया गया जिसमें बंगाल के सब जिलों की मूर्तियां रखी जानी थीं तथा पृथक् किये हुए जिलों की मूर्तियों को, फिर एक होने के दिन तक, ढका रखना था। बुनकर उद्योग की सहायता के उद्देश्य से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक राष्ट्रीय निधि की स्थापना की। इसके लिए सायंकाल को हुई एक सभा में ७०,००० रुपये सभास्थल पर एकत्रित हो गए। न केवल हिन्दुओं ने वरन् पूर्वी बंगाल के अधिकतर मुसलमानों ने भी विच्छेद का विरोध किया। ढाका के नवाब ने कलकत्ते की एक सभा में विच्छेद की निन्दा की तथा सार्वजनिक घोषणा की कि वह विभाजन को मुसलमानों के लिए भी अहितकर समझते हैं। बंग-विच्छेद आन्दोलन राजनीतिक तो था ही, परन्तु इसने शीघ्र ही धार्मिक रूप भी धारण कर लिया। बंगवासियों ने इस विच्छेद को ऐसा समझा जैसे कसाई उनकी बंगमाता को छुरे से दो हिस्सों में काट रहा है। वे अपनी फरियाद लेकर काली के मन्दिर में पहुंचे तथा काली से माता के कष्टनिवारण की भीख मांगने लगे। संन्यासी, गृहस्थ, विद्यार्थी सब एकमत होकर 'वन्देमातरम्' गाते फिरते तथा विदेशी कपड़ों की दूकान पर धरना देते या होली जलाते। शासन ने 'वन्देमातरम्' गीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया था आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार करना प्रारम्भ कर दिया। इससे उत्तेजना कम न हुई वरन् अधिक बढ़ी तथा जब पूर्वी बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर फुलर ने कहा कि "हिन्दू तथा मुसलमान उनकी दो पत्नियां थीं, जिसमें से वह मुसलमान को अधिक चाहता था।"[2] तो जनता की भावनाएं बहुत अधिक आहत हुईं। सरकार ने दमन नीति अपनायी, परन्तु आग बुझने के बदले अधिक भड़की। अश्विनीशंकर दत्त जैसे स्वदेशी के प्रचारकों को देशद्रोह का अपराध लगाकर परेशान किया गया। दुकानों पर धरना देने वालों को कठोर दण्ड दिया गया, जिससे दूसरे वैसा ही कार्य करने से डर जावें। स्कूलों के अध्यक्षों को सरकार की ओर से आदेश दिए गए कि यदि उनके विद्यार्थी आन्दोलन में भाग लेंगे तो उन्हें सरकारी सहायता न दी जायगी। उनके विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति के लिए प्रतियोगिता में बैठने का अधिकार न होगा

---

1 भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० १०३।

The Swadeshi vow ran as under : Invoking God almighty to be our witness and standing in the presence of after generations, we take this solemn vow that, so far as practicable, we shall use home made articles and abstain from the use of foreign articles, "So God help us". (A Nation in Making, p. 228.)

2 *Ibid*, p. 218.

तथा विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें अंगीकार न किया जायेगा।[1] कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' ने लिखा कि इन आदेशों का प्रभाव उल्टा ही होगा तथा देश पर मरने वालों की एक सेना तैयार हो जायगी।[2] सरकार के इन आदेशों के विपरीत आन्दोलन रुकने के बजाय बढ़ता ही रहा।[3] अप्रैल सन् १९०६ में वारीसल में बंगाल के प्रान्तीय सम्मेलन के लिए एकत्रित हुए प्रतिनिधियों पर पुलिस ने हमला कर सम्मेलन को भंग कर दिया।[4] पूर्वी बंगाल की सरकार ने मुसलमानों को प्रश्रय देने की जो नीति अपनायी तथा हिन्दुओं पर जो अत्याचार किए, उससे बंगाल में धार्मिक झगड़े शुरू होगये।[5] साम्प्रदायिक विष शासन की प्रत्येक शाखा में घुस गया। संक्षेप में, जैसे-जैसे सरकार ने दमन-नीति अपनायी, वैसे ही वैसे बंगाल में उग्र दल की बड़े वेग से वृद्धि हुई।

बंग-विच्छेद आन्दोलन ने न केवल बंगाल को वरन् भारत को नेताओं के रूप मे दो अनुपम विभूतियाँ—विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष प्रदान कीं। इनके अतिरिक्त नवयुवक-वर्ग मे अन्य कई लोगों ने इस आंदोलन को सफल बनाने में अथक प्रयत्न किया। इनमें से प्रसिद्ध हैं अरविन्द घोष के भाई बीरेन्द्र घोष, अश्विनीकुमार दत्त आदि।

अरविन्द घोष

अरविन्द घोष का जन्म बंगाल के उच्च ब्राह्मण घराने में हुआ तथा उन्होंने मैन्चेस्टर, लन्दन तथा केम्ब्रिज मे शिक्षा पायी। वह इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में भी आ गए, परन्तु कहा जाता है कि क्योंकि उनकी रुचि ब्रिटिश सरकार की सेवा करने की नहीं थी तथा उनके घरवाले चाहते थे कि वह उच्च पद पर काम करें, फलतः अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए वह घुड़सवारी की परीक्षा में जानबूझ कर अनुत्तीर्ण हो गए यद्यपि राजनीतिक-क्षेत्र में उन्होंने बहुत थोड़े दिनों काम किया, परन्तु फिर भी वह स्वतन्त्रता संग्राम के महान् सेनानी समझे जाते हैं। गुरुमुख निहालसिंह के मत में वह राजनीतिक आकाश में एक चमकीले उल्का के समान प्रकट हुए तथा लुप्त हो गए। कलकत्ते में चलायी गयी एक राष्ट्रीय संस्था के वह प्रिन्सीपल बने तथा उन्होंने 'वन्देमातरम्' पत्र प्रकाशित किया। श्री अरविन्द की धारणा थी कि राजनीति धर्म का ही एक अंग है तथा धर्म का परित्याग मृत्यु से भी बुरा है। यही कारण था कि वह अपने समय के अन्य राजनीतिज्ञों से भिन्न थे तथा उनकी राजनीति धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत थी। लोकमान्य तिलक की भाँति वह गर्म थे, परन्तु उनकी गर्मी आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत थी। गोखले तथा उनकी कोटि के राज-

---

1 *Ibid*, p. 204.
2 *Ibid*, p. 205.
3 *Ibid*.
4 *Ibid*, p. 219.
5 Ref. *Nevinson* : The New Spirit in India, pp. 193-98.

नीतिज्ञों से उनका स्पष्ट विरोध था। वह यह मानने के लिए तत्पर न थे कि अंग्रेज स्वभावतः स्वतन्त्रता प्रेमी अथवा उदार होते हैं तथा वह माँगने पर स्वराज्य दे देंगे। राजनीति में अरविन्द आयरलैण्ड की 'सिनफेन पार्टी' के कार्यक्रम में विश्वास रखते थे। कुछ आतंकवादी कार्यों के लिए उन्हें गिरफ्तार करके उन पर मुकदमा चलाया गया, परन्तु जिन अपराधों के लिए उन्हें गिरफ्तार किया गया था, वह सिद्ध न हो सके और उन्हें छोड़ दिया गया। क्योंकि वह अंग्रेजों के चंगुल में पुनः न फँसना चाहते थे तथा उनकी वृत्ति आध्यात्म्य की ओर अधिक थी, अतः वह ब्रिटिश भारत त्याग कर पांडिचेरी चले गए और राजनीति से संन्यास लेकर वहाँ उन्होंने योग आश्रम की स्थापना की। ५ दिसम्बर, सन् १९५० में उनकी मृत्यु हो गयी।

विपिनचन्द्र पाल

विपिनचन्द्र पाल स्वराज्य की प्राप्ति के लिए उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित साधनों से सहमत न थे। उन्होंने कांग्रेस में सन् १८८७ में प्रवेश किया। वह बहुत प्रभावशाली वक्ता तथा लेखक थे। उन्होंने 'न्यू इण्डिया' का सम्पादन किया तथा उनके लेख अरविन्द घोष के 'वन्देमातरम्' में भी प्रकाशित हुआ करते थे। वह तिलक तथा लाला लाजपतराय के सहयोगी थे तथा उन दिनों गर्म दल की यह त्रिमूर्ति 'बाल-लाल-पाल' के नाम से विख्यात थी। उन्हें बंगाल में तिलक का जोरदार सेनापति भी कहा जाता था। सूरत-विच्छेद के बाद वह प्रथम महायुद्ध तक कांग्रेस से अलग रहे: जनता के ऊपर उनका अपूर्व प्रभाव था तथा इसी कारण सरकार भी उनसे डरती थी। वह निष्क्रिय विरोध विचारधारा (Passive Resistance School) के जन्मदाता थे तथा पूर्ण स्वराज्य में विश्वास रखते थे। उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका में भी भ्रमण किया तथा वहाँ के निवासी उनके भाषणों एवं लेखों से काफी प्रभावित हुए। वह गांधीजी की नीतियों में आस्था नहीं रखते थे। विपिनचन्द्र पाल ने औपनिवेशिक स्वराज्य को भी अव्यवहार्य बताया। उन्होंने कहा कि हमें स्वतन्त्रता अंग्रेजों से दान के रूप में नहीं प्राप्त करनी है, अपने प्रयत्नों से प्राप्त करनी है। उन्होंने इसके लिए जो साधन बताए, वह निम्न थे—स्वदेशी का प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, निष्क्रिय विरोध तथा सरकारी नौकरियों का बहिष्कार।

अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल आदि द्वारा स्थापित राष्ट्रीय दल को प्रारम्भ में काफी सफलता मिली, परन्तु बाद में सरकार की दमन-नीति के लिए कार्य करना असम्भव हो गया। इसके अतिरिक्त बंगाल में शीघ्र ही क्रान्तिकारी दल अस्तित्व में आ गया तथा इन लोगों के कार्य पृष्ठभूमि में पड़ गए।

पंजाब - यह पहले भी कहा जा चुका है कि बंग-विच्छेद का प्रभाव केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा वरन् सारे भारत के राजनीतिक वातावरण पर हुआ। पंजाब के निवासी तिलक के व्यक्तित्व तथा 'केसरी' के लेखों से भी प्रभावित होकर उग्रवाद की ओर झुक रहे थे। यद्यपि, जैसा लाला लाजपतराय ने अपनी

आत्मकथा में लिखा है, "प्रारम्भ में पंजाब उस आन्दोलन से बहुत कम प्रभावित हुआ, परन्तु शीघ्र ही ऐसे कारण उपस्थित हो गए, जिन्होंने उस लड़ाकू जातियों के प्रान्त में असन्तोष की बहुत प्रचण्ड अग्नि उत्पन्न कर दी। उस अग्नि की ज्वालाएँ इतनी ऊँची उठीं कि कुछ समय के लिए अन्य सब प्रान्त ठण्डे प्रतीत होने लगे। सन् १९०६ के प्रारम्भ होते ही पंजाब के शान्त वातावरण में भी गर्मी दीखने लगी। लाहौर में एक अंग्रेज पत्रकार ने अपने एक नौकर को गोली मार दी, तथा जब मुकद्दमा चला तो जूरी ने घोषित किया कि अंग्रेज ने जान-बूझ कर हत्या नहीं की थी, वरन् गोली अचानक चल गयी थी। जज ने हत्यारे को केवल छह मास कारागार का दण्ड दिया। रावलपिंडी स्टेशन पर भी अंग्रेज स्टेशन-मास्टर ने एक हिन्दू स्त्री के साथ, जो एक गाड़ी से उतर कर दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा कर रही थी, बलात्कार किया। जब उस पर अभियोग चला तो वह इसलिए छोड़ दिया गया कि जो कुछ हुआ था, रजामन्दी से हुआ था। पंजाब कौंसिल में रखने के लिए सरकार ने दो बिल भी प्रकाशित किए। पहला बिल लायलपुर की जमींदारियों के सम्बन्ध में था। सरकार जमीन की शर्तों में कुछ ऐसे परिवर्तन करना चाहती थी, जिससे जमींदारों को हानि होती। दूसरे बिल का उद्देश्य था कि पंजाब में खत्री, बनिया आदि व्यापारी जातियों के लोग जाट, अराईं आदि कृषि प्रधान जातियों से भूमि न क्रय कर सकें। इससे भी लोगों में उत्तेजना फैली, क्योंकि इन जातियों के ऊपर लोगों के करोड़ों रुपये ऋण थे तथा वह जमीन के अलावा अन्य किसी रूप में नहीं वसूल हो सकते थे। इन बातों के अतिरिक्त जब सरकार ने जल-कर में वृद्धि करने का निश्चय किया तो उसने जलती आग में घी का काम किया। इधर सरकार तथा गोरे अखबारों की ओर से जो बातें प्रकाशित की जा रही थीं, वह भी क्षोभ उत्पन्न करने वाली थीं। लाहौर का 'सिविल-मिलिटरी गजट' भारत के शिक्षित समाज को अंग्रेजी मुहावरेदार गालियों से विभूषित किया करता था।[1] अप्रैल, सन् १९०७ में जब सरकार ने "पंजाबी" अखबार के मालिक लाला जसवन्तराय तथा सम्पादक आठवले को "पंजाबी" अखबार के मालिक लाला जसवन्तराय तथा सम्पादक आठवले को क्रमशः छह मास का कठोर कारावास तथा १०००) रु० जुर्माना तथा छह मास का कठोर कारावास तथा २००) रु० जुर्माना किया तो लाहौर में बड़ा हंगामा फैला।[2] लाहौर में कई अंग्रेजों पर छुट-पुट आक्रमण किए गए। उसी दिन सौभाग्यवश गोखले भी लाहौर पहुँचे। वहाँ जनता ने जोश तथा उत्साह के साथ उनका स्वागत किया तथा उससे प्रभावित हो गोखले ने

1. "Babbling B. A.'s." "Base-born B.A.'s," "Serfs," "Beggars on Horseback," "Service Classes," "a class that carries a stigma," etc.
2. "पंजाबी" अखबार ने बेगार के मामले में एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित की थी। एक सरकारी कर्मचारी ने दो गाँव वालों से बलात् काम कराया तथा उस बेगार के कारण उन दोनों की मृत्यु हो गयी थी।

भी कहा, "मैं अपने देशवासियों की महत्वाकांक्षा पर कोई सीमा-रेखा नहीं खींचना चाहता। हम अपने देश में वही दर्जा चाहते हैं जो दूसरों को अपने देश में प्राप्त है।" लाला लाजपतराय व अजीतसिंह ने सारे पंजाब में सरकार की कार्यवाहियों की निन्दा की तथा सरकार ने जब और कोई उपाय न देखा तो सन् १८१८ के पुराने तथा कुटिल कानून के अन्तर्गत दोनों को भारत से निर्वासित कर दिया।

उग्र राष्ट्रवाद के विकास की कहानी अधूरी ही रह जाएगी, यदि लाला लाजपतराय के व्यक्तित्व तथा कार्यों की चर्चा न की जाय।

लाला लाजपतराय

सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में लालाजी का प्रवेश एक धार्मिक तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में हुआ। उनके भक्त उन्हें 'पंजाब केसरी' कहते थे तथा उनमें अनुपम वक्तृता-योग्यता, अथक परिश्रम करने की शक्ति तथा आश्चर्यजनक निर्भयता थी। वह डी० ए० वी० कालेज के संस्थापकों में गिने जाते थे तथा समाज-सेवा के क्षेत्र में दुर्भिक्ष-पीड़ितों, अनाथों, दलितों आदि की भलाई के लिए जो कार्य उन्होंने किया वह सर्वविदित है। वह सर्वप्रथम सन् १८८८ में प्रयोग में हुए इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन में पंजाब के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए तथा सन् १९०५ में बनारस कांग्रेस के अवसर पर तिलक के साथ मिलकर उन्होंने इंगलैंड के युवराज का भारत में स्वागत का जोरदार विरोध किया। तब से वह भारतीय राजनीति के उच्च स्तर पर आ गए। कांग्रेस में उनकी भाषण-शक्ति का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जब उसकी ओर से भारत के ऊपर प्रकाश डालने के लिए प्रतिनिधियों को भेजने का प्रश्न आया तो गोखले के साथ लालाजी भी मनोनीत किए गए। सी० वाई० चिन्तामणि ने उनकी वक्तृता शक्ति के बारे में लिखा है, "एक सार्वजनिक वक्ता के रूप में मैं लॉयड जार्ज तथा लाजपतराय दोनों का एक साथ स्मरण करता हूँ। जनता के रोष को जाग्रत कर देने की दोनों में समान क्षमता थी।"[1] इंगलैंड में लालाजी के भाषणों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा तथा लौटने पर वह पूरी तरह से राजनीति में घुस गए। कलकत्ता में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुये अधिवेशन में आपका झुकाव अधिकतर गर्म दल की ओर ही था, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर वह दोनों दलों में सुलह कराने की भी चेष्टा करते रहते थे, जो उनकी बुजुर्गी का सबूत था। "उनका हृदय तिलक के साथ था, परन्तु दिमाग गोखले की ओर झुकता था," और यही कारण है कि आवश्यकतानुसार वह दोनों दलों में समझौता कराते रहते थे।[2] लाला लाजपतराय का विश्वास था कि यदि भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपने पैरों पर ही खड़ा होना पड़ेगा। अपने विचारों तथा कार्यों के लिए उन्हें कठिन यातना

---

1 "As a public speaker I think of Lloyd George and Lajpat Rai together. They had equal capacity for rousing the indignation of the masses." (Indian Politics Since the Mutiny, p. 112.)

2 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ११० ।

सहनी पड़ी। सन् १९०७ में उन्हें बिना किसी अपराध के देश से निर्वासित कर दिया गया। लौट कर आने पर मानहानि के लिए उन्होंने दो पत्रों पर मुकद्दमा चलाया, जिसमें से एक लन्दन से प्रकाशित होता है। दोनों ही मुकद्दमों में उनकी विजय हुई। सूरत-विच्छेद के उपरान्त यद्यपि उनका झुकाव नर्म दल की ओर अधिक हो गया था परन्तु फिर भी सरकार उन्हें खतरनाक समझती थी। सरकार की नाराजगी के कारण प्रथम महायुद्ध के अन्त तक वह देश के बाहर अमेरिका में रहे। वहाँ से लौटने पर गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में आपने भाग लिया, परन्तु वह गाँधीवादी नीतियों से सन्तुष्ट न थे। साम्प्रदायिक प्रश्न पर भी आप उदारवादियों से सहमत न थे। सन् १९२० में आप कांग्रेस-अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए। मांटफोर्ड-सुधारों के बाद कौंसिल-प्रवेश के सम्बन्ध में उन्होंने "स्वराज्य दल" की नीति का समर्थन किया। साइमन कमीशन विरोधी आन्दोलन में भी आपने भाग लिया तथा लाहौर में जब आप प्रदर्शन का नेतृत्व कर रहे थे तो पुलिस की लाठियों के प्रहार के कारण फिर अधिक समय तक जीवित न रह सके। अपने अन्तिम भाषण में उन्होंने कहा कि 'मुझ पर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश साम्राज्य के कफन में कील बन कर रहेगा।" उनकी मृत्यु पर महात्मा गांधी का कहना था, "भारतीय गगनमण्डल से एक महान् नक्षत्र का लोप हो गया। उनकी मृत्यु से दुःखी होने के बजाय हमें उनके अदम्य साहस, आदरणीय चरित्र, परिश्रम तथा देश-प्रेम के गुणों से प्रेरित होकर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये।"

कांग्रेस तथा उग्र राष्ट्रवाद—जिन कारणों से भारत में उग्रवादी विचारों का प्रसार हुआ, उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। लाजपतराय अपने उदारवादियों के साधनों में आस्था नहीं रखते थे तथा स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। कांग्रेस के भीतर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय आदि उग्रवादी नेताओं ने एक अलग पक्ष बनाया। गोखले का भी कहना था यदि अँग्रेजी शासन तथा कर्जन ने भारतीयों की भावना का ध्यान रखा होता तो इस पक्ष का प्रादुर्भाव ही न होता. इस सम्बन्ध में मि० नेविन्सन ने, जो 'मैनचेस्टर गार्जियन" के संवादाता थे, कहा, "लॉर्ड कर्जन के शासनकाल के अन्तिम तीन वर्षों में जनता में घोर उत्तेजना आयी। सन् १९०५ के निर्वाचन में इंगलैण्ड में लिबरल दल की विजय ने जनता में कुछ आशा उत्पन्न की, परन्तु सरकार की नीति में कोई परिवर्तन न देखकर, शिक्षित वर्ग का अँग्रेजों की न्यायप्रियता से विश्वास हटने लगा। नवयुवक वैधानिक आन्दोलन पर, जिसका परिणाम बंगाल का विभाजन निकला, सन्देह करने लगे। इस प्रकार उग्र पक्ष को भारतीय राजनीति में जन्म मिला।"[1] प्रारम्भ में कांग्रेस के भीतर उग्रवादियों की संख्या यद्यपि न्यून थी, परन्तु फिर भी जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। जनसाधारण के ऊपर तिलक

1 *Nevinson* : The New Spirit in India, p. 226.

तथा लाजपत राय का बहुत अधिक प्रभाव था। उग्रवादी इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि कांग्रेस ब्रिटिश शासन सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाए तथा सरकार के विरुद्ध सक्रिय-विरोध की तथा आत्म-निर्भरता की नीति अपनाए। उग्रवादियों को उद्योगपतियों का भी सहयोग प्राप्त था क्योंकि वह सरकार की आर्थिक नीतियों से असन्तुष्ट थे।

सन् १९०५ की कांग्रेस

सन् १९०५ में जब कांग्रेस का इक्कीसवां अधिवेशन हुआ, बंगाल में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन शुरू हो चुका था। लॉर्ड मिन्टो, जो कुछ समय पूर्व वॉयसराय बनकर आए थे, यह भय करने लगे थे कि सन् १९०६ की जनवरी में प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन पर कहीं उग्रवादी विरोधी प्रदर्शन न करें। उन्होंने गोखले से इस सम्बन्ध में निवेदन किया कि वह स्थिति को सँभालने का प्रयत्न करें। उग्रवादियों ने कांग्रेस में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी के प्रचार के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तथा कांग्रेस के अध्यक्ष गोखले ने भी स्वदेशी के सम्बन्ध में उत्कृष्ट वक्तृता दी। उन्होंने कहा, "मातृभूमि के प्रति भक्तिभाव, जो स्वदेशी में सर्वोच्च रूप मे प्रतिष्ठित है, इतना गुरु गम्भीर तथा इतना उत्तेजक है कि इसका विचार मात्र ही स्फुरित पैदा कर देता है, तथा इसका यथार्थ संस्पर्श व्यक्ति के मनःशिखर को उच्च से उच्च उठा देता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत में इस भक्ति-भाव का अमीर-गरीब में, राजा तथा रंक में, नगर तथा ग्राम में प्रचार किया जाए, जब तक हम में मातृभूमि गे सेवा करने का भाव सर्वोच्च रूप में जाग्रत न हो जाए।"[1] जिस समय प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन पर प्रदर्शन न करने के सम्बन्ध में विचार किया गया, बंगाल के उग्रवादी प्रतिनिधियों ने इसका विरोध किया, परन्तु गोखले ने महाराष्ट्र तथा पंजाब के उग्रवादी नेताओं से प्रार्थना की कि वह बंगाल के प्रतिनिधियों को राजी कर लें। गोखले ने स्वयं कर्जन के शासन की औरंगजेब के शासन से तुलना की तथा बंगाल के विभाजन के विरोध में जोरदार भाषण देकर बंगाल के प्रतिनिधियों को राजी कर लिया।[2]

उग्रवादियों तथा उदारवादियों में परस्पर विरोध शनैः शनैः बढ़ता ही

---

1 Quoted by Annie Besant in How India Wrought for freedom, p. 419.

2 Gokhale said "The tremendous upheaval of popular feeling which has taken place in Bengal in consequence of the partition, will constitute a landmark in the history of our national progress ......Bengal's heroic stand against the progression of a harsh and uncontrolled bureaucracy has astonished and gratified all India···" (Quoted by Annie Besant : *op. cit.*, pp. 418-19.)

कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन, सन् १९०६

गया। बंग-विच्छेद होने से बंगाल की राजनीति में उबाल आ गया। सन् १९०६ में कलकत्ता में जब कांग्रेस का बाईसवां अधिवेशन हुआ तो उदारवादियों तथा उग्रवादियों दोनों में काफी संघर्ष रहा। सी० वाई० चिन्तामणि ने इस सम्बन्ध में लिखा—

"दोनों दलों (नरम तथा गरम) में जो मतभेद था, उसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी तथा सन् १९०६ के शीतकाल तक यह ऐसा उग्र हो गया कि ८२ वर्ष में वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी को इंगलैण्ड से भारत बुलाकर अध्यक्ष बनाने के अतिरिक्त कांग्रेस का अधिवेशन करना असम्भव प्रतीत हो रहा था। दादाभाई की प्रभावपूर्ण अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, वह महान था, परन्तु विषय निर्वाचन समिति के बारे में कहा जा सकता है कि मैंने जितने अधिवेशन देखे हैं, वह उनमें सबसे अधिक कोलाहल तथा विद्रोह से पूर्ण था। वृद्ध नेताओं के प्रति जो अभद्रता दिखाई गयी, उसे देखकर दुःख होता था। असहिष्णुता का बाजार गर्म था तथा बड़े से बड़े सम्मानित नेता यदि अपनी बात सुना सके तो केवल अपनी दृढ़ता से अन्यथा वह सुना ही नहीं सकते थे। अन्त में समझौता करना पड़ा और वह भी भारत के भीष्म पितामह (दादाभाई) के प्रभाव तथा प्रयत्न से ही हो सका। उस समय तो समझौता हो जाने के कारण कांग्रेस का अधिवेशन टूटने से बच गया, परन्तु परिणाम अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि दोनों पक्ष उस समझौते की अपने अनुकूल व्याख्या करते रहे तथा पुराने नेताओं के विरुद्ध कटु आन्दोलन वर्ष भर होता रहा, जिसके नेता श्री तिलक थे।"[1]

दादाभाई ने इस अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए दूरदर्शिता से काम लिया। वह यह समझते थे कि उग्रवादियों का पूर्णतया विरोध करना मूर्खता होगी। उनके परिश्रम से उग्रवादियों के चार मुख्य प्रस्ताव स्वीकृत हो गए।[2] दादाभाई ने

---

1 *Chintamani* : *op. cit.*, pp. 8ı -81.

2 सन् १९०६ की कांग्रेस में जो चार प्रस्ताव स्वीकृत हुए वे निम्न हैं—

(अ) **बहिष्कार**—क्योंकि भारत की वर्तमान सरकार शासन-कार्य में प्रजा की सम्मति की कोई परवाह नहीं करती, इस कारण यह कांग्रेस बंग विच्छेद के विरोध के रूप में प्रारम्भ किए गए विदेशी वस्तु बहिष्कार आन्दोलन का समर्थन करती है।

(ब) **स्वदेशी**—यह कांग्रेस देशवासियों से जोरदार अनुरोध करती है कि वह देश में तैयार की हुई स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार किया करें।

(स) कांग्रेस की माँग है कि ब्रिटिश सरकार भारत में औपनिवेशिक पद्धति की शासन प्रणाली-प्रचलित करे तथा उसके लिए शीघ्र से शीघ्र कदम उठाए।

(द) कांग्रेस सरकार शिक्षा सम्बन्धी नीति को अत्यन्त दोषपूर्ण समझती है तथा सरकार से अनुरोध करती है कि वह भारत की शिक्षा-पद्धति पर लगाए गए सरकारी प्रतिबन्धों को हटा कर उसे राष्ट्रीय रूप में पनपने का अवसर दे।

स्वयं कांग्रेस के मंच से 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग कर स्पष्ट रूप में इसे भारत का अन्तिम राजनीतिक लक्ष्य घोषित किया। अपने भाषण का प्रारम्भ उन्होंने इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री सर हैनरी कैम्बल बैनरमैन के इस प्रसिद्ध वाक्य से किया कि "सुराज्य किसी भी दशा में स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं हो सकता। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि केवल जनता के अपने स्वतन्त्र शासन से ही देश के कष्टों का निवारण हो सकता है। इससे पूर्व कांग्रेस केवल सरकारी कर्मचारियों की खुशामद करके ही अधिकार प्राप्त करना चाहती थी, परन्तु दादाभाई ने एक दूरदर्शी ऋषि की भाँति समय की गति को पहचाना तथा नवयुवकों के मन को जीत लिया। उन्होंने अपने भाषण में ग्लैडस्टन के शब्दों का भी प्रयोग किया, "स्वतन्त्रता हमारे जीवन की श्वास है। हम स्वतन्त्रता चाहते हैं''' '''हम दया की भिक्षा नहीं माँगते, हम न्याय चाहते हैं।"[1]

यद्यपि दादाभाई नौरोजी की दूरदर्शिता से सन् १९०६ की कांग्रेस में ही उग्रवादियों एवं उदारवादियों के मध्य सम्बन्ध-विच्छेद होने से बच गया, परन्तु

सूरत-विच्छेद, सन् १९०७

सन् १९०७ के सूरत अधिवेशन में यह मतभेद अपनी चरम स्थिति को पहुँच गया। यद्यपि उग्रवादी कांग्रेस से 'स्वराज्य' के लक्ष्य की घोषणा करवा सकने में समर्थ हुए थे, पर कांग्रेस स्वराज्य के लिए आन्दोलन चलाने में असमर्थ रही। उदारवादी नेता सरकार की शक्ति का ढिंढोरा पीट कर कोई भी उत्तेजनापूर्ण कार्य न करना चाहते थे। उग्रवादी समझने लगे थे कि उदारवादी सरकार के विरुद्ध किसी भी प्रकार का सक्रिय आन्दोलन नहीं करना चाहते हैं। उग्रवादी न केवल विदेशी वस्तुओं का ही बहिष्कार चाहते थे वरन् वह तो सरकारी नौकरियों तथा संस्थाओं का भी बहिष्कार करना चाहते थे। इसी बीच लॉर्ड मिन्टो ने प्रशासनीय सुधारों के सम्बन्ध में घोषणा करके दोनों पक्षों के विभेद को तीव्र कर दिया। उग्रवादी सूरत कांग्रेस का सभापति लोकमान्य तिलक को बनाना चाहते थे, परन्तु उदारवादी, जो कांग्रेस में बहुमत में थे, इस प्रस्ताव के विरुद्ध हो गए। तिलक को संघर्ष में पड़कर सभापति निर्वाचित होना अच्छा नहीं प्रतीत हुआ। उन्होंने लाला लाजपतराय का नाम प्रस्तुत कर दिया। लालाजी मांडले से तभी वापस लौटे थे। उन्होंने भी झगड़े में नहीं पड़ना चाहा तथा अपना नाम वापस ले लिया। फलतः इस कांग्रेस के अध्यक्ष रासबिहारी घोष निर्वाचित हुए। उग्रवादियों ने इस निर्वाचन का विरोध किया। उनका विश्वास था कि पिछली कांग्रेस में बहिष्कार तथा स्वदेशी सम्बन्धी प्रस्ताव को उदारवादी मुलायम करना चाहते हैं। प्रारम्भ से ही कांग्रेस का अधिवेशन अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण वातावरण में शुरू हुआ। पहले दिन की कार्यवाही में इतना शोर हुआ कि कार्यवाही स्थगित करनी पड़ी। अगले दिन तक सुलह के प्रयत्न जारी रहे, परन्तु कोई सफलता

---

1 "Freedom is the breath of our life......we stand for liberty. Our policy is the policy of freedom."

न मिली। जिस समय अध्यक्ष सम्बन्धी प्रस्ताव पंडित मोतीलाल नेहरू ने दिया तथा रासबिहारी घोष सभापति का आसन ग्रहण करने के लिए बढ़े, पंडाल में शोर-गुल मच गया। तिलक ने इसका विरोध करते हुए कहा कि निर्वाचन गलत हुआ है। वह मंच पर सभापति तथा सभापति के सामने रखी मेज के बीच खड़े हो गए। उन्होंने कहा, "मैंने अध्यक्ष का चुनाव स्थगित करने के लिए एक प्रस्ताव भेजा था, उसे उपस्थित करने आया हूं।" अध्यक्ष ने उसे अवैध घोषित किया तो तिलक ने रासबिहारी घोष से स्पष्ट कह दिया कि "अभी आप चुने नहीं गए हैं। मैं प्रतिनिधियों से अपील करना चाहता हूं।" पंडाल में जितने प्रतिनिधि तथा दर्शक थे, सब खड़े हो गए—शोर तो मच ही रहा था, किसी के हाथ में छड़ी थी तथा किसी के हाथ में कुर्सी। इसी बीच मंच पर किसी ने एक मराठा चप्पल फेंकी जो सर फीरोजशाह मेहता के लगी। थोड़ी ही देर में पुलिस पंडाल में घुस आयी। इसके बाद नरम दल के नेताओं ने पृथक् एक 'कन्वेंशन' किया तथा कांग्रेस का नवीन विधान बनाया, जिससे उग्रवादी उसके भीतर प्रवेश ही न कर सकें। उग्र दल वाले कांग्रेस से पृथक् हो गए तथा केवल सन् १९१६ के बाद ही पुनः कांग्रेस के भीतर आए जब दोनों दलों के मध्य मेल स्थापित हुआ।

सूरत अधिवेशन में जो विच्छेद हुआ, इसने भारतीय राष्ट्रीयता को बहुत बड़ी चोट पहुँचायी। उग्रवादियों ने कांग्रेस से बाहर रह कर अपने कार्यों के लिए अंग्रेजों के घोर अत्याचार सहे। यह केवल परस्पर फूट का ही नतीजा था कि सरकार भी दमन की नीति जोरों से अपनाने लगी। एनी बीसेन्ट ने इस फूट के सम्बन्ध में कहा कि यह अत्यन्त दुःखपूर्ण घटना थी जिसने राष्ट्रप्रेमियों के मध्य विभेद पैदा कर दिया था तथा राष्ट्रीय संस्था को बदनाम किया था।[1]

अंग्रेजी शासन तथा उग्रवाद—उदारवादी क्योंकि वैधानिक साधनों में आस्था रखते थे, अतः शासन उनके आचरणों के प्रति सहिष्णु रहा, परन्तु जब देश में उग्र राष्ट्रवादिता की लहर उठ खड़ी हुई तो सरकार के लिए यह एक कुनैन की गोली के समान हो गए जिन्हें निगलना सरकार के लिए सम्भव नहीं था। उग्रवादियों का सामना करने के लिए सरकार ने दमन की नीति से काम लिया। इस कार्य में सरकार ने रूस के इतिहास से प्रेरणा ली। रूस की सरकार यदि किसी व्यक्ति पर क्रान्तिकारी होने का लेशमात्र भी सन्देह करती थी तो उसे साइबेरिया भेज देती थी। यही नीति अंग्रेजी शासन ने भी अपनायी तथा क्रान्तिकारियों को निर्वासित करने लगी। समय-समय पर सरकार ऐसे कानून निर्माण करने लगी जिनसे लोगों को दण्ड दिया जा सके। 'इण्डियन पीनल कोड' में इसी उद्देश्य से धारा १२४ ए तथा १५३ ए जोड़ी गयी। एक विशेष अधिनियम द्वारा सरकारी कर्मचारियों को यह भी अधिकार दिया गया कि वह जिन राजनीतिक संगठनों को राजद्रोहात्मक समझें, उन पर प्रतिबन्ध लगा दें। राजनीतिक अपराधियों के मामलों की संक्षिप्त सुनवायी

1 *Annie Besant : op. cit.*, p. 465.

की भी व्यवस्था की गयी। सन् १९०१ में लॉर्ड मिन्टो ने सार्वजनिक सभाओं के नियमन' सम्बन्धी अध्यादेश को जारी करके सार्वजनिक सभाओं पर रोक लगा दी। सन् १९१० में सरकार ने 'प्रेस एक्ट' भी लागू किया जिससे प्रेस की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

सरकार की इन सब दमन-नीतियों के उपरान्त भी उग्रवादियों का जोश ठण्डा न पड़ा। सरकार अब यह समझने लगी कि केवल दमन से काम न चलेगा। कुछ गतिविधियाँ ऐसी थीं कि सरकार डरने लगी थी कि कहीं उदारवादी भी उग्रवाद की ओर न झुक जाएँ। अब सरकार ने सोचा कि कुछ सुधार का आश्वासन देकर उदारवादियों तथा मुसलमानों को अपने पक्ष में कर लिया जाए। यही कारण था कि सरकार ने सन् १९०९ में "इण्डियन कौन्सिल्स एक्ट" पास किया। यह सुधार "मिन्टो-मार्लो सुधार" के नाम से विख्यात है। उदारवादियों ने स्वशासन की ओर इसे एक पग समझा, परन्तु इस सुधार-योजना का सबसे बुरा पहलू था साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचनों द्वारा भारतीयों में परस्पर फूट डालना।

उग्रवादियों के साधन—उग्रवादी विचारधारा तत्कालीन उदारवादी विचारधारा के विरुद्ध एक प्रकार का विद्रोह थी। उदारवादी तो यह समझते थे कि भारत अंग्रेजों के साथ मिलकर ही प्रगति कर सकता है; उनके आर्थिक तथा नैतिक हितों के लिए उनका अंग्रेजों से सहयोग करना आवश्यक है, परन्तु कुछ ऐसी राजनीतिक घटनाएँ घटीं जिन्होंने देश का वातावरण विक्षुब्ध कर दिया। उग्रवादियों को महसूस होने लगा कि अंग्रेजों के साथ सहयोग करना और भिक्षा तथा वरदानों के रूप में अधिकार प्राप्त करना नितान्त भ्रामक है। उन्होंने देख लिया था कि उदारवादियों की प्रार्थनाओं ने सरकार पर जरा भी असर न किया था। सरकारी कर्मचारी मनमाना शासन कर रहे थे तथा वह भारतीयों के हितों के सर्वथा विरुद्ध था। इसी को ध्यान में रखते हुए लोकमान्य तिलक ने सन् १९०७ में घोषणा की कि विदेशी शासन भारत के लिए एक अभिशाप सिद्ध हुआ है तथा नौकरशाही के दबाने के लिए प्रबल आन्दोलन करना चाहिए। लोकमान्य तिलक ने एक बार मिस्टर नेविन्सन से, जो 'मेनचेस्टर गार्डियन' के प्रतिनिधि थे, कहा :

"हमें हमारे उद्देश्यों के कारण नहीं, अपितु हमारे कार्य करने के साधनों के कारण उग्रवादी कहा जाता है। वास्तव में एक बहुत छोटी-सी संख्या है जो अंग्रेजी शासन को पूर्णतया तथा तत्काल ही समाप्त कर देने की बात करती है। उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो भविष्य में और बहुत आगे की बात है।"[1]

---

1 "It is not by our purpose, but by our methods only that our party has earned the name of extremists. Certainly, there is a very small party which talks about abolishing the British rule at once and completely. That does not concern us : it is much too far in the future." (The New Spirit in India, p. 226.)

उदारवादियों का राजनीतिक लक्ष्य 'स्वराज्य' की प्राप्ति था, यद्यपि स्वराज्य की यह धारणा दादाभाई द्वारा घोषित स्वराज्य की भावना अथवा गोखले द्वारा समर्थित स्वायत्त-शासन की धारणा से बहुत अधिक भिन्न न थी, परन्तु बंगाल के उग्रवादी महाराष्ट्र के उग्रवादियों से भिन्न थे तथा कहीं अधिक क्रान्तिकारी थे। विपिनचन्द्र पाल का विश्वास औपनिवेशिक स्वराज्य में लेशमात्र भी नहीं था। वह एक ऐसे स्वतन्त्र भारत में आस्था रखते थे जो अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत न रहे वरन् मित्र बन कर रहे। औपनिवेशिक स्वराज्य उनकी दृष्टि में अव्यावहारिक था। वह भारत की स्वतन्त्रता भेंट के रूप में नहीं वरन् विजय के रूप में प्राप्त करना चाहते थे। उनका कहना था, "यदि आज अंग्रेज सरकार मुझसे कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं कहूँगा 'आपकी भेंट के लिए धन्यवाद' पर मैं उसे लूंगा नहीं, जिसे मैं स्वयं अपने हाथों से प्राप्त न कर सका।"[1] उनका यह कहना था कि "हम देश में ऐसे कार्य करेंगे, जनता को ऐसे साधन उपलब्ध करावेंगे, राष्ट्र की शक्ति को इस प्रकार सुसंगठित करेंगे, जनता में स्वराज्य की ऐसी भावना जाग्रत करेंगे कि हम किसी भी शक्ति को, जो हमारे विरोध में खड़ी हो, परास्त करने में सफल होंगे।"[2]

अपने राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए, जिन साधनों का अवलम्बन उग्रवादियों ने किया, वे उदारवादी साधनों से भिन्न हैं। जहाँ उदारवादी ब्रिटिश जनता की जनतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों में विश्वास रखते थे तथा समझते थे कि विशुद्ध वैधानिकवाद का ही आश्रय लेकर भारत को स्वतन्त्र किया जा सकता है, वहाँ उग्रवादी इन उपायों को भ्रामक समझते थे। वह यह समझते थे कि वैधानिक उपायों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आशा रखना अपने आपको धोखा देना है। उनका कहना था कि क्योंकि भारत पराधीन था तथा सरकार जनता के प्रति अपना जरा भी उत्तरदायित्व नहीं समझती थी, अतः जनता की प्रार्थना तथा स्मरण-पत्रों का उस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सकता था। उदारवादियों की नीतियों को प्रायः वह "राजनीतिक-भिक्षावृत्ति" कहते थे। लाला लाजपतराय का कहना था कि हमें भिक्षा के रूप में स्वराज्य नहीं मिल सकता है। सन् १९०५ में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में उन्होंने कहा, 'एक अंग्रेज को भिक्षुक से बड़ी घृणा तथा विरक्ति होती है। मेरे विचार में भिक्षुक है ही इस योग्य कि उससे घृणा की जाए। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम अब अंग्रेजों को दिखा दें कि हम भिक्षुक नहीं हैं। इसीलिए वह कहा करते थे, "हमारा आदर्श भीख माँगना नहीं, वरन् आत्मनिर्भरता है।" सर

1 *V. Chirol* : Indian Unrest, pp. 11-14.

2 B. C. Pal said, "Our programme is that we shall so work in the country, so combine the resources of the people, so organise the forces of the nation, so develop instincts of freedom in the community, that by these means we shall, in the imperative, compel the submission to our will of any power that may set itself against us." (Quoted by *Chirol* : *op. cit.*, p. 11)

हेनरी कॉटन ने अपनी पुस्तक 'न्यू इण्डिया' में उग्रवादियों के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि "भारत में देशभक्तों का एक ऐसा भी दल है जो वैधानिक आन्दोलन को बेकार समझता है, तथा एक पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का प्रचार करता है। उसका उद्देश्य भारत तथा इंगलैण्ड के सभी पारस्परिक सम्बन्धों को पूर्णतया समाप्त कर देना है।" जैसा पहले भी कहा जा चुका है, उदारवादियों ने 'निष्क्रिय प्रतिरोध' की नीति अपनायी। वह बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन आदि द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहते थे। बहिष्कार का अर्थ उनकी दृष्टि में केवल विदेशी वस्तुओं का ही बहिष्कार न था, उनके कार्यक्रम में शासन से असहयोग, सरकारी नौकरियों का बहिष्कार तथा उपाधियों का बहिष्कार भी सम्मिलित था। संक्षेप में, उग्रवादी एक अहिंसात्मक तथा प्रभावशाली आन्दोलन द्वारा जनता में राष्ट्रीय जाग्रति पैदा करना चाहते थे। वह जनता तथा देश में प्रचलित इस विश्वास को कि उनके शासन सर्वान्तर्यामी हैं तथा सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, समाप्त करना चाहते थे तथा वह लोगों में स्वतन्त्रताप्राप्ति के लिए एक असीम उत्साह जाग्रत करना चाहते थे, जिसके लिए चाहे उन्हें कितना ही त्याग तथा बलिदान क्यों न करना पड़े।[1] इस निष्क्रिय प्रतिरोध के सम्बन्ध में विपिनचन्द्र पाल ने कहा, "सरकार के कार्य को कई प्रकार से ठप्प किया जा सकता है। ऐसा सम्भव नहीं कि प्रत्येक डिप्टीमजिस्ट्रेट काम करने से इन्कार कर दे तथा एक व्यक्ति के त्यागपत्र देने पर उसके स्थान पर कार्य करने को दूसरा व्यक्ति न मिले, परन्तु यदि सारे देश में यह भावना हो जाए तो समस्त सरकारी कार्यालयों में हड़ताल की जा सकती है........हम हर उस भारतीय की स्थिति, जो सरकारी कर्मचारी है, ऐसी कर सकते हैं कि जैसे वह भारतीय नागरिक के सम्मान से नीचे गिर गया हो।"[2]

बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन ने जनता में नयी चेतना फूँक दी। यह आन्दोलन केवल एक उग्रवादी आन्दोलन ही नहीं रह गया वरन् एक जनवादी बन गया। लाला लाजपतराय ने इस सम्बन्ध में कहा, "हम सरकारी भवनों से अपने मुखों को हटाकर जनता की झोंपड़ियों की ओर फेरना चाहते हैं। जहाँ तक सरकार से याचना करने का प्रश्न है, हम अपने मुखों को बन्द करना चाहते हैं तथा उन्हें अपनी जनता से एक नयी अपील करने के लिए खोलना चाहते हैं। यही बहिष्कार आन्दोलन का मनोविज्ञान है, यही उसकी नैतिकता तथा आध्यात्मिक महत्ता है।" संक्षेप में उग्रवादियों ने यह दिखा दिया कि उनके पास देश को स्वराज्य दिलाने के लिए एक रचनात्मक कार्यक्रम था। यह केवल कुछ पागल नवयुवकों का हिंसात्मक कार्यों द्वारा मातृभूमि को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन मात्र न था, जैसा कुछ विचारकों का मत है।[1] यह कहना भी असंगत न होगा कि उग्रवादियों द्वारा चलाया गया बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन बाद में महात्मा गांधी, द्वारा चलाये गये असहयोग

1 Quoted by *Lajpat Rai* : Young India, pp. 162-63.
2 Quoted by *Chirol*, pp. 11-12.

आन्दोलन का बीजरूप था। उग्रवादियों के पास शिक्षा सम्बन्धी योजनाएँ भी थीं। यह भारत के नवयुवकों को विदेशी शिक्षा के कुप्रभाव से बचाना चाहते थे। उन्होंने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की योजना बनायी जो राष्ट्र द्वारा नियंत्रित होने के साथ ही देश के हितों के अनुकूल हो तथा नवयुवकों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार करे।

उग्रवादियों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इन्होंने राजनीति को धर्म के साथ समन्वित किया। तिलक, अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल के विचारों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है, परन्तु इन राजनीतिज्ञों द्वारा राजनीति में धर्म का समावेश किया जाना कुछ अंशों तक ठीक भी प्रतीत नहीं होता है। यह भी एक कारण था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति मुसलमान उदासीन हो गये। अंग्रेजी सरकार ने भी मुसलमानों को हिन्दुओं की तानाशाही से बचकर रहने के लिए भरसक प्रेरणा दी। ऐसा होने से अँग्रेजों की फूट डालने की नीति सफल रही।

क्रान्तिकारी विचारधारा—इस अध्याय के प्रारम्भ में ही इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि उग्रवादियों में दो धाराएँ हो गयी थीं। एक तो बाल-लाल-पाल की जो राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति में आस्था नहीं रखते थे तथा निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। ये सरकार के विरुद्ध अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष छेड़ना चाहते थे, परन्तु यह संघर्ष भी शान्तिपूर्ण होना था। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी लोग हुए जिनका विश्वास उग्रवादियों के शान्तिपूर्ण संघर्ष में नहीं था। ये हिंसा तथा आतंक के द्वारा शासकों को भयभीत कर भारत में ब्रिटिश शासन को समूल नष्ट कर देना चाहते थे। जैसे-जैसे ब्रिटिश सरकार दमनात्मक नीति अपनाती, वैसे-वैसे इन क्रान्तिकारियों की हिंसा में आस्था दृढ़ होती जाती थी। इन क्रान्तिकारियों ने यूरोप के क्रान्तिकारियों की प्रणाली का अध्ययन किया था तथा रूस के गुप्त क्रान्तिकारी संगठन से अधिक मात्रा में प्रभावित हुए थे। सरकारी खजाने लूटने के लिए सशस्त्र डकैती, हत्या या बमबाजी करना इनके कार्यक्रम में शामिल था।[1]

महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद

क्रान्तिकारी आन्दोलन का जन्म महाराष्ट्र में हुआ, जिसके फलस्वरूप सन् १८९९ में रैण्ड तथा आयर्स्ट की हत्याएँ हुईं। महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा, विनायक दामोदर सावरकर तथा उनके भ्राता गणेश सावरकर तथा चाफेकर-बन्धु थे। उनका नारा था कि "प्राण देने के पूर्व प्राण ले लो।" ऐसा विश्वास किया जाता है कि रैण्ड की हत्या में

श्यामजी कृष्ण वर्मा

का हाथ था! वह इस हत्या के पश्चात् लन्दन चले गये।[2] सावरकर बन्धुओं ने 'अभिनव भारत समिति' नामक क्रान्तिकारी संस्था की स्थापना

---

1 Ref. *Lala Lajpatrai*, *op. cit.*, p. 163 and pp. 212-213.

2 गुरुमुख निहालसिंह : भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास, पृ० १८३।

की ![1] सन् १९०६ में सावरकर लन्दन चले गये तथा श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ बँटाने लगे। यह दोनों लन्दन से अपने संदेश तथा साहित्य गणेश सावरकर को भेजा करते थे। सन् १९०९ में उन्होंने गणेश सावरकर को पिस्तौलों का एक पार्सल भी भेजा[2] परन्तु उसके पूर्व ही २ मार्च, सन् १९०९ को गणेश सावरकर को सम्राट् के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। गणेश के विरुद्ध अभियोग यह था कि उसने 'लघु अभिनव भारत मेला' नामक शीर्षक के अन्तर्गत सन् १९०८ में एक जोशीली कविताओं का संकलन प्रकाशित किया। इस अभियोग का अन्तिम निर्णय बम्बई उच्च न्यायालय में किया गया तथा ९ जून को उन्हें आजीवन देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया। सन् १९०९ में विनायक दामोदर सावरकर को भी गिरफ्तार करके बम्बई भेजा गया। जिस जहाज से उन्हें भारत भेजा जा रहा था, उससे निकलकर दामोदर समुद्र में कूद पड़े तथा तैरते-तैरते एक फ्रांसीसी बन्दरगाह मार्सेलीज तक पहुँचे। वहाँ उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत सुरक्षा की माँग की, पर उन्हें कैद कर अँग्रेजों के सुपुर्द कर दिया गया। भारत में उन पर बम्बई की सरकार भी कुछ भीषण आक्षेपों के लिए मुकद्दमा चलाना चाहती थी। प्रतिशोध के रूप में एक नवयुवक ने जैकसन को जिसने गणेश सावरकर पर अभियोग चलाए जाने की आज्ञा दी थी, २१ दिसम्बर, सन् १९०९ को पिस्तौल से मार दिया। इस कार्य के लिए सात व्यक्तियों पर मुकद्दमा चलाया गया तथा तीन को प्राणदण्ड मिला।[3] अभिनव समिति की शाखाएँ सारे महाराष्ट्र में फैली हुई थीं, जिनमें नासिक, ग्वालियर, सतारा आदि प्रमुख थे। क्रान्तिकारियों के प्रभाव से तो गुजरात भी न बचा। नवम्बर, सन् १९०९ में अहमदाबाद में लॉर्ड तथा लेडी मिंटो जिस गाड़ी में घूम रहे थे, उसे बम से उड़ाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु यह प्रयास असफल रहा।

बंगाल

बंगाल के विच्छेद की घोषणा से ही बंगाल में क्रान्तिकारी भावना फैल गयी। बंगाल में इस दल के नेता बारीन्द्र कुमार घोष (जो अरविन्द घोष के भाई थे) तथा भूपेन्द्र दत्त (स्वामी विवेकानन्द के एकमात्र छोटे भाई) थे। इस दल का प्रचार 'युगान्तर' तथा 'सन्ध्या' द्वारा होता था। बारीन्द्र नाथ घोष ने सन् १९०२ में ही स्वतन्त्रता के आदर्श के प्रसार के लिए प्रयत्न किया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि देश में बिना राजनीतिक प्रचार के कुछ न होगा तथा संकटों का सामना करने के लिए लोगों को आध्यात्मिक शिक्षण द्वारा समर्थ बनाया जा सकता है।[4] सर्वसाधारण में धार्मिक एवं राजनीतिक प्रचार के लिए उन्होंने १४-१५ नवयुवक कार्यकर्ताओं को

1 वही, पृ० १८४।

2 *Sedition Committee Report*, p. 9.

3 *Ibid.*, p. 10.

4 गुरुमुख निहालसिंह : पृ० १७६।

सन् १६११ को क्रांतिकारियों ने टिनेवली के जिला मजिस्ट्रेट मि० ऐश की हत्या कर दी।

पंजाब

प्रारम्भ में पंजाब में राष्ट्रवादी आन्दोलन वैसा क्रांतिकारी नहीं था, जैसा पंजाब के लेफ्टीनेंट-गवर्नर सर डेनिजल ने बताया था। बंगाल, मद्रास तथा महाराष्ट्र की तरह यहाँ गुप्त समितियों का अभाव-सा था, परन्तु सन् १६०७ में सरदार अजीतसिंह, भाई परमानन्द तथा लाला हरदयाल ने क्रांतिकारियों का संगठन किया।

विदेशों में भारतीय क्रांतिकारी—क्रांतिकारी आन्दोलन न केवल भारत में ही सक्रिय था वरन् भारतीय क्रांतिकारी विदेशों में भी सक्रिय थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उन्होंने लन्दन में इण्डियन 'इंगलैण्ड होमरूल सोसाइटी' की स्थापना की तथा 'इण्डियन सोशियोलोजिस्ट' समाचार-पत्र का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया। श्री एस० आर० राना, जो पेरिस में बस गये थे, के सहयोग से श्यामजी कृष्ण वर्मा ने ६ अध्यापक-वृत्तियाँ तथा ३ छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जिसका उद्देश्य यह था कि भारतीय नवयुवक विदेशों में शिक्षा प्राप्त करके स्वयं को राष्ट्रीय कार्य के लिए तैयार करें। वी० डी० सावरकर ने भी लन्दन पहुँचकर उनका हाथ बँटाया। इण्डिया हाउस इनका कार्यालय था। 'होमरूल सोसायटी' के एक सदस्य ने भारतीय नवयुवकों को मृत्युदण्ड देने तथा उन्हें निर्वासित करने के विरोध में अंग्रेजों का रक्त बहाने का निश्चय किया। इसका नाम मदनलाल ढींगरा था।[1] उसने १ जुलाई, सन् १६०६ को भारतमन्त्री कार्यालय के ए० डी० सी० सर फ्रैंसिस कर्जन को लन्दन के इम्पीरियल इंस्टीट्यूट में गोली मार दी। इसके लिए ढींगरा को प्राणदण्ड दिया गया। 'इण्डिया होमरूल सोसायटी' भी छिन्न-भिन्न कर दी गयी।

यूरोप

यूरोप में भी श्यामजी के नेतृत्व में क्रान्तिकारी सक्रिय थे। पेरिस की मैडम कामा ने भी उन्हें बहुत सहयोग दिया। यह 'वन्देमातरम्' का सम्पादन करती थीं। यूरोप से क्रान्तिकारी भारतीय क्रान्तिकारियों को साहित्य तथा अस्त्र-शस्त्र भी भेजते थे।

अमेरिका

अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन करके सैन-फ्रैंसिस्को से सन् १६१३ में 'गदर' समाचार-पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया। परिस्थितिवश कुछ दिनों बाद उन्हें स्वीट्जरलैण्ड चला जाना पड़ा, परन्तु गदर आन्दोलन में शिथिलता न आयी। वैलेन्टाइन शिरोल ने दो संस्थाओं—'यंग इण्डिया एसोसियेशन' तथा 'इन्डो-अमेरिकन एसोसियेशन' की भी चर्चा की है। इनमें से प्रथम तो एक गुप्त संस्था थी जिसका निर्माण आयरलैण्ड के क्रान्तिकारी दलों की पद्धति के आधार पर हुआ था, तथा दूसरी 'फ्री हिन्दुस्तान' पत्र प्रकाशित करती थी। इन दोनों का सम्बन्ध भारत की क्रान्तिकारी संस्थाओं से था।

1 Sedition Committee Report, p. 9.

४

मुस्लिम सम्प्रदायवाद का उदय तथा मिण्टो-मार्ले सुधार

जहाँ भारतीय राष्ट्रीयता का उद्भव प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में ब्रिटिश शासन का परिणाम था, वहीं भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का प्रवेश भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों की देन था। कांग्रेस की स्थापना एक रक्षा-नली के रूप में, किसी आकस्मिक हिंसक विस्फोट से छुटकारा दिलाने के लिए की गयी थी, परन्तु कांग्रेस ने ही सरकार की नीतियों की आलोचना शुरू कर दी। अंग्रेजों को यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि किसी चाल द्वारा राष्ट्रीयता की वेगवती लहर को रोक दिया जाय। अतः अंग्रेजों ने "फूट डाल कर शासन करने" की नीति को अपनाया। हिन्दू व मुसलमानों, दोनों के मध्य जो जातीय विभेद थे, उनका अंग्रेजों ने लाभ उठाया तथा कालान्तर में ऐसी समस्याएँ खड़ी कर दीं, जिनका परिणाम भारत का विभाजन हुआ। यद्यपि कुछ अंग्रेज लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि साम्प्रदायिता की समस्या के लिए अंग्रेज बिल्कुल भी उत्तरदायी नहीं हैं, परन्तु उनका यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। कूपलैण्ड ने कहा था, "ब्रिटेन ने यह आग न तो सुलगायी तथा न ही उसे जलाये रहने का दानवीय कार्य किया।"[1] द्वितीय गोलमेज परिषद् के अवसर पर गांधीजी ने इस सम्बन्ध में कहा कि भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिश आगमन की समकालिक थी। इससे पूर्व हिन्दू व मुसलमान दोनों ही परस्पर मिलकर रहते थे तथा एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना रखते थे। यद्यपि कभी-कभी दोनों में मतभेद हो भी जाता था, फिर भी दोनों ने एक-दूसरे के साथ सहयोग स्थापित करके मैत्री का एक 'महान् आदर्श उपस्थित किया था। अंग्रेजों ने अपने सम्पूर्ण विख्यात कौशल के साथ, जिसने अभी हाल तक उनकी कूटनीति को संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली बनाये रखा था, अपने आपको हिन्दू तथा मुसलमानों के मध्य खड़ा करके एक ऐसे सांप्रदायिक त्रिभुज की रचना की, जिसके आधार वह स्वयं रहे।"[2] जैसे-जैसे इस आधार में वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे ही दोनों भुजाओं के बीच भी भेद बढ़ता गया।

1 *Coupland :* The Indian Problem (1833-1935), p. 35.
2 *Mehta* and *Patwardhan* : The Communal Triangle, p. 52.

ब्रिटिश शासन में मुसलमानों की अधोगति

अंग्रेज जिस समय भारत आये, उत्तर भारत में मुसलमानों का साम्राज्य था। धीरे-धीरे मुसलमानों के हाथ से शक्ति निकल कर अंग्रेजों के हाथ में आ गयी। ऐसा होने से मुसलमानों के गौरव को धक्का लगा तथा वह अंग्रेजों को अपना शत्रु समझने लगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को यह भय था कि कहीं मुसलमान अपने खोये हुए शासन की पुनः प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करें, इस कारण मुसलमानों का दमन करना प्रारम्भ किया। उन्हें उच्च पद से हटाना शुरू किया गया तथा सरकारी नौकरी से भी वंचित रखा गया। उनके प्रभाव को कम करने के लिए हिन्दुओं को प्रमुखता दी गयी। लॉर्ड एलिनबरो का कहना था कि "यह जाति हमसे शत्रुता रखती है तथा इसी कारण हमारी नीति हिन्दुओं को सन्तुष्ट रखने की थी।"[1] हिन्दुओं की राजभक्ति पाने के लिए अंग्रेज अधिक उन्मुख हुए। इसी कारण भारत में अंग्रेजी शासन का प्रारम्भिक युग 'ऐंग्लो-हिन्दू सहयोग' का युग कहा जाता है।[2] नोमन का भी मत है कि ब्रिटिश शासकों ने यह निश्चित कर लिया था कि उनकी नूतन शक्ति के विस्तार तथा अविच्छिन्नता के हेतु एकमात्र उपाय मुसलमानों का दमन था तथा उन्होंने जान-बूझ कर ऐसी नीतियों का आश्रय लिया जिससे मुसलमानों में बौद्धिक जड़ता आ जाय तथा वह पिछड़े रह जायँ।[3] मुसलमानों ने स्वयं पाश्चात्य शिक्षा का विरोध किया तथा इसी कारण वह हिन्दुओं की तुलना में पिछड़े रह गये। आर्थिक क्षेत्र में भी मुसलमान बरबाद हो गये। हस्तकला-कौशल, कुटीर उद्योगों आदि के नष्ट हो जाने से काफी मुसलमान बेकार हो गये। उनको सरकारी या फौज में नौकरियाँ भी कम ही दी जाती थीं, इसलिए उनकी आर्थिक स्थिति दिन-प्रति-दिन गिरती ही गयी। सर विलियम हंटर ने सन् १८७१ में उनकी दयनीय दशा के सम्बन्ध में लिखा, "अंग्रेजी शासन काल में वह एक विनष्ट जाति थे।" उन्होंने लिखा, "१७५ वर्ष पूर्व अच्छे घराने में पैदा हुए किसी मुसलमान का निर्धन होना कठिन ही था, अब उसका अमीर बने रहना असम्भव है।"[4] बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त ने भी उनकी आर्थिक दशा गिरायी।

---

1 "The race (Muslim) is fundamentally hostile to us and therefore, our true policy is to conciliate the Hindus"—Lord Ellenborough (Quoted by *Desai* : Social Background of Indian Nationalism, p. 354).

2 They "leaned more and more on Hindu support or loyalty in the carrying on the administration. The first period of British rule in india was a period of Anglo-Hindu collaboration." (*D. Sen* : Revolution by Consent, p. 169)

3 *Noman* : Muslim India, p. 23.

4 The Indian Mussalmans, p. 155.

पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति भी कुछ अंशों तक मुसलमानों की अधोगति के लिए उत्तरदायी थी। अरबी तथा फारसी के स्थान पर सन् १८३३ में अंग्रेजी राज-भाषा हो गयी। नये विद्यालयों में भी इन भाषाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया। इसके साथ ही पुरानी परम्परागत शिक्षा-संस्थाओं को भी कोई सहायता नहीं दी गयी। इनके चलाने के लिए देश में कुछ राजाओं तथा जमींदारों ने भूमि लगा रखी थी तथा उनकी आय से ही यह संस्थाएँ चला करती थीं। जो भूमि मन्दिरों या मसजिदों के अधिकार में शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए थीं, अंग्रेजों ने उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। इससे मकतब व पाठशालाएँ अपाहिज हो गयीं। अंग्रेजों के प्रति विद्वेष रखने के कारण, जैसा ऊपर भी कहा जा चुका है, मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण न की। फलतः वह पिछड़े रह गये तथा बौद्धिक व्यवसाइयों, जैसे वकील, डाक्टर आदि में वह पीछे रह गये। इस प्रकार सरकार की शिक्षा सम्बन्धी नीति मुसलमानों में बेकारी की वृद्धि तथा उनके जीविका के लिए अन्यान्य मार्गों को बन्द कर देने के लिए उत्तरदायी थी। सेना के क्षेत्र में उनकी भर्ती बहुत कम होती थी तथा कला-कौशल के क्षेत्र में भी उन्हें पंगु तथा असहाय बना दिया गया था।[1]

मुसलमानों में असंतोष

सरकार की नीतियों से मुसलमान असन्तुष्ट होने लगे। इसी समय वहाबी आन्दोलन ने मुसलमानों में उत्साह की एक लहर पैदा कर दी तथा उनमें धार्मिक कट्टरता की भावना भरी।[2] यद्यपि यह एक धार्मिक आन्दोलन था जो अरब से प्रेरणा ग्रहण करता था, परन्तु इसने धर्म की आड़ में मुसलमानों को सगठित किया तथा इसने प्रारम्भ में अंग्रेजों के विरुद्ध 'जिहाद' कर दिया। बगाल में कई कृषक विद्रोह हुए। गुरुमुख निहालसिंह के मत में यह आन्दोलन 'प्रोलेटेरियन' तथा क्रान्तिकारी था। इस आन्दोलन ने सबसे पहले ब्रिटिश सरकार को एक भयंकर चुनौती दी। सन् १८५७ के आन्दोलन में भी यद्यपि हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने साथ-साथ भाग लिया था, परन्तु सरकार ने इसके लिए मुसलमानों को ही उत्तरदायी ठहराया था। विद्रोह के बाद भी सीमाप्रदेश में वहावियों ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया था। अंग्रेज सरकार ने दमन की नीति अपनायी, परन्तु वह मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना को, जिसका विकास हो चुका था, दबा न पायी।

अलीगढ़ आन्दोलन

अलीगढ़ आन्दोलन ने मुस्लिम राजनीतिक चेतना के विकास में बहुत सहयोग दिया। इसके साथ ही इसके संस्थापक सर सैय्यद अहमद खां ने मुसलमानों तथा सरकार के बीच की दूरी को कम करने का प्रयत्न किया। सर सैय्यद सरकार के न्याय विभाग में ऊँचे पद पर थे तथा कट्टर राष्ट्रवादी भी थे। उन्होंने मुस-

1 Noman : op. cit., pp. 26-27.
2 Mehta & Patwardhan; op. cit., p. 96.

लमानों को अंग्रेजों की सहानुभूति पाने के लिए राजभक्ति-प्रदर्शन एकमात्र उपाय बताया। उन्होंने अलीगढ़ में ऐंग्लो-ओरियेन्टल कालेज की स्थापना की। उन्होंने यह सोचा कि मुसलमानों के हित में यह आवश्यक है कि वह अंग्रेजों से मिलकर कार्य करें। इसी बीच सन् १८५७ के विद्रोह के समय जब यह बिजनौर में अमीन थे, उन्हें अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करने का अवसर मिल गया। उन्होंने विद्रोह के प्राणों की रक्षा की। अंग्रेज इनसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने का प्रयास किया। मुस्लिम शिक्षित नवयुवकों पर उनका बहुत अधिक प्रभाव था, अतः वह मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखने में सफल भी हो सके। उन्होंने मुस्लिम एज्यूकेशन कांग्रेस' की स्थापना की। इसके अधिवेशन होते थे। राजा शिवप्रसाद के सहयोग से उन्होंने 'देशभक्त एसोसियेशन' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य कांग्रेस का विरोध करना था। इन लोगों ने कांग्रेस का इतना विरोध किया कि शीघ्र ही वह एक 'हिन्दू संगठन' कहा जाने लगा।

सर सैय्यद के ऐसे विचार प्रारम्भ से नहीं थे। जब से वह मुस्लिम ऐंग्लो-ओरियेन्टल कालेज के प्रथम प्रिंसिपल मि० बैंक के प्रभाव में आये उनके विचारों में महती परिवर्तन होता गया। पहले तो वह कहा करते थे, "हिन्दू-मुसलमान भारतमाता की आँखों के दो तारे हैं।" उन्होंने ब्रिटिश शासन की नीतियों का भी विरोध किया तथा यह घोषणा की थी कि अंग्रेज समझते हैं कि कोई भी भारतीय सज्जन नहीं हो सकता। उन्होंने विधान मण्डलों में भारतीयों के प्रवेश पर भी बल दिया। उन्होंने गुरुदासपुर में २१ जनवरी, सन् १८८४ को एक भाषण में कहा हिन्दू तथा मुसलमानों, दोनों को एक मन, एक प्राण हो जाना चाहिए तथा परस्पर मैत्रीभाव रखना चाहिए। उनका कहना था, "यदि हम संयुक्त हैं तो एक-दूसरे को सँभाल सकते हैं। यदि नहीं तो एक का दूसरे के विरुद्ध प्रभाव दोनों का ही अधःपतन तथा विनाश कर देगा।"[1]

क्योंकि वह मुसलमानों के ऊपर लगे कलंक को कि वे अंग्रेजी शासन के दुश्मन है, मिटाना चाहते थे तथा सरकार के प्रति राजभक्ति प्रदर्शित कर मुसलमानों को सरकार का विश्वासपात्र बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने कुछ विचारों में एकदम परिवर्तन कर दिया। मिस्टर बैंक के प्रभाव में आकर उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से पृथक् रहने की सलाह दी। मिस्टर बैंक एक सफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुए क्योंकि वह मुसलमानों को कांग्रेस से पृथक कर उन्हें कमजोर कर देना चाहते थे। इसके अतिरिक्त ऐसा होने से हिन्दू व मुसलमानों में फूट पड़ जाने से राष्ट्रीयता की भावना का वेग कम हो जाता। मुसलमानों में अब तक यह विश्वास भी पैदा हो गया था कि कांग्रेस के साथ रहने से उनकी मुक्ति सम्भव नहीं है। "वर्ग-स्वार्थ, अविश्वास, जातीय घृणा, सरकार के कृपापात्र बनने की अभिलाषा तथा अपने पृथक्

---

1 गुरुमुख निहालसिंह द्वारा उद्धृत, पृ० २१४।

अस्तित्व बनाये रखने की भावना के कारण मुसलमानों तथा कांग्रेस के मध्य एक चौड़ी खाई दनी रही।"[1] मिस्टर बेंक ने सर सैय्यद के हृदय में यह विश्वास पैदा कर दिया था कि आंग्ल-मुस्लिम गठबन्धन से उनकी स्थिति में सुधार होगा तथा यदि वह राष्ट्रवादियों के साथ मिले तो उनके कष्ट बढ़ जायेंगे। यही कारण है कि सितम्बर, सन् १८६१ में प्रिंसिपल बेंक की मृत्यु पर सर जॉन स्ट्रेची ने 'लंदन टाइम्स' में लिखा कि "यह एक ऐसे अंग्रेज का देहावसान है जो एक सुदूर देश में साम्राज्य-निर्माण के कार्यों में लगा था। उसकी मृत्यु अपने कर्तव्य-पथ पर खड़े एक सैनिक की भाँति हुई है।"[2] मिस्टर बेंक ने एक लेख में अंग्रेजों तथा मुसलमानों के गठबंधन की चर्चा करते हुए लिखा था, "कांग्रेस का उद्देश्य है कि देश की राजनीतिक प्रभुता अंग्रेजों के हाथ से हिन्दुओं के हाथ मे आ जाय। मुसलमान इन माँगों से कोई सहानुभूति नहीं रख सकते........। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के लिए यह अपेक्षित है कि इन आन्दोलनकारियों से लड़ते तथा देश की आवश्यकताओं तथा परम्पराओं के अनुपयुक्त लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना को रोकने के उद्देश्य से परस्पर मिल जायें। इसलिए हम शासन के प्रति राजभक्ति तथा ऐंग्लो-मुस्लिम सहयोग के समर्थक हैं।"[3] श्री बेंक ने ब्रिटिश संसद मे सर चार्ल्स ब्रडलो द्वारा प्रस्तुत विधेयक, जिसमें भारत में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओ की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था, के विरोध मे एक स्मृतिपत्र मुसलमानों द्वारा भिजवाया था, जिसमें कहा गया कि लोकतन्त्रात्मक संस्थाएँ भारत के अनुकूल नहीं पड़ेंगी, क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के समुदाय बसे हुए है। श्री बेंक स्वयं एक दल लेकर दिल्ली गये तथा जामा मस्जिद पर बैठकर अन्दर आने वालों से यह कह कर कि हिन्दू गाय की कुर्बानी बन्द कराना चाहते हैं, प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर कराते गये।[4] सन् १८६३ में 'मोहमडन ऐंग्लो-ओरियन्टल डिफैन्स एसोसियेशन' की स्थापना भी उनका विशेष हाथ था। इस संस्था के उद्देश्य निम्न थे :

(१) साधारणतया अंग्रेजों तथा विशेपतया अंग्रेजी शासन को मुस्लिम जाति के विचारों के प्रति जानकारी कराना तथा मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना।

(२) उन कार्यों का समर्थन करना, जिनसे भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन दृढ़ हो।

---

1 Hindustan Review—January, 1909, p. 55.

2 मेहता तथा पटवर्धन द्वारा उद्धृत, पृ० ६१।

3 वही, पृ० ५८-५९।

4 यह बात विलायत हुसैन ने अलीगढ़ के "कान्फ्रेन्स गजट" में लिखी है तथा मौलवी तफायल अहमद ने "मुसलमानों का रोशन मुस्तकबिल" में उद्धृत की है, पृष्ठ ३११-१२।

(३) जनता में राजभक्ति की भावना जाग्रत करना।

शासन की नीति में परिवर्तन

प्रारम्भ में तो अंग्रेजी शासन ने हिन्दुओं को प्रधानता दी थी तथा कांग्रेस की स्थापना के प्रति भी रुचि दिखायी थी, परन्तु शीघ्र ही कांग्रेस द्वारा शासन की तीव्र आलोचना की जाने लगी तथा साथ ही प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना की भी मांग की गयी। सरकार ने देखा कि यदि कहीं मुस्लिम जाति भी कांग्रेस से मिलकर राष्ट्रीयता के रंग में रंग जायेगी तो उसके लिए बहुत कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी। राष्ट्रवाद के खतरे को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने यह सोचा कि मुसलमानों के साथ यदि वह गठबन्धन कर ले तो अच्छा होगा। अब सरकार एंग्लो-मुस्लिम सहयोग पर बल देने लगी। कई अंग्रेज अधिकारियों ने मुसलमानों को मिलाने के लिए अनेक प्रयत्न किये। इनमें मिस्टर हंटर मुख्य थे। मिस्टर बैंक के सम्बन्ध में ऊपर ही लिखा जा चुका है किस प्रकार उन्होंने सर सैय्यद के विचारों में जबर्दस्त परिवर्तन करा दिया। मुस्लिम-संस्थाएँ भी वायसरायों तथा गवर्नरों को मान-पत्र देते समय यह ध्यान दिलाती थीं कि मुसलमान पिछड़े हैं तथा अधिक पदों पर इनकी नियुक्ति की जाय धीरे-धीरे मुसलमानों ने सरकार की सहानुभूति प्राप्त कर ली। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन भी एक मुसलमानी प्रान्त की स्थापना की ओर प्रयत्न था, जिसके पीछे मुख्य उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को रोकना था। सरकार ने इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों के बीच फूट फैला कर अपने स्वार्थों की पूर्ति की। २८ मई सन् १९०६ को लॉर्ड मिन्टो ने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लार्ड मोर्ले को लिखा, "जहाँ तक कांग्रेस का सम्बन्ध है यह आन्दोलन अधिक सीमा तक विद्रोहात्मक है। तथा मुझे लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि भविष्य में इससे भय की सम्भावना होगी। इधर मैंने इस विषय में बहुत विचार किया है तथा अन्त में इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी संस्था की स्थापना सम्भव है।" उत्तर में श्री मोर्ले ने भी लॉर्ड मिण्टो का ६ जून को लिखा, "प्रत्येक व्यक्ति यह चेतावनी दे रहा है कि भारत में एक नयी भावना बढ़ती और फैलती जा रही है। लारेन्स, क्रिरोल, सिडनी लो सभी एक ही राग अलाप रहे हैं।·········आपको कांग्रेस पार्टी और कांग्रेस के सिद्धान्तों से निबटना पड़ेगा।[1]

मुस्लिम शिष्ट-मण्डल

सन् १९०५ में बंगाल का विभाजन होने पर उग्रवादियों की शक्ति बढ़ गयी। सरकार को ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह उदारवादियों को तो संवैधानिक सुधारों का लालच दे दे। उसने मुसलमानों को भी उत्तेजित किया तथा देश की राजनीति से विरत करने का प्रयत्न किया। ३० जुलाई, सन् १९०६ को अलीगढ़ के रईस नवाब हाजी

1 *Lady Minto* ; India—Minto and Morley, pp. 28-30.

(३) जनता में राजभक्ति की भावना जाग्रत करना।

शासन की नीति में परिवर्तन

प्रारम्भ में तो अंग्रेजी शासन ने हिन्दुओं को प्रधानता दी थी तथा कांग्रेस की स्थापना के प्रति भी रुचि दिखायी थी, परन्तु शीघ्र ही कांग्रेस द्वारा शासन की तीव्र आलोचना की जाने लगी तथा साथ ही प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना की भी मांग की गयी। सरकार ने देखा कि यदि कहीं मुस्लिम जाति भी कांग्रेस से मिलकर राष्ट्रीयता के रंग में रंग जायेगी तो उसके लिए बहुत कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी। राष्ट्रवाद के खतरे को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने यह सोचा कि मुसलमानों के साथ यदि वह गठबन्धन कर ले तो अच्छा होगा। अब सरकार ऐंग्लो-मुस्लिम सहयोग पर बल देने लगी। कई अँग्रेज अधिकारियों ने मुसलमानों को मिलाने के लिए अनेक प्रयत्न किये। इनमें मिस्टर हेटर मुख्य थे। मिस्टर बैंक के सम्बन्ध में ऊपर ही लिखा जा चुका है किस प्रकार उन्होंने सर सैय्यद के विचारों में जबर्दस्त परिवर्तन करा दिया। मुस्लिम-संस्थाएँ भी वायसरायों तथा गवर्नरों को मान-पत्र देते समय यह ध्यान दिलाती थीं कि मुसलमान पिछड़े हैं तथा अधिक पदों पर इनकी नियुक्ति की जाय धीरे-धीरे मुसलमानों ने सरकार की सहानुभूति प्राप्त कर ली। सन् १९०५ मे लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन भी एक मुसलमानी प्रान्त की स्थापना की ओर प्रयत्न था, जिसके पीछे मुख्य उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को रोकना था। सरकार ने इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों के बीच फूट फैला कर अपने स्वार्थों की पूर्ति की। २८ मई सन् १९०६ को लॉर्ड मिन्टो ने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लार्ड मोर्ले को लिखा, "जहाँ तक कांग्रेस का सम्बन्ध है यह आन्दोलन अधिक सीमा तक विद्रोहात्मक है तथा मुझे लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि भविष्य में इससे भय की सम्भावना होगी। इधर मैंने इस विषय में बहुत विचार किया है तथा अन्त में इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी संस्था की स्थापना सम्भव है।" उत्तर में श्री मोर्ले ने भी लॉर्ड मिण्टो का ६ जून को लिखा, "प्रत्येक व्यक्ति यह चेतावनी दे रहा है कि भारत में एक नयी भावना बढ़ती और फैलती जा रही है। लारेन्स, क्रिरोल, सिडनी लो सभी एक ही राग अलाप रहे हैं।·········आपको कांग्रेस पार्टी और कांग्रेस के सिद्धान्तों से निबटना पड़ेगा।[1]

मुस्लिम शिष्ट-मण्डल

सन् १९०५ में बंगाल का विभाजन होने पर उग्रवादियों की शक्ति बढ़ गयी। सरकार को ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह उदारवादियों को तो संवैधानिक सुधारों का लालच दे दे। उसने मुसलमानों को भी उत्तेजित किया तथा देश की राजनीति से विरत करने का प्रयत्न किया। ३० जुलाई, सन् १९०६ को अलीगढ़ के रईस नवाब हाजी

---

1 *Lady Minto* : India—Minto and Morley, pp. 28-30.

और बुराई करने की नीयत से, जो पहले से ही उनके मन में थी, उन्होंने मुसलमानों के बीच मतभेद का बीज बो दिया।[1]

मुस्लिम लीग के प्रथम अधिवेशन ही में बंग-भंग का समर्थन और बहिष्कार आन्दोलन का विरोध किया गया। मुस्लिम लीग के सन् १९०८ के अधिवेशन में, जो अमृतसर में हुआ, जातीय प्रतिनिधित्व की वृद्धि तथा प्रिवी कौंसिल में एक हिन्दू तथा एक मुसलमान को शामिल करने की मांग की गयी। मुसलमानों ने यह भी मांग की कि सरकारी नौकरियों में उन्हें पर्याप्त स्थान दिये जायें। सन् १९०९ तथा सन् १९१० के अधिवेशनों में भी ये माँगें दोहरायी गयीं। साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ावा देने के लिए अंग्रेजों ने भी पर्याप्त सहयोग दिया। उन्होंने मुसलमानों को बढ़ावा दिया कि वे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग करें। सन् १९०९ के मिन्टो-मोर्ले सुधार द्वारा हिन्दुओं तथा कांग्रेस के प्रभाव को कम करने के लिए विधान-मण्डल में मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुपात में अधिक स्थान दिया गया। सन् १९१० में लीग का अधिवेशन दिल्ली में आगाखाँ के सभापतित्व में हुआ। इसमें उन्होंने कहा कि संवैधानिक सुधारों का विरोध नहीं होना चाहिए, नहीं तो सरकार उन्हें वापिस ले लेगी।

२० लाख भारतीयों को राजद्रोही बनने से रोक लिया गया है।"[1] सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने भी लॉर्ड मिन्टो को लिखा, आपने मुसलमानों के सम्बन्ध में जो भी लिखा, वह समस्त दिलचस्पी से भरा हुआ है तथा इस बात का खेद है कि मैं जलपान-पार्टी के समय उपस्थित न था।" उन्होंने यह भी कहा, "समस्त काम उतना ही अच्छा हुआ है जितना हो सकता था और इसने निश्चित रूप से आपके पद तथा अधिकार पर मुहर लगा दी है।" लन्दन टाइम्स ने भी इसी दिन (१ अक्टूबर) एक लेख में मुसलमानों की बुद्धिमता की सराहना की। मौलवी तुफायल अहमद ने लिखा है कि अंग्रेजी पत्र भारतीयों के एक राष्ट्र होने की बात से जलते थे तथा धर्म के आधार पर भारतीयों को आपस में लड़ाने और स्थायी शत्रुता उत्पन्न करने में उन्हें गर्व होता था।[2]

मुस्लिम लीग की स्थापना

अंग्रेज शासकों ने मुसलमानों को कांग्रेस के विरुद्ध उभाड़ा तथा उनके प्रति सहानुभूति का वर्ताव शुरू कर दिया। इससे मुसलमान नेताओं का उत्साह बढ़ा। उन्होंने ३० दिसम्बर, सन् १९६० को मुस्लिम लीग की स्थापना की। इसके उद्देश्य निम्नलिखित थे :

(१) भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति भक्तिभाव का संचार करना तथा उन सभी भ्रमात्मक विचारों का निराकरण करना, जो सरकार के निश्चयों अथवा कानून से पैदा हुए थे।

(२) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों व हितों की रक्षा तथा विकास एवं उनकी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं से सरकार को परिचित कराते रहना।

(३) उपरलिखित उद्देश्यों का खण्डन किये बिना, मुसलमानों तथा भारत की अन्य जातियों के मध्य मैत्रीपूर्ण भावनाओं का प्रसार करना।

लन्दन के 'टाइम्स' ने मुस्लिम लीग की स्थापना का स्वागत किया। अंग्रेज अधिकारी-वर्ग ने इस सम्बन्ध में जो कार्य किया, उसका उल्लेख रेमजे मैकडॉनल्ड ने "दी एवेकनिंग ऑव इण्डिया" में इस प्रकार किया, "कुछ एंग्लो-इंडियन अधिकारियों ने मुसलमान नेताओं को प्रेरणा दी, शिमला और लन्दन में षड्यन्त्र रचते रहे

---

1 "I must send Your Excellency, a line to say that a very, very big thing has happened to-day. A work of statesmanship that will affect India and Indian History for many a long year. It in nothing less than the pulling back of sixty-two millions of people from joining the ranks of the seditious opposition." (*Ibid.*, pp. 47-58.)

2 रोशन मुस्तकबल, पृ० ३६३।

था। विशेषकर इंगलैंड की नीति ने तो उनकी कलई खोल दी और भारतीय मुसलमानों को अंग्रेजों की मित्रता का खोखलापन दीखने लगा। भारत के राष्ट्रीय पत्रों ने योरोपीय राष्ट्रों के दुर्व्यवहार के कारण हुए टर्की के दुःख में जो प्रेमपूर्ण समवेदना प्रकट की, उसने भी मुसलमानों के हृदय को प्रभावित किया।[1] प्रथम बालकन युद्ध (सन् १९१२-१३) में भारत के मुसलमानों ने डाक्टर अन्सारी के नेतृत्व में मरीजों तथा घायलों की सेवा करने के रेडक्रास का एक दल भेजा। वह अंग्रेजों को इस्लाम का शत्रु समझ रहे थे। मुस्लिम लीग के भीतर मुहम्मद अली के नेतृत्व में एक उग्र दल पनप रहा था। यह कांग्रेस के साथ समझौता करना चाहता था। मुहम्मद अली ने अपने पत्र 'कॉमरेड' (अंग्रेजी) तथा 'हमदर्द' (उर्दू) द्वारा मुसलमानों के मध्य राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की। उन्होंने संकुचित साम्प्रदायिकता तथा अंग्रेजी शासन के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने की भी नीति का विरोध किया। मौलाना आजाद के 'अलहिलाल' ने भी राष्ट्रवाद, स्वतन्त्रता और त्याग के ऊँचे आदर्शों से भरे लेखों को छाप कर मुसलमानों के मन में परिवर्तन की भावना भर दी। मुस्लिम लीग इस प्रभाव से अछूती न रह सकी। मार्च, सन् १९१३ के लखनऊ अधिवेशन में, जो सर इब्राहीम रहीमुतुल्ला के सभापतित्व में हुआ, इसने अपने विधान में संशोधन किया। अब लीग का उद्देश्य वर्तमान शासन-प्रणाली में व्यवस्थित सुधार, राष्ट्रीय एकता, भारतीयों में सार्वजनिक भावना की वृद्धि तथा उद्देश्यप्राप्ति के हेतु अन्य समुदायों के साथ सहयोग द्वारा वैध उपायों से स्वायत्त-शासन की प्राप्ति हो गया। धीरे-धीरे यह कांग्रेस से सम्पर्क बढ़ाने की इच्छा करने लगी।

मिन्टो-मोर्ले सुधार

सन् १९०९ में ब्रिटिश संसद ने इण्डियन कौंसिल अधिनियम पारित किया जो मिन्टो-मोर्ले सुधार के नाम से भी विख्यात है। अंग्रेजी सरकार यह समझ रही थी कि भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीयता की जो भावना पनप रही थी, उसे दमन के द्वारा कुचला नहीं जा सकता। इसके साथ ही सरकार अब तक मुसलमानों में कांग्रेस के प्रति विद्वेष फैला चुकी थी तथा उन्हें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँग करने के लिए प्रेरित कर चुकी थी। लॉर्ड मोर्ले ने जो सन् १९०५ में उदार दल के सत्तारूढ़ होने पर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट बने, लॉर्ड मिन्टो का ध्यान इस बात की ओर भी आकर्षित किया कि कांग्रेसी उदारवादियों का भी सहयोग प्राप्त किया जाय। वह सब केवल एक नवीन अधिनियम के पारित होने से हो सकता था तथा इसी उद्देश्य से सन् १९०९ में अधिनियम पारित भी किया गया। संक्षेप में, इस अधिनियम ने शासन-व्यवस्था में निम्न सुधार किये :

(१) केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा का विस्तार किया गया। इसके अतिरिक्त

---

1 *G. N. Singh* : Landmarks in Indian Constitutional & Nationalist Development, pp 490-491.

सदस्यों की संख्या १६ से ६० कर दी गयी। इसके साथ ही प्रान्तीय कौंसिलों के भी अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गयी। बंगाल, मद्रास तथा बम्बई की कौंसिलों में २० से ५० तथा यू० पी० की १५ से ५० कर दी गयी।

(२) व्यवस्थापिका-सभाओं में दो प्रकार के सदस्यों—मनोनीत तथा निर्वाचित की व्यवस्था की गयी। मनोनीत सदस्य दो प्रकार के हो सकते थे—सरकारी तथा गैर-सरकारी। निर्वाचन के लिए म्युनिसिपेलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, विश्वविद्यालय, चैम्बर ऑफ कॉमर्स, व्यवस्थापिक संस्थाएँ आदि निर्वाचन-क्षेत्र घोषित की गयीं।

(३) मुसलमानों को पृथक् तथा अपनी संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया।

(४) व्यवस्थापिका-सभाओं के कार्य-क्षेत्र में विस्तार किया गया। सदस्यों को वार्षिक बजट पर विवाद करने तथा उस पर प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकने का भी अधिकार प्रदान किया गया। सदस्यों को यह भी अधिकार प्रदान किया गया कि वह सार्वजनिक महत्व तथा हित के प्रश्नों पर प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकें तथा वाद-विवाद कर सकें। सदस्य अनुपूरक प्रश्न भी पूछ सकते थे। केन्द्रीय कौंसिल में गवर्नर किसी प्रस्ताव पर जनहित की आड़ में प्रतिवन्ध लगा सकते थे। व्यवस्थापिका-परिषदों द्वारा पारित किसी भी प्रस्ताव से कार्यकारिणी किसी प्रकार बँधी न थी।

(५) गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह मद्रास तथा बम्बई की कार्यकारिणी-सभाओं में सदस्यों की संख्या में ४ तक वृद्धि कर सके।

(६) भारतीयों को अब यह अधिकार मिला कि वह सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की इण्डिया कौंसिल तथा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य बन सकें। दो भारतीयों को इण्डिया कौंसिल तथा एक को कार्यकारिणी का सदस्य मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की गयी।

इस अधिनियम के पारित होते समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि भारतीयों को महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये जा रहे हैं परन्तु बाद में यह पता चल गया कि यह सुधार खोखले थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत जिन नियमों तथा उप-नियमों की रचना की गयी, वह सुधारों के आधारभूत सिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध प्रतीत हुए तथा सुधारों का कार्यान्वयन असम्भव प्रतीत होने लगा। उदारवादी यह समझ गये कि कौंसिलों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को कोई ऐसे अधिकार प्राप्त न थे कि सरकार के कार्यों को प्रभावित कर सकते। वास्तविक सत्ता सरकारी सदस्यों के हाथ में रही तथा प्रचलित नौकरशाही ढाँचे में कोई भी परिवर्तन न हुआ। भारतीय नेताओं ने इस अधिनियम की तीव्र आलोचना की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि सुधारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए जिन नियमों तथा उप-नियमों का निर्माण किया है, उसने तो सुधार की योजना को ही नष्ट कर डाला है। उन्होंने प्रश्न किया, "क्या नौकरशाही ने यथाशक्ति उन अधिकारों का प्रतिकार

कर अपना बदला लिया है जो सुधारों द्वारा हमें मिले हैं ?"[1] इस अधिनियम के द्वारा वास्तव में कोई सुधार नहीं किया गया तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की नींव डाली गयी। व्यवस्थापिका सभाओं में विस्तार तो किया गया परन्तु उनकी असली प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आया। व्यवस्थापिका-सभा एक दरबार के समान थी। सर बार्टल फ्रेयर ने लिखा है, "भारतीय सरकार अब भी पूर्ण रूप से एक निरंकुश राजसी दरबार के समान बनी रही जो राजा की भाँति दरबारियों से परामर्श तो लेती है परन्तु उनके मत को मानने के लिए बाध्य नहीं। इसके परिणामस्वरूप दरबारी असन्तुष्ट तथा बेचैन होने लगे तथा शासन संकोचपूर्ण तथा ढीला हो चला।"[2] वास्तव में इस एक्ट की पृष्ठभूमि में सरकार की यह नीति सक्रिय थी कि भारतीयों को बिना कोई विशेष अधिकार प्रदान किये अप्रत्यक्ष रूप में सरकारी कार्यों में उनका सहयोग लिया जाय। व्यवस्थापिका-सभाओं का कार्यकारिणी की नीतियों पर भी कोई अंकुश न था। वह कार्यकारिणी के हाथों में पूर्णरूप से एक खिलौना थी तथा उनके कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वह सरकार से प्रश्न पूछ सकती थी तथा सरकार भी उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं थी। वह बजट पर विवाद कर सकती थी, पर आय तथा व्यय का एक भी रुपया उसके नियंत्रण में न था। सरकार मनोनीत-सरकारी तथा मनोनीत-गैर-सरकारी सदस्यों के बल पर जो नीति या कानून चाहती, उसे स्वीकृत करा सकती थी। इस बात पर गोखले ने केन्द्रीय कौंसिल में प्रकाश डालते हुए कहा था, "हम इस बात से भली प्रकार परिचित हैं कि यदि सरकार किसी विषय में अपना मार्ग निश्चित कर लेती है तो गैर-सरकारी सदस्य चाहे कुछ ही क्यों न कहें, वह मार्ग से जरा भी नहीं हटती है।" संक्षेप में, सुधारों ने भारतीयों के हाथ में कोई भी जिम्मेदारी नहीं सौंपी। लार्ड मोर्ले ने अधिनियम के सम्बन्ध में ब्रिटिश लोकसभा में कहा था कि यदि इनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना होगी तब मुझे ऐसे कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं।' लार्ड मिन्टो तथा लार्ड मोर्ले, दोनों ही भारत में प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना के विरुद्ध थे। मिन्टो ने कहा था, "मैंने ऐसी चीज से जो उससे (संसद से) समानता रखती हो, मुंह फेर लिया था। हम संसद बिलकुल नहीं चाहते थे। हम कौंसिलें चाहते थे, पर ऐसी कौंसिलें नहीं जो संसदीय प्रणाली पर निर्वाचित हों।"

इस अधिनियम की सबसे बड़ी बुराई साम्प्रदायिक निर्वाचनों का आरम्भ था। इस योजना के राजनीतिक क्षेत्र में एक विष-बेल बो दी जिससे कालान्तर में अत्यन्त भयंकर परिणाम हुए। श्री जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया में लिखा है, "यह भारत के भविष्य पर प्रभाव डालने वाली वस्तु थी। भविष्य में मुसलमान पृथक् मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रों से खड़े हो सकते थे तथा निर्वाचित हो

1 Quoted in How India Wrought for Her Freedom, p. 495.
2 Quoted in How India Wrought for Her Freedom, p. 495

सकते थे। उनके चारों ओर एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गयी तथा उन्हें शेष भारत से पृथक् कर दिया गया। इस प्रकार परस्पर घुल-मिल कर एक हो जाने की वह प्रक्रिया जो शताब्दियों से चल रही थी तथा वैधानिक प्रगति से लाजिमी तौर पर तेज हो रही थी, अब उलट दी गयी। यह दीवार प्रारम्भ में छोटी सी थी क्योंकि निर्वाचन क्षेत्र संकुचित थे, परन्तु जैसे-जैसे मताधिकार में वृद्धि होने लगी, यह दीवार बढ़ती गई तथा उसका सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन के ढांचे पर इस प्रकार का प्रभाव पड़ा मानो सारे ढांचों में घुन लग गया हो। इससे म्युनिसिपल तथा स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं में जहर फैला तथा बहुत ही गलत ढंग का विभाजन हुआ..........पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र मुसलमानों से शुरू हुए तथा बाद में दूसरे अल्प-संख्यकों और अन्य समुदायों में भी फैल गये।..........इनसे हर प्रकार की पृथकतावादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं तथा अन्त में भारतवर्ष के विभाजन की माँग की गयी।"[1] इन सब में ब्रिटिश सरकार का स्वार्थ निहित था। अधिनियम लागू होने से पृथकत्व की भावना को बढ़ावा मिला तथा राष्ट्रीय प्रगति रुक गयी। रैमजे मेकडॉनल्ड के अनुसार, "यह जनतन्त्रवाद तथा नौकरशाही के मध्य एक अधूरा तथा अल्पकालीन समझौता था।" डाक्टर रामानन्द अग्रवाल के मत में यह सुधार 'दयाशील तानाशाही की पराकाष्ठा कभी' हे जा सकते हैं। यह पराकाष्ठा इस कारण थी कि भारतीयों को बिना कोई उत्तरदायित्व सौंपे कृपालुता की नीति शिखर तक पहुँचा दी गयी।[2] इन सुधारों का एक लाभ था। वह यह कि इसने भारतीयों को मूल्यवान प्रशिक्षण दिया जिसके बिना वह सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित व्यवस्थापिकाओं का पूर्णतया उपयोग करने में असमर्थ रहते। व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह सुधार भारत को स्वशासन की ओर ले जाने के लिए आवश्यक तथा लाभदायक थे। यद्यपि इस सुधार ने संसदात्मक-प्रणाली को स्वीकार नहीं किया परन्तु यह संसदीय संस्थाओं को उस बिन्दु तक ले आये, जहाँ संसदीय दायित्व से मनाही नहीं की जा सकती थी।[3]

---

1 *Nehru* : Discovery of India, pp 295-96.

2 हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास पृ० ६८।

3 वही।

५

प्रथम महायुद्ध के बीच राजनीति तथा मांटेग्यू रिपोर्ट

कांग्रेस में उदारवादी का नेतृत्व

सूरत-विच्छेद के बाद और होमरूल आन्दोलन के प्रारम्भ के बीच के समय में भारतीय राजनीतिक जीवन निष्प्राण रहा। मिन्टोमोर्ले सुधार कार्यान्वित कर दिए गए थे। उदारवादी यद्यपि समझते थे कि यह सुधार उन्हें किसी भी प्रकार के अधिकार दिलाने में सफल नहीं हुए थे, परन्तु वह केवल सरकार की आलोचना मात्र करके चुप हो जाते थे। व्यवस्थापिका-परिषदों में भी निर्वाचित सदस्यों का कोई मूल्य नहीं था। दूसरी ओर उग्रवादी कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके थे। सरकार की दमन-नीति के कारण तिलक मांडले में कैद थे और अरविन्द घोष पांडिचेरी में सन्यासी का जीवन बिता रहे थे। बंगाल के बहुत से उदारवादियों को देश से निर्वासन की आज्ञा दे दी गयी थी। उग्रवादी नेताओं की अनुपस्थिति में कांग्रेस की बागडोर गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मदनमोहन मालवीय, तेजबहादुर सप्रू आदि उदारवादियों के हाथ में थी। ये भी यद्यपि सुधारों से असन्तुष्ट थे, परन्तु फिर भी सहयोग की भावना से इन्हें कार्यान्वित कर रहे थे। इसी बीच लार्ड मिन्टो के स्थान पर लार्ड हार्डिग्ज की वायसराय-पद पर नियुक्ति हुई। उन्होंने ऐसी नीति का प्रतिपादन किया कि देश में शान्ति ही बनी रही। बंगाल के विभाजन को दिल्ली-दरबार पर रद्द करने की घोषणा से भारतीयों को अपार सन्तोष हुआ। अपनी नीतियों से ही लार्ड हार्डिग्ज भारत को अँग्रेजों के पक्ष में युद्ध में खींच ले गये तथा सभी वर्ग के लोगों ने सरकार को युद्ध में विभिन्न प्रकार से मदद की।

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध के दौरान में यह घोषणा की कि वे अपने साम्राज्य-विस्तार या अपने स्वार्थों के लिए युद्ध नहीं लड़ रहे हैं, अपितु "युद्ध में जर्मनी की हार विश्व में जनतन्त्रवाद की सुरक्षा

युद्ध में सहयोग

के लिए आवश्यक है।" महात्मा गांधी ने भारतीयों को तन-मन-धन से युद्ध में सहायता देने की अपील की। गांधीजी का यह दृष्टिकोण नैतिकता तथा उपकार की भावना पर आधारित था। उन्होंने इस विचारधारा का विरोध किया कि युद्धकाल भारतीयों के लिए स्वतन्त्रता का आन्दोलन करने तथा उसे प्राप्त करने का स्वर्णिम अवसर था। उनका कहना था कि यदि ब्रिटेन की मदद तथा सहयोग से हमारी स्थिति सुधरनी थी तो यह हमारा कर्त्तव्य था कि हम आवश्यकता के समय उनकी मदद करें।[1] भारतीयों ने ब्रिटिश सरकार को इसलिए भी सहयोग दिया था कि युद्ध के उपरान्त ब्रिटिश सरकार उन्हें देश में स्वशासन की सुविधा दे। यह आशा स्वाभाविक भी थी। जनतन्त्र की सुरक्षा के लिए लड़े जाने वाले युद्ध का परिणाम जनतन्त्र का विस्तार होना ही चाहिए था। सुरेन्दनाथ बनर्जी ने कहा, "स्वशासन हमारी राजनीतिक भावनाओं का लक्ष्य था तथा इसमें हमारे संरक्षण की बात निहित थी। यदि हम साम्राज्य के स्वतन्त्र नागरिक होने के गौरव के अभिलाषी थे तो हमें साम्राज्य की रक्षा के हेतु लड़ना भी आवश्यक है।"[2] परन्तु सरकार ने इस सम्बन्ध में कोई घोषणा नहीं की और इसके फलस्वरूप देश में असन्तोष की लहर फैल गई थी। यद्यपि भारतीयों ने अपार धन तथा जनशक्ति द्वारा अँग्रेजों की मदद की थी तथा तत्कालीन वायसराय लॉर्ड हार्डिन्ज ने भी स्वीकार किया था कि भारत को युद्ध के प्रारम्भिक सप्ताहों में शाही सरकार ने लगभग चूस लिया था,[3] इस पर भी भारतीयों की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की भावना का तिरस्कार किया गया। इसके परिणामस्वरूप, देश में 'होमरूल आन्दोलन' प्रारम्भ हुआ। स्वशासन की बढ़ती माँग ने देश में राष्ट्रीयता की भावना को और अधिक बलवती किया।

एक और दृष्टि से विश्व-युद्ध ने भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना का संचार किया। हमारे देशवासियों ने भी युद्ध में भाग लिया तथा युद्ध सम्बन्धी कार्यों से उन्हें दूसरे देशों में भी जाना पड़ा। विभिन्न देशों में उन्होंने देखा कि

---

1 Gandhlji said, "Was it not the duty of the slave, seeking to be free, to make the master's need his opportunity ?...If we would improve our status through the help and co-operation of British, it was our duty to win their help by standing by them in their hour of need." (My Experiments With Truth, pp. 424-25)

2 "The keynote of my address was that self-government, which was the goal of our political aspirations, connoted self-defence, and that, if we sought the privileges of imperial citizenship, we must bear its burdens and responsibilities, and the foremost among them was to fight for the defence of the empire......"
(A Nation in Making, pp. 300-301)

3 *Fisher* : India's Silent Revolution, pp. 11-12.

स्वशासन का क्या मूल्य होता है ! युवक-सैनिकों के हृदय में भी भारत को स्वतन्त्र देखने की आकांक्षा जाग्रत हुई, क्योंकि युद्ध के बीच वह परतन्त्र राष्ट्रों की क्या दुर्दशा होती है, इसे देख चुके थे। जनरल सर जेम्स विलोक ने अपनी पुस्तक "विद द इण्डियन्स इन फ्रान्स" में लिखा है, "अब वह दिन बीत गये जब हम अपने साम्राज्य के एक विशाल भाग को अन्धकार में रख सकते थे; अब प्रकाश फैल रहा है, तथा महायुद्ध ने उसे एक ऐसा अवसर प्रदान किया है जो कभी सम्भव न था।"[1] परन्तु सबमें महत्वपूर्ण बात यह थी कि युद्ध के मध्य किसी ने भी स्वतन्त्रता की न तो मांग की तथा परिस्थितियों को ध्यान में रख कर न ही किसी नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया।

होमरूल आन्दोलन

लोकमान्य तिलक के जेल से छूट आने तथा ऐनी बीसेन्ट के राजनीतिक क्षेत्र मे कूद पड़ने पर भारतवर्ष के राजनीतिक वातावरण में गर्मी आ गयी। लोकमान्य तिलक ने १३ अप्रैल, सन् १९१६ को होमरूल लीग की स्थापना की। जेल से मुक्त होने पर अभिनन्दन के रूप में कृतज्ञ देशवासियों ने उनको एक लाख रुपये की जो थैली भेंट की थी, उसे उन्होंने लीग को दे दिया। होमरूल लीग का उद्देश्य तथा विधान वही रखा गया जो कांग्रेस का था। उसके तुरन्त बाद ही तिलक महाराष्ट्र के दौरे पर निकल गये तथा नगर-नगर व गाँव-गाँव में जाकर अपना सन्देश सुनाने लगे। इसने देश भर में लोगों के हृदय में नवीन भावना का संचार किया।

लोकमान्य तिलक द्वारा होमरूल की स्थापना के ६ मास पश्चात् श्रीमती ऐनी बीसेन्ट ने होमरूल लीग नाम की दूसरी संस्था का आयोजन किया। अब तक श्रीमती ऐनी बीसेन्ट थियोसोफिकल सोसायटी की नेता के रूप में विख्यात हो चुकी थीं। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पूरी तैयारी के साथ प्रवेश किया। 'मद्रास स्टैण्डर्ड' पत्र लेकर उन्होंने उसका नाम 'न्यू इण्डिया' रख दिया तथा 'कामन वील' साप्ताहिक द्वारा वह देश के लोगों को जगाने लगीं। उनका कहना था, "मैं भारत में एक वैतालिक का काम कर रही हूँ तथा सब सोने वालों को जगा रही हूँ ताकि वह उठ बैठें तथा अपनी मातृभूमि के लिए काम कर सकें।"[2] सारे देश में थियोसोफिकल सोसायटी की शाखाएँ थीं, वे होमरूल लीग के कार्यालयों का काम देखने लगीं। वह एक प्रखर बुद्धि की महिला थीं तथा उनकी भाषण-शक्ति बड़ी जोरदार थी; अतः वह कांग्रेस तथा जनता के बीच शीघ्र ही लोकप्रिय हो गयीं। सन् १९१४ में कांग्रेस के मद्रास

ऐनी बेसेन्ट

---

1 Annie Besant : Bond or Free, pp. 166-67.

2 "I am an Indian Tom-tom waking up all the sleepers so that they may wake and work for their motherland." (Quoted by Lovett : A History of Indian Nationalist Movement. p. 107)

अधिवेशन में ही, जब उन्होंने राजनीति में प्रवेश ही किया था, भावपूर्ण तथा ओजस्वी भाषा में घोषित किया।

भारत अब साम्राज्यवाद के शिशुगृह में एक शिशु की भाँति नहीं रहना चाहता तथा न ही वह अपने खून तथा आँसुओं के बदले में स्वतन्त्रता की मुद्रा की प्रार्थना करता है। वह राष्ट्र की हैसियत से साम्राज्य से न्याय चाहता है तथा स्वतन्त्रता को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझ कर माँगता है। इस विषय में किसी प्रकार का भ्रम न होना चाहिए।"

श्रीमती ऐनी बीसेन्ट ने होमरूल आन्दोलन की प्रेरणा आयरलैण्ड के आन्दोलन से ली थी। उन्होंने इस तर्क का कि भारतवासी स्वयं शासन करने योग्य नहीं हैं, खण्डन किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कांग्रेस होमरूल आन्दोलन शुरू करे। उनका यह भी ध्येय था कि युद्धकाल इस वैधानिक आन्दोलन के लिए सर्वथा उपयुक्त था, परन्तु कांग्रेस के नरम दल के नेता किसी भी प्रकार के आन्दोलन का सूत्रपात करने से झिझक रहे थे। ऐसा देखकर उन्होंने सोचा कि औपनिवेशिक स्वशासन के लिए पृथक् संगठन का निर्माण करना चाहिए। श्रीमती ऐनी बीसेन्ट ने कांग्रेस के 'नरम' तथा 'गरम' दल में भी समझौता कराने का प्रयास किया। यद्यपि वह उग्रवादियों को तो प्रभावित कर पायीं पर नरम दल वालों पर उनका विशेष प्रभाव न पड़ा। जब तक गोखले जीवित रहे, उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। फरवरी, सन् १९१५ में उनकी मृत्यु हो गयी। उसके ६ मास बाद सर फीरोजशाह मेहता की भी मृत्यु हो गयी। इससे नरम दल वाले हतोत्साहित हो गये। उनके प्रयत्न से कांग्रेस के सन् १९१४ के अधिवेशन में एक संशोधन पास किया गया जिससे उग्रवादी पुनः कांग्रेस के भीतर आ सकें तथा सन् १९१६ में दोनों दलों में पुनः ऐक्य स्थापित हो गया।

श्रीमती ऐनी बीसेन्ट का उद्देश्य भारत को जगाना था। उन्होंने आयरलैण्ड के आन्दोलन की तरह ही एक चार सूत्रीय कार्यक्रम रखा। इस कार्यक्रम के निम्न भाग थे—(१) स्वदेशी; (२) बहिष्कार; (३) राष्ट्रीय शिक्षा, तथा (४) स्वराज्य। श्रीमती ऐनी बीसेन्ट का होमरूल आन्दोलन एक वैधानिक आन्दोलन था। वह देख रही थीं कि यदि उग्रवादी, जो कांग्रेस के बाहर थे, यदि आतंकवादियों के साथ मिल जायेंगे, जो देश में जोर पकड़ रहे थे तो अंग्रेजों के लिए एक संकटापन्न स्थिति उत्पन्न हो जायगी। वह यह चाहती थीं कि देश की राजनीति को उग्रवाद की ओर झुकने से रोका जाय। डॉक्टर जकारिया का कहना है,

ऐनी बीसेन्ट के उद्देश्य

"उनकी योजना उग्रवादी राष्ट्रीय व्यक्तियों को क्रान्तिकारियों से मिलने से रोकना था।" वह यह विश्वास करती थीं कि ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में अंग्रेजों को मदद दी जाय तथा

होमरूल लीग का कार्यक्रम

स्वशासित भारत साम्राज्यवाद के लिए अधिक सहायक हो सकेगा। उनकी यह आकांक्षा थी कि इंगलैंड तथा भारत एक-दूसरे को समझें, एक-दूसरे के समीप आयें। वह इस बात पर भी बल देती थीं कि अंग्रेजों के लिए यह बुद्धिमानी की बात होगी कि वह भारत को स्वराज्य देकर सन्तुष्ट कर दें।[1]

श्रीमती ऐनी बीसेन्ट का विचार था कि स्वशासन भारत का अधिकार है। उनका कहना था कि भारतवर्ष के पुत्रों ने अपना रक्त तथा वीर पुत्रियों ने आँसू इसलिए नहीं बहाये है कि बदले में उसे स्वतन्त्रता मिले, अधिकार मिले। यह सौदेबाजी नहीं है। भारत एक राष्ट्र की हैसियत से साम्राज्य की जनता के बीच न्याय पाने के अधिकार का दावा करता है। भारतवर्ष ने इसे युद्ध के पूर्व मांगा था, भारत इसे युद्ध के बीच मांगता है, भारत इसे युद्ध के बाद मांगेगा, परन्तु वह इसे एक पारितोषिक के रूप में नहीं, अधिकार के रूप में मांगता है।[2] श्रीमती ऐनी बीसेन्ट में होमरूल के लक्ष्य तथा दादाभाई के स्वराज्य के लक्ष्य में कोई भी अन्तर न था। 'कॉमन वील' के प्रथम अंक में ही उन्होंने अपने लक्ष्य की व्याख्या निम्न शब्दों में की :

"राजनीतिक क्षेत्र में हमारा उद्देश्य ग्राम-परिषदों, डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्डों, तथा प्रान्तीय विधान-मण्डलों द्वारा, एक राष्ट्रीय संसद तक, जो शक्तियों में उपनिवेशों के स्वशासित विधान-मण्डलों के समान हो, पूर्ण स्वशासन की स्थापना करना है। हमारा लक्ष्य यह भी है कि जब इम्पीरियल पार्लियामेंट का अधिवेशन हो तथा उसमें साम्राज्य के स्वशासित राज्यों के प्रतिनिधि भाग लें, तब भारतवर्ष को भी प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।"[3]

सन् १९१७ में होमरूल आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया। यद्यपि यह एक वैधानिक आन्दोलन था तथा इसके नेताओं ने शान्तिपूर्ण मार्ग

आन्दोलन का दमन

का अवलम्बन किया था परन्तु इसने देश में एक नई जागृति तथा हलचल पैदा कर दी। श्री जवाहरलाल नेहरू का कहना है, "देश के वातावरण में एक बिजली-सी दौड़ रही थी तथा हम नवयुवक एक अजीब उत्साह तथा स्फूर्ति का अनुभव कर

1 India : Bond or Free, p. 163.

2 "India does not chaffer with the blood of her sons and the proud tears of her daughters in exchange for so much liberty, so much right. India claims the right, as a Nation, to justice among the peoples of the Empire. India asked for this before the war. India asks for it during the war. India will ask for it after the war, but not as a reward but as a right does she ask for it. On that there must be no mistake." (How India Wrought for her Freedom, p. 580)

3 India : Bond or Free, pp. 162-63.

रहे थे तथा ऐसी आशा कर रहे थे कि भविष्य में इसका परिणाम कुछ होगा।" सरकार इस आन्दोलन से घबरा उठी तथा उसने इसे कुचल देने का निश्चय किया। तिलक तथा ऐनी बीसेन्ट के कार्यों पर सरकार की कड़ी नजर रहने लगी। सन् १९१६ में तिलक से वर्ष भर तक शान्त रहने तथा २०,००० रुपये का एक व्यक्तिगत बौंड भरने तथा इतनी ही रकम की दो जमानतें देने को कहा गया। बम्बई हाईकोर्ट में अपील के फलस्वरूप मजिस्ट्रेट की आज्ञा रद्द कर दी गई। इसके अतिरिक्त होमरूल आन्दोलन के प्रचार को रोकने के लिए सरकार ने 'प्रेस एक्ट' का प्रयोग किया। 'कॉमन वील' तथा 'न्यू इण्डिया' से २०,००० रुपये की जमानत मांगी गई तथा वह २८ अगस्त को जब्त भी कर ली गई तथा दुबारा १०,००० रुपये की जमानत मांगी गई। आन्दोलन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। वह दबने के बदले उमड़ता ही गया। सन् १९१७ के प्रारम्भ में सरकारी आज्ञापत्र नं० ५५९ के अनुसार विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने से रोक दिया गया तथा होमरूल सभाओं मे उनका उपस्थित रहना वर्जित कर दिया गया। प्रांतीय गवर्नरों में होमरूल के प्रचार को निरुत्साहित करने के हेतु भाषण दिये तथा आन्दोलन के नेताओं को चेतावनी दी। मद्रास सरकार ने श्रीमती ऐनी बीसेन्ट तथा उनके सहयोगियों, बी० पी० वाडिया तथा जी० एस० अरन्डेल, को नजरबन्द करने का आदेश दिया। इससे सारे देश में रोष फैल गया तथा देश भर में इसके विरोध में सभाएँ की गयीं। जुलाई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी ऐनी बीसेन्ट तथा उनके सहयोगियों की नजरबन्दी की निन्दा की। उसने तिलक की प्रेरणा से वायसराय तथा भारतमन्त्री का ध्यान सरकार की दमनकारी तथा प्रतिक्रियावादी नीति के सम्बन्ध में आकर्षित किया तथा स्वराज्य की बहुत बड़ी किश्त प्रदान करने की मांग की। इसके अतिरिक्त सरकार को यह चेतावनी भी दी कि यदि तुरन्त कार्यवाही न गई तो असंतोष तथा अशान्ति बढ़ जायेगी। वह राष्ट्रीय नेता जो अब तक होमरूल से पृथक् थे, उन्होंने भी होमरूल लीग की सदस्यता ग्रहण की। तिलक ने भी फौरन सत्याग्रह करने का प्रस्ताव किया।

मांग्टेयू घोषणा

इसी बीच राजनीतिक घटनाचक्र तेजी से घूमता गया। मेसापोटामियन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशन ने इंगलैण्ड तथा भारत में खलबली मचा दी तथा भारतीय राजनीतिक सुधारों को विशेष समर्थन तथा बल मिला।[1] लॉर्ड हार्डिग्ज की सरकार तथा भारतमन्त्री, चेम्बरलेन ने जिस प्रकार युद्ध का संचालन किया था, कमीशन ने उनकी तीव्र आलोचना की। चेम्बरलेन ने आलोचनाओं के फलस्वरूप त्यागपत्र दे दिया तथा मांटेग्यू की नियुक्ति भारतमन्त्री के पद पर हुई। अनेक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी उन्होंने भारतीय नीति की नयी घोषणा का

क्रमशः उत्तरदायी शासन का संकेत

1 गुरुमुख निहालसिंह, पृ० ३२०।

मसविदा तैयार करने का काम अपने हाथ में ले लिया तथा ऐनी बीसेन्ट को छोड़ने के लिए भारत सरकार से पत्र-व्यवहार किया। २० अगस्त को मांटेग्यू ने हाउस ऑफ़ कॉमन्स में घोषणा की :

"साम्राज्य सरकार की नीति जिससे भारत सरकार पूर्ण रूप से सहमत है, यह है कि शासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों को अधिकाधिक साथ लिया जाय तथा स्वशासनीय संस्थाओं का क्रमशः विकास किया जाय ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में क्रमशः उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो सके।" उन्होंने यह भी कहा कि इस नीति की प्रगति क्रमशः कई किश्तों में होगी।[1]

मांटेग्यु ने यह भी घोषणा की कि वह स्वयं भारतीय नेताओं तथा सरकार से राजनीतिक प्रश्नों पर परामर्श करने के लिए शीघ्र ही भारत आवेंगे। मांटेग्यू की इस घोषणा का भारत के राजनीतिक क्षेत्रों में पर्याप्त प्रभाव हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि इस घोषणा ने विद्रोहियों का मुँह बंद कर दिया क्योंकि यह पुरानी सरकारी नीतियों से नितान्त भिन्न थी। उन्होंने यह भी लिखा कि अब तक की सरकारी घोषणाएं झूठे आश्वासनों की गन्ध से भरी थीं परन्तु अब भारतीय इतिहास के पृष्ठों में एक नये अध्याय की रचना होने वाली थी। १ नवम्बर, सन् १९१७ में मांटेग्यू ब्रिटिश सरकार के अन्य प्रतिनिधियों सहित दिल्ली आये। इस अवसर पर लोकमान्य तिलक तथा श्रीमती ऐनी बीसेन्ट ने उनका फूल मालाओं से स्वागत किया तथा आगामी कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया। मांटेग्यू का भारत आना एक दृष्टि से अच्छा रहा। इस समय युद्ध चल रहा था तथा भारत में स्वशासन के लिए

मांटेग्यू की भारत-यात्रा

1 "The policy of His Majesty's Government, with which the Government of India are in complete accord, is that of increasing association of Indians in every branch of administration and the gradual development of the self-governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible government in India as an integral part of the British Empire... ...I would add that progress in this policy can only be achieved by successive stages. The British Government and the government of India, on whom the responsibliity lies for the welfare and advancement of Indian people, must be the judge of time and measure of each advance and they must be guided by the co-operation received from those upon whom new opportunities of service will thus be conferred and by the extent to which it is found that confidence can be reposed in their sense of responsibility.'

—Montagu.

आन्दोलन भी। उनकी घोषणा तथा भारत-आगमन का फल यह हुआ कि भारतीय राजनीतिज्ञों का ध्यान संवैधानिक सुधारों की ओर लग गया। मांटेग्यू ने बड़े गर्व से कहा, "युद्ध के अत्यन्त संकटपूर्ण समय में मैंने भारत को ६ महीनों तक शान्त रखा है तथा राजनीतिज्ञों को अपने मिशन के अतिरिक्त किसी ओर ध्यान नहीं देने दिया।"

ऐनी बीसेन्ट, कांग्रेस अध्यक्ष

इस दौरान एक और महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि श्रीमती ऐनी बीसेन्ट कांग्रेस-अध्यक्ष चुन ली गयीं। यह उनके स्वशासन के लिए किये गए शानदार संघर्ष का उपयुक्त पुरस्कार था।

कांग्रेस-लीग समझौता—ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए जिन कुत्सित चालों का उपयोग किया, उनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है परन्तु मुसलमानों में भी शीघ्र ही राष्ट्रीयतावादी भावना जाग्रत हो गयी। मुस्लिम लीग का नेतृत्व भी सन् १९१२ के बाद नवयुवकों के हाथ में आ गया। यद्यपि उन्होंने लीग का उद्देश्य मुसलमानों के हितों की रक्षा करना ही रखा परन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हो गयीं जिनसे वह भी स्वशासन की मांग करने लगी। महायुद्ध में टर्की का सुल्तान जो संसार के मुसलमानों का खलीफा था, जर्मनी का मित्र था। ब्रिटिश शासन ने उसके विरुद्ध अरब के विद्रोहियों से सहानुभूति प्रकट की। भारतीय मुसलमानों में असन्तोष को रोकने के लिए सरकार ने घोषणा की कि मित्र-राष्ट्र अरब के धार्मिक स्थानों पर हमला न करेंगे, परन्तु इससे भी मुसलमानों को सन्तोष न हुआ। राष्ट्रीय नेताओं ने उसका लाभ उठाया तथा उन्होंने स्वशासन की मांग पर मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की। इसके अतिरिक्त उस समय नये वायसराय लॉर्ड हार्डिंग्ज की कांग्रेस के प्रति मेल-जोल की नीति के कारण मुसलमानों में पृथकतावादी तत्वों का जोर नहीं रह गया। सन् १९११ में बंग-भंग की घोषणा से भी मुसलमान अँग्रेजों से रुष्ट हुए क्योंकि उनका कहना था कि उनसे परामर्श नहीं लिया गया था। इन सब कारणों से मुसलमानों में जो असंतोष फैला तो वह राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होने लगे। मौलाना आजाद, मुहम्मदअली जिन्ना, हकीम अजमलखां जैसे लोगों के हाथ में मुस्लिम लीग की बागडोर थी। इनके व्यापक दृष्टिकोण ने संकुचित साम्प्रदायिकतावाद की नीति से मुसलमानों का ध्यान राष्ट्रीयतावाद की ओर आकर्षित किया।

मौलाना आजाद की गम्भीर विद्वत्ता की धाक न केवल भारत में, अपितु पूरे इस्लामी जगत में फैल चुकी थी। उन्होंने यद्यपि लड़ाइयों में जिनमें टर्की घिर गया था, गहरी रुचि ली, फिर भी उनका मार्ग पुराने मुस्लिम

मौलाना आजाद

नेताओं से भिन्न था। उनके व्यापक बुद्धिसंगत दृष्टिकोण ने उन्हें पुराने नेताओं के सामन्ती, संकुचित, धार्मिक तथा पृथकतावादी दृष्टिकोण से अलग रखा तथा उन्हें सिर से पैर तक भारतीय राष्ट्रवादी

बना दिया।[1] सन् १९१२ में उन्होंने उर्दू साप्ताहिक "अलहिलाल" का प्रकाशन आरम्भ किया तथा मुस्लिम लीग की अनुदार तथा अराष्ट्रीय नीतियों की आलोचना की। मेहता तथा पटवर्द्धन का मत है कि 'अलहिलाल' ने मनुष्यों के मस्तिष्क को भय तथा निराशा से मुक्त करने मे सहायता प्रदान की तथा उन्हें आशा तथा साहस के उच्च धरातल पर ला खड़ा किया।"[2] उनकी रचनाओं ने सरकार को रुष्ट कर दिया। उनके पत्र से जमानतें माँगी गयीं तथा सन् १९१४ में उनका प्रेस जब्त कर लिया गया तथा सन् १९१६ में उन्हें चार वर्ष के लिए अन्तर्नामित कर दिया गया।

मौलाना मुहम्मद-अली तथा शौकतअली

इस समय तक मौलाना मुहम्मदअली अपने उर्दू पत्र 'हमदर्द' तथा अँग्रेजी पत्र 'कामरेड' द्वारा राष्ट्रीयतावादी प्रचारों के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। यह ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त कर चुके थे तथा इस्लाम के प्रति दृढ़ आस्था रखते थे। बंग-विभाजन के उपरान्त अँग्रेजों की नेकनीयती पर से उनका विश्वास हट गया। टर्की के पक्ष में भी उन्होंने आन्दोलन किया। सन् १९१५ में युद्धकाल के लिए उन्हें अपने भाई शौकतअली के साथ अन्तर्वासित कर दिया गया।

मोहम्मदअली जिन्ना

श्री मोहम्मदअली जिन्ना ने भी मुस्लिम लीग को कांग्रेस के निकट लाने का प्रयास किया तथा उसे साम्प्रदायवादी तथा पृथकवादी तत्वों से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न किया। उनके ही नेतृत्व के कारण मुस्लिम लीग ने सन् १९१३ के लखनऊ अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य का अपना लक्ष्य घोषित किया। इस समय सर आगाखाँ लीग के अध्यक्ष थे। उन्हें यह राष्ट्रीयतावादी नीति पसन्द न थी; अतः उन्होंने सन् १९१५ में अध्यक्षता से त्याग पत्र दे दिया। इसके उपरान्त लीग की बागडोर जिन्ना साहब के हाथ में आ गयी।

मौलाना शिबली नौमानी

मौलाना शिबली नोमानी सर सैय्यद के सहयोगी थे। जब सर सैय्यद साम्प्रदायिकता की ओर उन्मुख हो गये तब मौलाना नोमानी को यह नीति पसन्द न आयी तथा उन्होंने उनकी कठोर आलोचना की। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा मुसलमानों में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने की साहसिक चेष्टा की। वह यह न चाहते थे कि मुसलमान केवल कांग्रेस के आलोचक बनें। उन्होंने ९ अक्टूबर, सन् १९१७ के लखनऊ के 'मुस्लिम गजट' में लीग की राजनीति पर विचार करने के उपरान्त लिखा—"वृक्ष की पहिचान उसके फल से होती है। यदि हमारी राजनीति में गम्भीरता होती तो हममें संघर्ष के लिए उमंग और कष्ट तथा त्याग के लिए तत्पर रहने की भावना अवश्य जागृत हुई होती।"

मुस्लिम लीग की नीतियों में शनैः शनैः जो परिवर्तन हो रहा था, कांग्रेस

---

1 *Nehru* : Discovery of India. p. 289.

2 The Communal Triangle, p. 32.

ने उसका स्वागत किया। सन् १९१३ की कांग्रेस में टर्की तथा फारस के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव भी पास किया गया जिनमें दोनों देशों के प्रति सद्भावना प्रकट की गयी। धीरे-धीरे कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग अपने दृष्टिकोणों में नजदीक आने लगीं। सन् १९१४ में मुस्लिम लीग में राष्ट्रीयतावादियों का जोर हो गया।

कांग्रेस-लीग समझौता, सन् १९१६

इस परिवर्तन से ऐंग्लो-इण्डियन समाचार-पत्र विचलित हो उठे। उन्हें यह शंका होने लगी कि जिस विभेद की नीति को अपनाकर वह लाभ उठाना चाहते थे कहीं वह असफल नहीं हो जाय तथा कालान्तर मे भारत मे अंग्रेजी राज्य समाप्त हो जाय। राष्ट्रवादी नेता इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता में वृद्धि हो तथा दोनों ही जातियां परस्पर मिलकर सामान्य राजनीतिक लक्ष्य की ओर शक्तिशाली पग उठावें तथा ऐसे महान् भारत का निर्माण करें जो अशोककालीन भारत से कहीं अधिक महत्तर तथा अकबरकालीन भारत से कहीं अधिक वृहत्तर हो। सन् १९१५ तक मुस्लिम लीग पर राष्ट्रवादी मुसलमानों ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया था तथा इसी वर्ष होने वाले अधिवेशनों मे उसने कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को आमन्त्रित किया। इसके फलस्वरूप महात्मा गांधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा सरोजिनी नाइडू आदि लोग अधिवेशन में सम्मिलित हुए। मिस्टर जिन्ना ने इस अधिवेशन में भारत के लिए राजनीतिक सुधारों के लिए एक समिति निर्माण की योजना प्रस्तुत की जो कांग्रेस के साथ मिलकर काम करे। यह योजना स्वीकृत हो गयी। इसके परिणामस्वरूप, सन् १९१६ में संयुक्त कांग्रेस लीग योजना तैयार हुई जो 'लखनऊ पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १९१६ में लखनऊ नगर में कांग्रेस तथा लीग के अधिवेशन एक ही समय में हुए। दोनों अधिवेशनों ने कांग्रेस लीग योजना को स्वीकार किया तथा उसे सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत किया। गुरुमुख निहालसिंह का कहना है, "इस प्रकार भारत की दो बड़ी जातियों ने और दो बड़ी राजनीतिक संस्थाओं ने एक 'कार्यक्रम' अपनाया और इस रूप में उनके द्वारा, विशेषकर उसी वर्ष नरम तथा उग्र पक्षों में ऐक्य हो जाने पर ब्रिटिश भारत की राजनीतिक दृष्टि से जगी हुई सारी जनता का प्रतिनिधित्व हुआ।"[1]

लखनऊ में कांग्रेस तथा लीग में समझौता हुआ, उसमें दो बातें मुख्य थीं। प्रथम, लोग ने कांग्रेस के समान ही भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन देने की माँग का समर्थन किया। द्वितीय, कांग्रेस ने समझौते के तौर पर मुसलमानों की, राष्ट्र के अन्य भागों से पृथक् राजनीतिक सत्ता स्वीकार की। इससे पूर्व कांग्रेस का यह दावा था कि वह सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। अब इस 'पैक्ट' द्वारा कांग्रेस ने यह मान लिया कि मुसलमानों के राजनीतिक अधिकार पृथक् हैं तथा उनका प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था भी पृथक् है। यह संस्था मुस्लिम लीग मान ली गयी।[2]

1 भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास, पृ० ३०४।
2 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास, पृ० १५६।

यह समझौता सरलतापूर्वक नहीं हुआ। सी० वाई० चिन्तामणि, मदनमोहन मालवीय आदि कई नेता इस समझौते को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, परन्तु कांग्रेस के अधिकतर नेता चाहते थे कि वह उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की मांग को देश की सर्वसम्मत मांग के रूप में सरकार के सामने पेश करें। यह अभिलाषा अपने आप में शुभ थी, परन्तु श्री जिन्ना बहुत चतुर थे। वह समझ गये कि उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की मांग को सर्वसम्मत बनाने के लिए कांग्रेस कुछ कीमत भी दे देगी तथा वह सौदे के लिए तैयार हो गये। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का कहना है, "कांग्रेस के उस समय के नेताओं ने समझा था कि जो 'पैक्ट' बन रहा है, वह सौदे का अन्तिम अध्याय है, पर वस्तुतः वह केवल पहला अध्याय निकला और उसके अन्तिम अध्याय का शीर्षक बना 'पाकिस्तान'।"[1] संक्षेप में, कांग्रेस ने इस पैक्ट द्वारा स्वीकार किया :

(१) भारतीय राष्ट्र के दो भाग हैं—एक मुस्लिम दूसरा गैर-मुस्लिम।

(२) प्रतिनिधित्व की मात्रा निश्चित करने के लिए साम्प्रदायिकता को आधार माना जा सकता है।

(३) भारत में मुसलमानों का विशेष महत्व है तथा इसलिए उन्हें अपनी जनसंख्या से अधिक प्रतिनिधित्व का अधिकार देना उचित है।

मुसलमानों को प्रतिनिधित्व

'पैक्ट' के अनुसार मुसलमानों का पंजाब व बंगाल में बहुमत था तथा वहाँ उन्हें क्रमशः ४०% तथा ५०% स्थान देना स्वीकार किया गया, परन्तु जिन प्रान्तों में वह अल्पमत में थे, वहाँ उनके साथ विशेष रियायत की गयी। यह नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जायगा। यद्यपि उनकी कुल जनसंख्या समस्त भारत की २४% थी पर उन्हें ३३·३% प्रतिनिधित्व मिला।

प्रान्त	मुस्लिम जनसंख्या	समझौते के अनुसार
पंजाब	५५·२	५०
संयुक्त प्रान्त	१४·३३	३०
बंगाल	५४·६	४०
बिहार-उड़ीसा	१०·९	२५
मध्यप्रान्त	४·४	१५
मद्रास	६·७	१५
बम्बई	१९·८	३३·३
आसाम	३२·३	कोई व्यवस्था नहीं

1 वही, पृ० १५७।

इस समझौते की शर्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस ने लीग को सन्तुष्ट करने के लिए तथा उसका सहयोग पाने के लिए भारतीय राष्ट्रीयता का ध्यान न रखते हुए उन्हें विशेष सुविधाएँ प्रदान कीं। इस योजना से यद्यपि थोड़े-से समय के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित हुई पर कालान्तर में दोनों जातियों के मध्य वैर बढ़ता ही गया। भविष्य में सरकार ने इस 'पैक्ट' को ही मांटफोर्ड-सुधार का आधार बना लिया, परन्तु जिस औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की गयी थी, उस पर ध्यान न दिया। कांग्रेस ने यदि संयुक्त निर्वाचन पद्धति पर बल दिया होता तो भारत का विभाजन न होता।

कांग्रेस-लीग योजना—कांग्रेस-लीग पैक्ट द्वारा संवैधानिक सुधारों की जो योजना बनी, उसके मुख्य उपबन्ध निम्न थे[1] :

(१) प्रान्तों को यथासम्भव प्रशासन तथा वित्तीय क्षेत्र में केन्द्रीय नियन्त्रण से स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

(२) केन्द्रीय तथा व्यवस्थापिका-सभाओं के ४/५ सदस्य निर्वाचित तथा १/५ मनोनीत होने चाहिए।

(३) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के कम से कम आधे सदस्य अपनी-अपनी व्यवस्थापिका-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित हों।

(४) जब तक कौंसिलों द्वारा पास किये गये प्रस्तावों पर गवर्नर-जनरल अथवा सपरिषद्-गवर्नर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग न करे, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों को उनके अनुकूल ही आचरण करना चाहिए।

(५) केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा को भारत सरकार के सैनिक, वैदेशिक तथा राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का, जिनमें युद्ध-घोषणा अथवा संधि करना भी सम्मिलित है, कोई अधिकार न होना चाहिए।

(६) भारतमन्त्री के भारत सरकार से वे ही सम्बन्ध होने चाहिए जो औपनिवेशिक मन्त्री से उपनिवेशों की सरकारों के साथ होते हैं।

नाइन्टीन मेमोरेण्डम—यह मेमोरेण्डम कांग्रेस-लीग समझौते का आधार था जिसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के १९ सदस्यों ने अक्टूबर, सन् १९१६ में लॉर्ड चेम्सफोर्ड को पेश किया। इसमें से मुख्य पंडित मदनमोहन मालवीय, सर तेज बहादुर सप्रू तथा श्री जिन्ना थे। इस 'मेमोरेण्डम' में कहा गया था :

"भारत को एक अच्छे शासन की आवश्यकता नहीं है, वरन् उस सरकार की आवश्यकता है जो जनता को मान्य हो तथा जिसका जनता के प्रति उत्तर-दायित्व हो। यदि युद्ध के बाद भी व्यावहारिक रूप में भारत की स्थिति उसी समान रहती है, जो युद्ध के पूर्व थी तो समान संकट के विरुद्ध भारत तथा इंगलैण्ड के समान प्रयत्नों का अपूर्ण आशाओं की दुःखदायी स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य कोई परिणाम नहीं होगा।"

---

1 *Coupland* ; The Indian Problem (1833-1935), p. 48.

इस मेमोरेण्डम में यह प्रस्ताव किया गया कि प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सभी कार्यकारिणी-परिषदों में आधी सदस्य-संख्या भारतीयों की होनी चाहिए तथा सभी व्यवस्थापिका-सभाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए ; जनता के मताधिकार को विस्तृत कर देना चाहिए ; अल्प-संख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए ; भारतमन्त्री की परिषद् समाप्त कर देनी चाहिए ; प्रान्तों को स्वायत्तता मिलनी चाहिए तथा भारत को सम्पूर्ण रूप से स्थानीय शासन प्राप्त होना चाहिए। इसी मेमोरेण्डम में इस बात पर भी बल दिया गया कि सेना में भारतीय नवयुवकों को वही सुविधाएँ मिलनी चाहिए जो यूरोपियनों को मिलती हैं।

मांटफोर्ड-योजना

मांटेग्यू के २० अगस्त, सन् १९१७ को घोषणा तथा राजनीतिक नेताओं तथा भारत सरकार से वार्ता करने के लिए उनके भारत आने की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। जिस समय मांटेग्यू ने भारत के लिए प्रस्थान किया था, उन्होंने घोषणा की थी :

"मेरी भारत-यात्रा का तात्पर्य यह है कि हम कुछ करने जा रहे हैं। मैं इंगलैण्ड को खाली हाथ या कोई साधारण वस्तु देकर नहीं लौट सकता। जिस वस्तु को लेकर मैं लौटूँगा, उससे नये युग का निर्माण करना चाहिए, अन्यथा मेरे प्रयत्न निष्फल होंगे। उस वस्तु को भारतवर्ष के भावी इतिहास की कुंजी के समान होना चाहिए।"

मांटेग्यू के भारत आने का मुख्य प्रयोजन यह था कि वह किस प्रकार काम करना चाहते थे कि "मानो सुधारों की सारी योजना भारत सरकार द्वारा ही बनायी गयी,"[1] परन्तु भारत में उन्हें वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद के सदस्यों, प्रान्तीय शासनों के अध्यक्षों, विशेषतया पंजाब के सर माय्केल ओ' डायर तथा मद्रास के लेफ्टिनेंट पैंटलैण्ड तथा अन्य योरोपीय अधिकारियों से सहयोग पाने में कठिनाई हुई। उन्हें अपनी योजना में अनेक परिवर्तन करने पड़े। भारत सरकार को प्रसन्न करने के लिए प्रान्तीय स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध लगाये गये अथा प्रान्तीय जनता को प्रदान किये जाने वाले उत्तरदायित्व को घटा दिया गया। गवर्नरों को आश्वासन दिया गया कि उच्च पदों पर पहुंचने के लिए उन्हें उचित अवसर प्रदान किये जायेंगे तथा उन्हें संरक्षण मिलेगा, जिससे मन्त्रिगण उनके कामों में हस्तक्षेप न कर सकें। सिविल-सर्विस द्वारा उन्हें आश्वासन दिया गया कि उनके वेतन में वृद्धि हो जायगी। रिपोर्ट में राजाओं के नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना की भी सिफारिश की गयी। जब अन्तिम रूप से शासन में सुधार करने सम्बन्धी योजना सामने आयी तो उसमें मौलिक योजना की उस भव्यता का अभाव था जिसे बनाये रखने के हेतु मांटेग्यू उत्सुक थे।[2]

1 *Montague* : An Indian Diary. p. 1,
2 गुरुमुख निहालसिंह, पृ० ३३१।

भारत में संवैधानिक सुधारों से सम्बन्धित योजना ८ जुलाई, सन् १९१८ को प्रकाशित हुई। इसके चार मुख्य सिद्धान्त थे :

मुख्य सिद्धान्त

(१) स्थानीय स्वराज्य के क्षेत्र में पूर्णतया जनता का नियन्त्रण हो।

(२) प्रान्तों में भी थोड़ी मात्रा में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन का सिद्धान्त लागू किया जाय।

(३) केन्द्रीय सरकार यद्यपि पूर्ण रूप से ब्रिटिश लोकसभा के ही प्रति उत्तरदायी बनी रहे तथा उसके अधिकार सभी विषयों पर सुरक्षित रहें, परन्तु व्यवस्थापिका-सभा का आकार बढ़ाकर उसे अवसर दिया जाय कि वह सरकार को प्रभावित कर सके।

(४) भारत सरकार पर भारतमन्त्री के नियन्त्रण में आवश्यक शिथिलता कर दी जाय।

मांटेग्यू रिपोर्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यदि केन्द्रीय शासन के ढाँचे में कोई परिवर्तन किया गया तो संकट उपस्थित हो सकता है तथा सरकार की कार्यकुशलता में कमी आयेगी। इस रिपोर्ट मे इस बात पर भी बल दिया गया कि भारत में अशिक्षितों की संख्या अधिक थी तथा उन्हें उत्तरदायी शासन के लिए शीघ्र शिक्षित करना आसान काम न था। इसके अतिरिक्त भारतीयों में भाषा, धर्म तथा जाति की दृष्टि से भी मतभेद था। इस रिपोर्ट मे साम्प्रदायिक निर्वाचनों का भी विरोध किया गया, फिर भी इसने साम्प्रदायिक निर्वाचनों को न केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखा वरन् सिक्खों के ऊपर भी लागू करने की सिफारिश की। इस प्रकार यद्यपि रिपोर्ट ने कांग्रेस-लीग योजना की कुछ बातों को अपनाया पर अन्य बातों को अत्यन्त क्रान्तिकारी समझ कर छोड़ दिया गया।

इस रिपोर्ट के प्रकाशन से भारतीय राजनीतिज्ञों को घोर निराशा हुई। लोगों के हृदयों में होमरूल आन्दोलन से जो आशा जाग्रत हुई थी, वह स्वप्न-मात्र निकली। तिलक ने कहा कि यह योजना किसी भी दशा मे स्वीकार करने लायक नहीं थी। ऐनी बीसेन्ट ने कहा कि इंगलैण्ड द्वारा इस योजना का प्रस्तुत करना अनुचित है तथा भारत का इसे स्वीकार करना नितान्त अनुचित एवं असम्मानीय है। प्रो० जितेन्द्रलाल बनर्जी के अनुसार वे सुधार अनुदार, अधकचरे, अपर्याप्त तथा निष्फल थे। डॉ० सुब्रह्मण्यम ऐयर ने देशवासियों को सलाह दी कि उन्हें जो अफीम दी जा रही है, उसका स्पर्श भी न करें।

अगस्त सन् १९१८ में इस योजना पर विचार करने के लिए बम्बई में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। उग्रवादी इस योजना का पूर्णतया विरोध करना चाहते थे, परन्तु उदारवादी इससे बचना चाहते थे। वह यह समझते थे कि यदि इसका विरोध किया गया तो सरकार इन सुधारों को लागू करना स्थगित कर देगी। उनका विचार था कि कुछ न मिलने से कुछ मिलना हितकर है।

उग्रवादियों तथा उदारवादियों, दोनों के मध्य इस प्रकार पुनः मतभेद हो गया। मुस्लिम लीग ने भी इस सुधार-योजना का विरोध किया।

उदारवादियों का कांग्रेस से अलग होना

उदारवादियों को क्योंकि मांटेग्यू रिपोर्ट की सच्चाई, सहानुभूति तथा उसके उद्देश्यों पर पूर्ण विश्वास था, अतः उन्होंने उग्रवादियों के विपरीत इन सुधारों को प्रगतिशील तथा तात्विक कहा तथा जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वह इन पर विचार करने के लिए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में भी सम्मिलित नहीं हुए तथा उन्होने अपना एक स्वतन्त्र दल बनाने का निश्चय किया। गुरुमुख निहालसिंह का कहना है कि इसके लिए तीन बातें उत्तरदायी थीं :

(१) मॉडरेटों या नरम लोगों को विश्वास था कि कांग्रेस में होमरूल के समर्थकों की प्रधानता थी जिन्होंने अपने आपको सुधारों का विरोधी प्रकट कर दिया था; अतः वह नहीं चाहते थे कि इन सुधारों पर बिना विचार किये ही कांग्रेस उसे ठुकरा दे। यद्यपि बाद में कांग्रेस अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास किया गया, उसे देख कर कुछ मॉडरेट नेताओं ने अनुभव किया कि उन्होंने भूल की थी।

(२) नरमवादियों का कांग्रेस से अलग होने का कारण मनोवैज्ञानिक भी था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दीनशा वाचा आदि नेता वृद्ध हो गये थे तथा उन्हें यह आशा न थी कि भारत शीघ्र ही स्वशासन प्राप्त कर लेगा; अतः वह उत्तरदायी शासन के आरम्भ की चर्चा के आगे झुक गये। क्योंकि वह अधिक प्रतीक्षा न कर सकते थे, अतः उनकी ओर जो भी मित्रता का हाथ बढ़ाया गया, उन्होने उसे थाम लिया। वह तीव्र प्रगति से भी भयभीत थे तथा देशवासियों की त्रुटियों तथा दुर्बलताओं से परिचित थे तथा धीरे-धीरे बढ़ना चाहते थे।

(३) उन्हें सरकार की सचाई पर विश्वास था। उन्हें यह देखकर दुःख होता था कि कांग्रेसी नेता, सरकार की नीति तथा भावना में जो परिवर्तन हुआ था, उनकी ओर ध्यान दे रहे थे।[1]

उपर्युक्त कारणों से नवम्बर, सन् १९१८ में उदारवादियों ने कांग्रेस को छोड़ कर 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' की स्थापना की। उन्हें क्रमिक संवैधानिक सुधारों में अधिक विश्वास हो गया था तथा उन्होंने नवीन सुधारों के अनुसार नवम्बर-दिसम्बर, सन् १९२० के निर्वाचनों में भाग लिया, यद्यपि महात्मा गांधी ने देश में असहयोग-आन्दोलन छेड़ रखा था।

---

1 वही, पृ० ३८५-८६।

६

भारतीय-शासन अधिनियम, सन् १६१६

भारतीय शासन अधिनियम, सन् १६१६ का मुख्य आधार मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन था। इस अधिनियम के प्रस्तावना में मांटेग्यू की घोषणा के सारांश को दोहराया गया। इस अधिनियम में चार मूलभूत सिद्धान्तों का निरूपण किया गया था। ये सिद्धान्त निम्नलिखित थे[1] :

मूल आधार और उद्देश्य

(१) "जहाँ तक हो सके, स्थानीय संस्थाओं में जनता का पूर्ण अधिकार हो। उनका नियन्त्रण उसी के द्वारा हो और वाह्य नियन्त्रण से उनको अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

(२) प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व का सूत्रपात किया जाय और जैसे-जैसे स्थिति उपयुक्त बने, उन्हें पूर्ण उत्तरदायित्व दे दिया जाय ;

---

1 (i) There should be, as far as poisible, complete popular control in local bodies and the largest possible independence for them of oustside control.

(ii) The province are the domains in which the earlier steps towards the progressive realisation of responsibe Government should be taken.

(iii) The Government of India must remain wholy responsible to parliament, and having such responsibility, its authority in essential matters must remain indisputabl pending experince of the effect of the changes naw to be introduced in Provincəs,. In the meantime the Indian Legislative Council should' be enlarged and made more representative and its opportunities of influencing Government increased,

(iv) In proportion to the foregoing changes the control of Parliament and Secretery of Statə over the Government of India and Provincial Government must be relad.

(३) भारत सरकार ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी रहेगी, परन्तु केन्द्रीय विधान-मण्डल का विस्तार किया जायगा ताकि शासन-व्यवस्था पर उनके प्रभाव में वृद्धि हो सके ;

(४) गृह सरकार (Home Government) के नियन्त्रण में शिथिलीकरण "

१. भारतीय शासन अधिनियम, सन् १६१६ की विशेषताएँ

इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

(१) प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन—द्वैध शासन-व्यवस्था ;
(२) अनुत्तरदायी केन्द्रीय शासन ;
(३) विकेन्द्रीकरण ;
(४) गृह सरकार के नियन्त्रण में शिथिलीकरण ;
(५) निर्वाचन तथा मताधिकार ;
(६) प्रयोगकालीन तथा संक्रातिकालीन उपाय ;
(७) शक्ति-विभाजन ;
(८) द्विसदनात्मक केन्द्रीय व्यवस्थापिका का निर्माण ।

प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन

इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय शासन आंशिक रूप से व्यवस्थपिका के प्रति उत्तरदायी बनाये गये। इसके अनुसार प्रान्तीय प्रशासन को दो भागों में विभाजित किया गया—हस्तान्तरित विषय (Transferred Subjects) और रक्षित विषय (Reserved Subjects)। हस्तान्तरित विषयों को लोकप्रिय मंत्रियों को सौंप दिया गया जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते थे। रक्षित विषयों को कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्यों के अधीन रखा गया, जो गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे और व्यवस्थपिका के नियन्त्रण से मुक्त थे। इसी व्यवस्था को द्वैध शासन-व्यवस्था (Dyarchy) के नाम से पुकारा गया। इस शासन-व्यवस्था में विधान-सभाओं का स्वरूप अधिक लोकतंत्रात्नक बनाया गया। उनमें अब निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया तथा उसके अधिकारों में वृद्धि की गयी।

द्वैध शासन-व्यवस्था

भारतीय शासन अधिनियम की सबसे मुख्य विशेषता प्रान्तों में द्वैध शासन-व्यवस्था की स्थापना थी। द्वैध शासन-व्यवस्था (Dyarchy) के माध्यम से ही आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी थी। सम्राट् की घोषणा में यह स्पष्ट हो था कि उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति धीरे-धीरे क्रमिक विकास द्वारा की जायगी। इन दृष्टिकोणों के प्रकाशन का कारण यह विश्वास था कि भारतीय लोग शासन-प्रबन्ध की जटिलताओं को समझने तथा शासन-उत्तरदायित्व के योग्य नहीं हैं। इसलिए प्रान्तीय शासन-व्यवस्था को दो भागों में बाँट दिया

गया। कम महत्वपूर्ण विषयों के शासन-प्रबन्ध का भार भारतीय लोकप्रिय मन्त्रियों पर छोड़ दिया गया और मुख्य विषय गवर्नर की कार्यकारिणी-परिषद के सदस्यों के पास ही रहे। हस्तान्तरित विषयों के लिए मंत्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे।

इस अधिनियम ने केन्द्रीय शासन को यथापूर्व केन्द्रीय विधान-मण्डल के प्रभाव से मुक्त रखा। यद्यपि व्यवस्थापिका-सभा का विस्तार कर दिया गया और उसके अधिकारों मे वृद्धि कर दी गयी जिससे वह सरकार को अधिकाधिक प्रभावित कर सके, परन्तु इसके विपरीत गवर्नर-जनरल को भी कुछ विशेष अधिकार प्रदान कर दिये गये। यदि गवर्नर-जनरल यह समझता कि भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा, शान्ति अथवा उसके हितों के लिए किन्हीं विशेष विधियों की आवश्यकता थी तो वह उन्हें अपने विशेषाधिकारों से, बिना व्यवस्थापिका की सहमति के लागू कर सकता था। अतः यह स्पष्ट ही है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र में यथापूर्व अनुत्तरदायी शासन ही बना रहा।

केन्द्रीकरण से विकेन्द्रीकरण

इस अधिनियम ने केन्द्रीकरण की नीति को, जो लार्ड कर्जन के जमाने से चली आ रही थी, समाप्त कर दिया। प्रशासन तथा राजस्व सम्बन्धी कुछ विषय केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण से हटाकर प्रान्तीय शासन के नियन्त्रण में दे दिये गये। अब प्रान्तीय बजट केन्द्रीय बजट से पृथक् कर दिया गया तथा आय की कुछ मदें प्रान्तों को सौंप दी गयीं। प्रान्तों को प्रथम बार ऋण लेने तथा कर लगाने का अधिकार प्रदान किया गया। यद्यपि उन पर कानूनी तौर पर भारत सरकार की प्रभुता यथापूर्व बनी रही तथा प्रान्तीय शासन के लिए भारत सरकार ब्रिटिश शासन के प्रति उत्तरदायी भी बनी रही परन्तु फिर भी इस विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों में प्रान्तों को काम करने का अधिकार मिला। संरक्षित विषयों में प्रान्तों पर भारत सरकार का ही नियन्त्रण बना रहा।

गृह-शासन के नियन्त्रण का शिथिलीकरण

प्रान्तीय तथा केन्द्रीय शासन में प्रस्तावित परिवर्तनों को लागू करने के लिए गृह सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारों पर आवश्यक ढील डालने की सिफारिश मांटफोर्ड रिपोर्ट ने की थी। जिस समय यह अधिनियम बना, यद्यपि भारतमन्त्री की वैधानिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया तथा वह अब भी भारत के प्रशासन के निरीक्षण, नियन्त्रण तथा निर्देशन' के लिए ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी बना रहा, परन्तु यह आशा व्यक्त की गयी कि कार्यरूप में हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में वह हस्तक्षेप न करेगा। यह भी परम्परा विकसित करने का प्रयत्न किया गया कि यदि किसी विषय पर भारत सरकार तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका सहमत हो तो गृह सरकार उसमें कोई हस्तक्षेप

न करेगी। इस प्रकार परम्पराओं की वृद्धि के साथ शनैः शनैः इस नियन्त्रण में शिथिलीकरण होना था।

निर्वाचन तथा मताधिकार

इस अधिनियम ने प्रत्यक्ष निर्वाचनों का सूत्रपात किया। नवीन निर्वाचन-नियमों के अनुसार अब भारत की वयस्क जनता के लगभग दस प्रतिशत को मताधिकार मिला। मिन्टो-मोर्ले सुधार के अन्तर्गत मुसलमानो के लिए पृथक् निर्वाचन की जो विधि अपनायी गयी थी, वह अब पंजाब मे सिक्खों के लिए, तीन प्रान्तों को छोड़कर अन्य प्रान्तों में योरोपियनो के लिए, दो प्रान्तों में ऐंग्लो-इण्डियनों के लिए, तथा एक प्रान्त में ईसाइयों के लिए भी लागू कर दी गयी। यद्यपि मांटफोर्ड रिपोर्ट ने साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को अराष्ट्रीय विघटनकारी तथा भयावह घोषित किया था, परन्तु इस अधिनियम ने इसको हटाने के बजाय और गढ़ा दिया। यह अधिनियम मांटेग्यू की घोषणा में उल्लिखित वायदों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रथम प्रयास था। यह केवल एक अल्पकालीन उपाय था तथा इनके अनुसार, जैसा लॉर्ड मेरटन का कहना था। कि स्वेच्छातन्त्र तथा लोकतन्त्र

प्रयोगकालीन तथा संक्रान्ति-कालीन उपाय

उस समय तक साथ-साथ हाथ मिलाकर चलने को बाध्य थे, जब तक लोकतन्त्र स्वयं चलना न सोच ले तथा अकेला चलने के विश्वास योग्य न हो जाये। इस अधिनियम के अनुसार १० वर्ष बाद एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति की जानी थी जो यह जाँच करता कि नवीन अधिनियम के अन्तर्गत क्या उन्नति की गई है तथा पूर्ण उत्तरदायी शासन के लक्ष्य की ओर अन्य कोई प्रगति की जा सकती है अथवा नहीं। इस प्रकार स्वशासन की दिशा में यह एक प्रयोग था तथा उत्तरदायी शासन की स्थापना की ओर एक कदम।

प्रान्त व केन्द्र के मध्य शक्ति विभाजन

इस अधिनियम ने वह विषय जो अन्तर्प्रान्तीय हितों से सम्बन्धित थे, केन्द्र के अधीन रखे तथा जो प्रान्तीय विषयों से विशेष सम्बन्ध रखते थे, प्रांतों के अन्तर्गत रखे। प्रान्तीय क्षेत्र के अन्तर्गत स्थानीय शासन, जन-स्वास्थ्य तथा चिकित्सा, सार्वजनिक कार्य, शिक्षा (कुछ अपवादों को छोड़कर), सिंचाई, अकाल-पीड़ित सहायता, राजस्व-कर, कृषि, जंगल, जेल व पुलिस तथा न्याय-व्यवस्था का कुछ भाग रखा गया। केन्द्र के अन्तर्गत वैदेशिक विषय, सेना, रेल, डाक व तार, आयकर, मुद्रा, टंकण, व्यापार, जहाजरानी, सार्वजनिक प्रेरणा, चुंगी तथा महसूल व दीवानी व फौजदारी कानून रखे गये। इस प्रकार प्रान्तीय विषयों पर प्रशासन एवं व्यवस्थापन प्रान्तों को सौंप दिया गया, यद्यपि परोक्ष रूप में अब भी भारत सरकार सम्पूर्ण भारत के लिए कानून निर्माण करने की क्षमता रखती थी :

सन् १९१९ के अधिनियम ने एकसदनात्मक केन्द्रीय विधान-मण्डल को

द्विसदनात्मक स्वरूप दे दिया। अतः केन्द्रीय विधान-मण्डल के दो सदनों—केन्द्रीय विधान-सभा तथा राज्य-परिषद् का निर्माण किया गया।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का निर्माण

केन्द्रीय विधान-सभा में १४५ सदस्य थे, जिसमें १०३ का निर्वाचन होना था और शेष मनोनीत होने थे। मनोनीत सदस्यों में २५ सरकारी तथा १७ गैर-सरकारी होने थे। ठीक इसी प्रकार १०२ निर्वाचित सदस्यों में से ५१ सामान्य चुनाव-क्षेत्रों, ३२ साम्प्रदायिक चुनाव-क्षेत्रों तथा २० विशेष चुनाव-क्षेत्रों से चुने जाने थे।

२. गृह सरकार (Home Government)

भारत में अंग्रेजों से पहले आने वाले शासकों (मुस्लिम) और अंग्रेजों में अन्तर था। मुस्लिम भारत में आकर बस गये और उन्होंने भारतवर्ष को ही अपना मुल्क बना लिया। परन्तु अंग्रेजों ने भारत को अपना मुल्क नहीं बनाया और वे विशुद्ध उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी थे। उन्होंने हमेशा भारत का अधिक से अधिक शोषण करने की नीति अपनायी और वे ब्रिटिश सरकार और संसद के प्रति स्वामिभक्त रहे। इसी आधार पर भारतीय शासन को दो भागों में विभाजित किया गया और उसका एक भाग इंगलैण्ड में कार्य करता था तथा दूसरा भारत में। शासन का इन दो भागों में विभाजन अंग्रेजी साम्राज्यवाद की विशेषता थी। इंगलैण्ड में जो भारतीय शासन का स्वरूप था, उसका संयुक्त नाम 'गृह सरकार' (Home Government) दिया गया। गृह सरकार के ४ अङ्ग थे—सम्राट, मन्त्रिमण्डल, संसद, भारतमन्त्री और भारत-कौंसिल (India Council)। भारतीय शासन का दूसरा क्रियाशील स्वरूप भारत में था और इसके अन्तर्गत केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें थीं।

गृह सरकार की व्याख्या

(अ) भारतमन्त्री (*Secretary of State for India*)

भारतमन्त्री के पद का प्रादुर्भाव सन् १८५८ में हुआ था, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त कर भारत का प्रशासन प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश क्राउन के हाथों में चला गया। भारतमन्त्री ब्रिटिश संसद और मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था अर्थात् वह ब्रिटिश कॉमन्स-सभा के बहुमत दल का क्रियाशील सदस्य होता था। इससे यह स्पष्ट है कि भारतमन्त्री अपने कार्यों के लिए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री, संसद और क्राउन के प्रति उत्तरदायी था। वह संसद का एक अभिकर्त्ता मात्र होता था।

भारतमन्त्री के पद का प्रादुर्भाव व प्रकृति

सन् १८५८ के पूर्व जो कार्य कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल करते थे, वे सभी भारतमन्त्री को दे दिये गये।

सन् १९१९ के अधिनियम ने भारतमन्त्री के सम्बन्ध में एक असंगति को दूर कर दिया। सन् १९१९ के पहले भारतमन्त्री का वेतन तथा उसके विभाग पर होने वाले खर्च की व्यवस्था भारतीय खजाने से होती थी। यह एक विरोधाभास और असंगति थी। ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल के सदस्य और उसके विभाग का खर्चा और उसकी व्यवस्था भारतीय कोष से हो, यह विशुद्ध साम्राज्यवादी दृष्टिकोण था, परन्तु सन् १९१९ के अधिनियम ने यह व्यवस्था कर दी कि "भारतमन्त्री का वेतन, उसके उपमन्त्रियों का वेतन और उसके विभाग के अन्य व्यय भारतवर्ष की आय में से चुकाये जाने के बजाय संसद द्वारा प्राप्त राशि से चुकाये जा सकते हैं और भारतमन्त्री का वेतन इसी प्रकार चुकाया जायगा।"

वेतन सम्बन्धी परिवर्तन

इस परिवर्तन का एक परिणाम यह हुआ कि अब ब्रिटिश संसद भारतीय मामलों में अधिक दिलचस्पी लेने लग गयी। गृह सरकार के विभागों के बजट पर जब राशि स्वीकृत होती थी तब संसद भारतीय मामलों की खोजबीन करने लगी।

परिवर्तन का स्वाभाविक परिणाम

इस अधिनियम ने भारतमन्त्री के वैधानिक अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं किया। वह अब भी भारत के प्रशासन पर "अधीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण" शक्ति रखता था अर्थात् उसे भारतीय शासन के सम्बन्ध में व्यापक शक्तियाँ प्राप्त थीं। वह शासन और सेना के सम्बन्ध में भारत सरकार को आदेश दे सकता था तथा बिना उसके आदेश के भारत सरकार को युद्ध तथा शान्ति की घोषणा आदि का अधिकार नहीं था। उसी के परामर्श पर सम्राट् प्रमुख अधिकारियों, जैसे गवर्नर-जनरल, उसकी कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्यों, प्रान्तों के गवर्नरों तथा उनकी कार्यकारिणी के सदस्यों, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, ऑडीटर जनरलों, लोक-सेवा-आयोग के सदस्यों आदि की नियुक्ति करता था। सिविल-सर्विस की नियुक्तियाँ, सेवा की शर्तों आदि पर उसका पूर्ण अधिकार था। भारतमंत्री को भारत सरकार के राजस्व से सम्बन्धित सभी बातों, सम्राट् की सम्पत्ति, शासन के ऋण, शाही नौकरियों के वेतन आदि प्रश्नों पर निरीक्षण करने की शक्ति प्राप्त थी। भारत सरकार के प्रशासन से सम्बन्धित रखने वाले सभी निर्णयों में उसकी स्वीकृति आवश्यक थी तथा सरकार सभी महत्वपूर्ण प्रस्ताव तथा विधेयक उसके पास स्वीकृति के लिए भेजे जाते थे। केन्द्रीय व्यवस्थापिका की सभी कार्यवाहियों में भारतमन्त्री की स्वीकृति तथा पुष्टि आवश्यक थी तथा वह उसकी किसी भी कार्यवाही को रद्द कर सकता था। गवर्नर-जनरल सपरिषद् उसके सभी आदेशों को मानने को बाध्य था। क्योंकि गवर्नर-जनरल भारतमन्त्री के अधीन था, इसी कारण गवर्नर-जनरल के अधीन सारा शासन भी भारतमन्त्री के अधीन आ जाता

अधिकार

अधीक्षण, निर्देशन व नियंत्रण

था। गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकारों के अन्तर्गत जो कार्य करता था, उन पर भी भारतमन्त्री की स्वीकृति आवश्यक थी।

शक्तियों के सम्बन्ध में नियम

सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत मन्त्री को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह अपनी शक्तियों के उपयोग के सम्बन्ध में नियम बनायें। इन नियमों को ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था।

उपरोक्त अधिकारों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सन् १९१९ के अधिनियम की व्यवस्था भारतमन्त्री को भारत के शासन का स्वामी बना देती है,

भारतमन्त्री की सत्ता में शिथिलीकरण

परन्तु एक क्षेत्र में भारतमन्त्री की सत्ता में शिथिलीकरण हुआ था। एक्ट की विशेषताओं के अध्ययन से हमे पता चलता है कि प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी व्यवस्था के फलस्वरूप द्वैध शासन-व्यवस्था की स्थापना की गयी। प्रान्तीय शासन में हस्तांतरित विषयों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट था कि जहाँ तक सम्भव होगा, भारतमन्त्री उस क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा, परन्तु केवल साम्राज्य के हित की रक्षा का प्रश्न उठने पर वह हस्तक्षेप कर सकेगा।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका के विस्तार और उसके शासन पर बड़े प्रभाव के फलस्वरूप भी भारतमन्त्री की सत्ता के शिथिलीकरण की अपेक्षा थी।

थोड़े शब्दों में भारत-सचिव ब्रिटिश संसद का अभिकर्त्ता था जिसके माध्यम से ब्रिटिश क्राउन भारत पर अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं का सफल आयोजन करती थी। वह प्रत्यक्ष रूप से भारतीय शासन और राजस्व के कार्यों का स्वामी था और अप्रत्यक्ष रूप से वह व्यवस्थापन और प्रान्तों के हस्तांतरणीय विषयों पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव रखता था। वह एक कड़ी थी जिसके द्वारा ब्रिटिश संसद भारत की शासन-व्यवस्था का कार्य करती थी।

(ब) इण्डिया कौंसिल

भारतमन्त्री-पद की स्थापना सन् १८५८ में हुई थी। उसकी सहायता के लिए एक इण्डिया कौंसिल की स्थापना की गयी थी तथा इसके संगठन में समय-

संगठन

समय पर परिवर्तन किये गये। १८६९ में इसमें रिक्त स्थानों के भरने का एकमात्र अधिकार भारतमन्त्री को प्रदान किया गया था तथा सदस्यों का कार्यकाल जीवनपर्यन्त न होकर १० वर्ष कर दिया गया था। सन् १९०७ में इसकी संख्या १० व १४ के बीच कर दी गयी तथा कार्यकाल ७ वर्ष कर दिया गया। सन् १९१९ के भारत शासन अधिनियम ने इण्डिया कौंसिल के सदस्यों की संख्या घटा कर ८ तथा १२ के बीच कर दी। इसमें कम से कम आठ सदस्य ऐसे होने थे, जो नियुक्ति से पूर्व भारत में १० वर्ष नौकरी कर चुके हों अथवा रह चुके हों। अब सदस्यों का कार्यकाल ५ वर्ष कर दिया गया। भारतमंत्री को इसकी कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में नियम बनाने के अधिकार दे

सलाहकार-परिषद्

दिये गये। यह भारतमन्त्री की एक सलाहकार-परिषद थी परन्तु कुछ विषयों में भारतमन्त्री इसके बहुमत निर्णयों को मानने के लिए बाध्य था। भारत के राजस्व के किसी भाग के व्यय, भारत सरकार की ओर से किसी अनुबन्ध के करने तथा अखिल भारतीय नौकरियों पर उसका पूरा अधिकार था, परन्तु देशी राजाओं से सम्बन्ध, युद्ध, तथा संधि एवं साम्राज्य सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों पर भारतमंत्री स्वविवेकानुसार निर्णय ले सकता था।

आलोचना

भारतीयों को इण्डिया कौंसिल सदैव ही अप्रिय रही। इसके अधिकांश सदस्य प्रतिक्रियावादी थे तथा उन्हें भारत के राष्ट्रीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों अथवा शासन में अपेक्षित सुधार करने का कोई ध्यान नहीं रहता था। वह हमेशा ऐसे आर्थिक तथा राजनीतिक कार्य करते थे जिनमें उनके साम्राज्य का हित था। यदि कभी भारतमंत्री, कोई उदारवादी विचार रखता तो कौंसिल के सदस्य उनके विपरीत ऐसे परामर्श देते थे जो किसी प्रकार के सुधारों को कार्यान्वित करने के पक्ष में न होते। सन् १९०७ मे मोर्ले ने इस कौंसिल में दो भारतीयों—के० जी० गुप्त तथा सैय्यद हुसैन बिलग्रामी को रखा। सन् १९१७ में चेम्बरलेन ने एक तीसरे भारतीय को भी कौंसिल का सदस्य बनाया। क्योंकि भारतीयों की संख्या इसमें बहुत कम रहती थी, अतः वह इसके किसी भी निर्णय पर प्रभाव डालने में असमर्थ रहते थे।

(स) भारत का हाई कमिश्नर

पद की सृष्टि

सन् १९१९ के भारत-शासन-अधिनियम के पारित होने के पूर्व भारतमंत्री भारत सरकार की ओर से अनेक कार्य अभिकर्त्ता की हैसियत से करता था अर्थात् भारतमंत्री भारत सरकार के लिए सैनिक व नागरिक वस्तुओं की खरीद, भारत के अवकाश-प्राप्त अफसरों की पेंशनें देना तथा भारतीय विद्यार्थियों की देखभाल सम्बन्धी कार्य करता था। माल के खरीदने के सम्बन्ध में भारतमंत्री पर यह आरोप लगाया जाता था कि वह सदा अपने देश का ही हित देखता था। यद्यपि अन्य देशों से भारत को श्रेष्ठ तथा सस्ती चीजें मिल सकती थीं, परन्तु वह सब सामान इंगलैण्ड से खरीद कर अंग्रेज उद्योगपतियों की सहायता करता था। अब नये अधिनियम के अनुसार एक हाई कमिश्नर के पद की सृष्टि की गयी। इसकी नियुक्ति सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा होती थी तथा इसका वेतन भारत के कोष से दिया जाता था। अब इसे ही अभिकरण सम्बन्धी कार्य सौंप दिये गये। यद्यपि इसका कार्यालय लन्दन में होता था परन्तु यह पूर्ण रूप से भारत सरकार के अधीन था। इसका मुख्य कर्तव्य ठेके देना, भारतीय ट्रेड कमिश्नरों के कार्यों की देखभाल करना आदि थे। वह भारतीय

कर्त्तव्य

विद्यार्थियों की देखभाल करना आदि थे। वह भारत सरकार के एजेंट के रूप में भारत के लिए विदेशों से सामान भी खरीदता था।

४. भारत सरकार

सन् १६१६ के शासन-अधिनियमों ने केन्द्रीय शासन की प्रकृति में कोई भी परिवर्तन न किया। यद्यपि केन्द्रीय व्यवस्थापिका का विस्तार कर दिया गया परन्तु गवर्नर-जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति नहीं अपितु ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होते थे। मांटफोर्ड रिपोर्ट में केन्द्रीय शासन के संगठन का आधारभूत सिद्धान्त यह बताया गया था कि "भारत सरकार पूर्णतया ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी रहेगा तथा मुख्य-मुख्य बातों में इसका प्रभुत्व तथा अधिकार तब तक असीमित रहना था जब तक प्रान्तों में किये गये नवीन परिवर्तनों का क्या प्रभाव होता है, यह न पता चल जाय। इस बीच भारतीय व्यवस्थापिका-परिषद् का विस्तार होना था तथा इसे अधिकाधिक प्रतिनिध्यात्मक बनाया जाना था, तथा शासन-प्रबन्ध पर प्रभाव डालने के इसे अधिक से अधिक अवसर प्रदान किये जाने थे।" इस प्रकार यद्यपि केन्द्रीय व्यवस्थापिका मिन्टो-मोर्ले सुधार के अन्तर्गत संगठित व्यवस्थापिका से अधिक लोकतन्त्रात्मक थी, परन्तु क्योंकि कार्यपालिका पर नियन्त्रण करने का इसे कोई अधिकार नहीं प्रदान किया गया, अतः भारतीयों के मत में यह अनुचित था।

(अ) गवर्नर-जनरल

भारत की समस्त कार्यकारिणी शक्ति सपरिषद् गवर्नर-जनरल में निहित थी। इस नवीन अधिनियम ने गवर्नर-जनरल की स्थिति में कोई परिवर्त्तन नहीं किया। भारत की शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए वह भारतमन्त्री तथा ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। अपने विशेषाधिकारों, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा वित्तीय शक्तियों के कारण वह एक तानाशाह कहा जा सकता था। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में गवर्नर-जनरल के लिए कहा "वह अत्यन्त उत्तरदायी, ऐश्वर्यवान तथा उल्लेखनीय पद सुशोभित करता था तथा शासन का भार वहन करने में प्रत्यक्ष एवं वैयक्तिक रूप से उस पर ऐसा भार था, जैसा ब्रिटिश साम्राज्य में अन्य किसी प्रतिनिधि पर नहीं।" जब लार्ड लैन्सडाउन की भारत के गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्ति हुई तो ८ फरवरी, सन् १८८८ को उसने अपनी माता को लिखा, "मुझे इंगलैण्ड से बाहर नौकरी के लिए अत्यन्त अनुपम, उत्तरदायी तथा प्रतिष्ठित पद दिया जा रहा है।"

अत्यन्त उत्तरदायी एवं महत्वपूर्ण पद

गवर्नर-जनरल की नियुक्ति सम्राट् द्वारा प्रधानमन्त्री की सलाह पर होती थी तथा इस सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री भारतमन्त्री से भी सलाह ले लेता था। ऐसा होने से यह न समझना चाहिए कि भारत के गवर्नर-जनरल का पद कोई दलीय पद होता था। इंगलैण्ड में सरकार बदलने के बाद भी गवर्नर-जनरल अपने कार्यकाल

नियुक्ति, कार्यकाल, वेतन आदि

के लिए अपने पद पर बना रहता था। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति ५ वर्ष के लिए होती थी, परन्तु यह कार्यकाल उसे २,५६००० रु० वार्षिक वेतन व रहने के लिए निवास-स्थान मिलता था, बढ़ाया जा सकता था। तथा १,७२,००० रु० वार्षिक विभिन्न भत्तों के रूप में मिलता था।

गवर्नर-जनरल को पूरे भारतीय प्रशासन पर 'निरीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण' का अधिकार प्राप्त था। देश के सैनिक तथा नागरिक शासन का संचालन वही करता था तथा बंगाल, बम्बई व मद्रास के गवर्नरों को छोड़कर अन्य प्रान्तों के गवर्नर तथा उनकी कार्यकारिणी के सदस्य, हाईकोर्ट के न्यायाधीश, एडवोकेट-जनरल आदि की नियुक्ति उसी की सिफारिश पर होती थी। केन्द्र व प्रान्तों की उच्चस्तरीय सेवाएं उसके नियन्त्रण में थीं तथा परिषदों के अन्तर्गत विभिन्न विभागों के सचिवों का कर्त्तव्य था कि वह गवर्नर-जनरल को अपने विभागीय कार्यों से सूचित रखें। गवर्नर-जनरल वैदेशिक तथा राजनीतिक विभाग पर नियन्त्रण रखकर अन्य देशों के साथ भारत का सम्बन्ध नियन्त्रित करता था तथा देशी रियासतों को अपने अंकुश में रखता था। वह न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर था तथा क्षमादान का अधिकार भी उसे प्राप्त था। वह पदवियाँ आदि भी प्रदान करने का अधिकार रखता था।

कार्यपालिका शक्तियाँ

गवर्नर-जनरल को अत्यन्त विस्तृत विधायिका शक्तियाँ प्राप्त थीं। उसे व्यवस्थापिका के दोनों सदनों की बैठकें बुलाने, स्थगित करने तथा उनको भंग करने का अधिकार था। वह व्यवस्थापिका-सभाओं के कार्यकाल में वृद्धि भी कर सकता था। वह दोनों सदनों में भाषण दे सकता था तथा जिसके लिए वह सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक घोषित कर सकता था। उसकी पूर्व अनुमति के बिना कुछ विषयों पर प्रान्त अथवा केन्द्रीय व्यवस्थापिका में कोई प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था।[1] वह किसी भी विधेयक को, जिसे व्यवस्थापिका ने अस्वीकृत कर दिया हो, यह घोषित करके कि वह भारत की शान्ति एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक है, कानून बना सकता था तथा किसी भी प्रश्न, पूरक प्रश्न अथवा विधेयक को शान्ति तथा सुरक्षा की दृष्टि से प्रस्तुत होने से रोक भी सकता था। बिना उसकी स्वीकृति के केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा पारित कोई विधेयक

विधायिका शक्तियाँ

1 जिन विषयों पर केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं में विधेयक प्रस्तुत करने के पूर्व गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी, वह निम्न हैं :
वह विधेयक अथवा प्रस्ताव जिनका प्रभाव ब्रिटिश संसद के किसी कानून पर पड़ता हो, अथवा किसी केन्द्रीय कर्जे, महसूल तथा कानून पर, सम्राट की सेना पर, देशी नरेशों के सम्बन्ध पर, अथवा केन्द्रीय सरकार के अधिकारों पर पड़ता हो।

कानून का रूप नहीं ले सकता था। वह विधेयकों को अस्वीकृत अथवा पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता था अथवा सम्राट की स्वीकृति के लिए रोक सकता था। आपत्तिकालीन स्थिति में वह बिना व्यवस्थापिका का परामर्श लिए ही अध्यादेश जारी कर सकता था जो कानून के समान ही प्रभावी होते थे। यह छह मास की अवधि के लिए जारी किये जा सकते थे, परन्तु आवश्यकतानुसार ये पुनः भी जारी किये जा सकते थे। इस प्रकार न केवल केन्द्रीय वरन् प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा पास प्रस्तावों अथवा विधेयकों पर भी उसे अन्तिम शक्ति प्राप्त थी।

वित्तीय

गवर्नर-जनरल की वित्तीय शक्तियाँ भी अत्यन्त व्यापक थीं। बजट प्रस्तुत करने के पूर्व उसकी अनुमति आवश्यक थी। कौन से विषय मत-सापेक्ष्य हैं, अथवा कौन निरपेक्ष, इनका भी निर्णय गवर्नर जनरल ही करता था।[1] मत-निरपेक्ष मदों पर व्यवस्थापिका में विवाद करने के लिए भी गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी। यह मद बजट की लगभग ८०% थीं अर्थात् बजट की बहुत बड़ी राशि को गवर्नर-जनरल बिना व्यवस्थापिका के अनुमोदन के स्वेच्छानुसार खर्च कर सकता था। वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या कटी हुई अनुदान-माँगों को प्रमाणित कर यथापूर्व कर सकता था।

गवर्नर-जनरल एक स्वेच्छाचारी शासक

भारत के गवर्नर-जनरल को अधिनियमों ने इतने विशेषाधिकार प्रदान किये थे कि वह इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री अथवा अमेरिका के राष्ट्रपति से भी अधिक व्यापक शक्तियों का प्रयोग कर सकता था। उसके सम्बन्ध में कहा जाता था, "इंगलैण्ड का सम्राट राज्य करता है, पर शासन नहीं, अमेरिकी राष्ट्रपति शासन करता है पर राज्य नहीं करता, फ्रान्स का राष्ट्रपति न राज्य ही करता है और न शासन ही करता है, परन्तु भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल राज्य भी करता है तथा शासन भी।" यद्यपि उस पर ब्रिटिश संसद भारतमन्त्री के द्वारा नियन्त्रण रखती थी, परन्तु फिर भी उसको इतने विस्तृत अधिकार प्राप्त थे कि वह एक वैधानिक शासक की अपेक्षा एक स्वेच्छाचारी शासक बन गया था। उसको परामर्श देने के लिए एक कार्यकारिणी-परिषद् थी परन्तु यह भी गवर्नर-जनरल के हाथों में एक खिलौना मात्र थी। गवर्नर-जनरल उसके परामर्श को ठुकरा सकता

---

1 व्यय की निम्न मदों पर व्यवस्थापिका-सभा को मत देने का अधिकार न था: ऋण का सूद, वह व्यय जिसकी राशि कानून द्वारा निर्धारित हो, उन अधिकारियों की पेंशनें अथवा वेतन जिनकी स्वीकृति सम्राट द्वारा या उसकी अनुमति से भारतमन्त्री द्वारा की गयी हो, चीफ-कमिश्नरों या जुडीशियल कमिश्नरों का वेतन, तथा वह व्यय जिन्हें सपरिषद् गवर्नर-जनरल ने धार्मिक, सेना सम्बन्धी अथवा राजनीतिक घोषित किया हो।

था। प्रेसीडेण्ट लॉवेल ने गवर्नर-जनरल की शक्तियों के सम्बन्ध में लिखा था, "रूस के जार और भारत के गवर्नर-जनरल अथवा वायसराय कभी-कभी वर्तमान विश्व के महान् तानाशाह कहे गये हैं।"[1] उसकी कार्यपालिका और विधायिका सम्बन्धी शक्तियाँ इतनी अधिक थीं कि वह केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासनों पर पूरा अंकुश रखता था। वह देशी रियासतों तथा सम्राट के मध्य सम्बन्ध जोड़ने की एक शृंखला भी था। रेम्जे मेकडानॉल्ड की यह उक्ति गवर्नर-जनरल अथवा वायसराय के सम्बन्ध में उपयुक्त ही प्रतीत होती है कि "वायसराय तीन महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। वह सम्राट का प्रतिनिधि है, वह गृह सरकार का प्रतिनिधि है और वह शासनाध्यक्ष है।"[2]

(ब) गवर्नर-जनरल की कायकारिणी-परिषद्

गवर्नर-जनरल को प्रशासन में सहायता तथा परामर्श देने के लिए एक कार्यकारिणी-परिषद् होती थी। इसके सदस्यों की नियुक्ति भारतमन्त्री के परामर्श परन्तु सम्राट् द्वारा होती थी। सदस्यों का कार्यकाल ५ वर्ष था, परन्तु उनकी पुनः नियुक्ति भी हो सकती थी। प्रत्येक सदस्य केन्द्रीय व्यवस्थापिका के किसी न किसी सदन का 'पदेन' सदस्य होता था, परन्तु वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। यदि उनके विरुद्ध वह अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दे तब भी वे अपने पद पर स्थिर रह सकते थे। गवर्नर-जनरल तथा प्रधान सेनापति को छोड़कर प्रत्येक सदस्य का वेतन ८०,००० प्रति वर्ष होता था। सन् १६१६ के अधिनियम के अनुसार इसके संगठन में कुछ परिवर्तन किये गये। इसके अनुसार यद्यपि सदस्य-संख्या निश्चित नहीं की गयी परन्तु यह नियम बनाया गया कि इसमें कम से कम तीन सदस्य ऐसे हों जिन्होंने १० वर्ष भारत में सम्राट् की सेवा में व्यतीत किये हों। सभी सदस्यों के भारतीय होने पर भी कोई रोक नहीं थी।[3]

नियुक्ति, कार्य-काल

---

1 "The Governor-General or Viceroy of India and the Czar of Russia are sometimes said to be the great autocrats of modern world." (*President Lowel*); quoted from *Iqbal Narain* : Dyarchy to Self-Government)

2 "The Viceroy performs three great functions. He personifies the crown, he represents the Home Government and he is the head of the Administration." —*Ramsay Mac Donald.*

3 इस सम्बन्ध में ज्वाइन्ट सेलैक्ट कमेटी का यह मत था कि "सरकारी कर्मचारियों में से लिये गये कार्यकारिणी-समिति के सदस्य, जैसे-जैसे समय व्यतीत होगा, योरोपियनों की अपेक्षा अधिकतर भारतीय ही होने लगेंगे।"

"The members of the Council drawn from the rank of the public servants will, as time goes on, be more and more likely to be of Indian rather than of European extraction."
(Joint Select Committee.)

भारतीय उच्च न्यायालयों का १० वर्ष का अनुभव रखने वाले वकील कानून सदस्य भी बनाये जा सकते थे। साधारणतया सिविल-सर्विस के वयोवृद्ध अधिकारी ही कार्यकारिणी के सदस्य नियुक्त किये जाते थे।

कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्य 'पोर्टफोलियो' पद्धति से कार्य करते थे। प्रत्येक सदस्य के अधीन एक या अधिक विभाग कर दिये जाते थे। परिषदों के मध्य विभागों का वितरण गवर्नर-जनरल करता था। अपने-अपने विभाग से सम्बन्धित मामले प्रत्येक सदस्य स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक निपटा लेते थे तथा अन्य महत्वपूर्ण विषय अथवा वह विषय, जो प्रान्तों से सम्बन्ध रखते थे, गवर्नर-जनरल की सलाह से निबटा लेते थे। वह कार्य जो अत्यधिक महत्व के होते थे, अथवा जिनका प्रभाव दो अथवा उससे अधिक विभागों पर पड़ता था, वह पूरी कार्यकारिणी-परिषद् के समक्ष उपस्थित किये जाते थे। कार्यकारिणी-परिषद् की बैठकें सामान्यतया सप्ताह में एक बार होती थी। यह गवर्नर-जनरल द्वारा बुलायी जाती थीं तथा वह ही उनकी अध्यक्षता करता था। उनकी अनुपस्थिति में उनके द्वारा नियुक्त उपसभापति बैठकों का सभापतित्व करना था। बैठकों का कार्यक्रम भी गवर्नर-जनरल ही निश्चित करता था। परिषद् के निर्णय बहुमत द्वारा लिये जाते थे। यदि गवर्नर-जनरल किसी निर्णय को देश की सुरक्षा तथा शान्ति के लिए आवश्यक समझता था तो वह उसे रद्द भी कर सकता था अथवा उनके प्रतिकूल कार्य कर सकता था। **गवर्नर-जनरल एक प्रकार से पूरी परिषद् का स्वामी था तथा इसके सदस्य गवर्नर जनरल के अनुचर।** परिषद् के सदस्य यद्यपि व्यवस्थापिका के किसी पदेन सदस्य होते थे तथा प्रश्नों आदि का उत्तर देते थे परन्तु वह व्यस्थापिका के नियन्त्रण से बाहर थे।

कार्य-प्रणाली

(स) केन्द्रीय व्यवस्थापिका

सन् १९१९ के शासन अधिनियम ने भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के सम्बन्ध में अनेक परिवर्तन किये। इसमें अब जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि करके इसे अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया। केन्द्रीय विधान-मण्डल के अब दो सदन भी कर दिये गये—राज्य-परिषद तथा विधान-सभा।

राज्य-परिषद्

यह केन्द्रीय-विधान-मण्डल का उच्च सदन था। इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि क्योंकि निम्न सदन में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत कर दिया गया था, अतः सरकार इस बात की इच्छुक थी कि एक कुलीनतन्त्रीय सदन स्थापित कर दिया जाये जिसे निम्न सदन के प्रतिभार के रूप में प्रयोग किया जा सके। इसके लिए ऐसे लोगों को निर्वाचक समूह में रखा गया जो कुछ विशेष तथा निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हों। इसमें ६० सदस्य होते थे जिममें से ३४ प्रत्यक्ष

निर्वाचन द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर चुने जाते।[1] अविशिष्ट सदस्यों में से एक की नियुक्ति गवर्नर जनरल सभापति के रूप में करता था तथा १९ मनोनीत-सरकारी तथा ६ मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य होते थे।

राज्य-परिषद् के लिए अत्यन्त संकुचित मताधिकार रखा गया। यह ऊँचा सम्पत्ति सम्बन्धी अर्हताओं पर आधारित था। इसके लिए केवल वही मतदान करने के अधिकारी थे, जो १०,००० रु० से २०,००० रु० वार्षिक आय पर कर देते हों अथवा ७५० रु० से लेकर ५,००० रु० तक वार्षिक भूमि-कर देते हों। इसके अतिरिक्त निम्न व्यक्तियों को भी मताधिकार दिया गया था :

(१) वह व्यक्ति, जो नगरपालिकाओं, जिला-बोर्डों अथवा केन्द्रीय सहकारी बैंकों के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष रह चुके हों।

(२) भारत की किसी व्यवस्थापिका के सदस्य रहे हों।

(३) सरकार द्वारा 'महामहोपाध्याय' अथवा 'शम्शुल-उलेमा' आदि पांडित्य सम्बन्धी उपाधियों से विभूषित किये गये हों।

स्त्रियों को राज्य-परिषद् के मताधिकार से वंचित रखा गया था। इसके अतिरिक्त इसकी जो अर्हताएँ रखी गयीं, उनसे केवल धनिक अथवा जमींदार-वर्ग का ही इसमें प्रतिनिधित्व रह गया तथा बुद्धिजीवी अथवा सार्वजनिक व्यक्तियों की इसमें उपस्थिति सम्भव न थी।

विधान-सभा

विधान-सभा की सदस्य-संख्या १४५ रखी गयी थी, जिसमें १०४ निर्वाचित[2] तथा ४१ मनोनीत होने थे। मनोनीत सदस्यों में से २६ सरकारी तथा शेष गैर-सरकारी होने थे। सरकारी-मनोनीत सदस्यों में कार्य कारिणी-परिषद् के अधिकांश सदस्य, सचिवालय के प्रमुख अधिकारी तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा मनोनीत सदस्य होते थे। गैर-सरकारी के अन्तर्गत उन सभी वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधि नियुक्त किए जाते थे जो निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त कर सकते थे। उदाहरणार्थ, जमींदार तथा व्यापारी-वर्ग।

विधान-सभा के लिए राज्य-परिषद् की तुलना में मताधिकार व्यापक था। असेम्बली के लिए मताधिकार के लिए निम्नलिखित अर्हताओं में से किसी एक का होना आवश्यक था :

(१) कम से कम २,००० रु० से लेकर ५,००० रु० वार्षिक आय पर कर देना।

(२) ५० रु० से १५० रु० तक वार्षिक भूमि-कर देना।

---

1 इन ३४ सदस्यों में से २० साधारण निर्वाचन-क्षेत्र से, १० मुस्लिम क्षेत्रों से, १ सिक्ख तथा ३ यूरोपियन क्षेत्रों से होने थे।

2 इन सीटों का बँटवारा इस प्रकार था—गैर-मुस्लिम निर्वाचित ५२, मुस्लिम ३०, सिक्ख २, यूरोपियन ९।

(३) कम से कम १५ रु० से २० रु० वार्षिक म्युनिसिपल-कर देना।

(४) १५० रु० से अधिक किराये के मूल्य वाले मकान का स्वामी होना या किरायेदार होना।

विधान-सभा का अध्यक्ष प्रथम चार वर्षों के लिए तो गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत होना निश्चित हुआ था तथा उसके बाद वह विधान-सभा द्वारा निर्वाचित होना था।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका सम्राट के विशेषाधिकारों के अतिरिक्त पूरे ब्रिटिश भारत के लिए विधि निर्मित कर सकती थी, परन्तु वास्तव में कुछ अन्य प्रतिबन्ध भी इसकी विधि-निर्माण-शक्ति पर लगे हुए थे। इसे ब्रिटिश संसद की विधि को, जो भारत के ऊपर लागू होती थी, संशोधित अथवा रद्द करने का अधिकार न था। वह बिना भारतमन्त्री के अनुमोदन के ऐसा कोई कानून नहीं पारित कर सकती थी जो किसी उच्च न्यायालय का उन्मूलन करता हो। कुछ विषयों पर व्यवस्थापिका में प्रस्ताव उपस्थित करने के पूर्व गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। वे विषय निम्नलिखित हैं:

व्यवस्थापिका के अधिकार

(१) सार्वजनिक ऋण, राजस्व-कर अथवा भारत के राजस्व-कर पर अतिरिक्त कर के सम्बन्ध में;

(२) ब्रिटिश भारत की जनता की धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं के सम्बन्धों में;

(३) सम्राट की सेना, नौ-सेना अथवा वायु-सेना के अनुशासन आदि के सम्बन्ध में;

(४) विदेशी शासकों अथवा देशी राज्यों से सरकारी सम्बन्धों के विषय में।

गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति के बिना केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निम्न विषयों पर कोई विचार नहीं किया जा सकता था:

(१) किसी प्रान्तीय विषय अथवा उसके किसी भाग पर जो अधिनियम द्वारा केन्द्रीय व्यवस्थापिका के अन्तर्गत कानून बनाने योग्य न ठहराया गया हो।

(२) प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के किसी कानून को रद्द करना अथवा उसे संशोधित करना।

(३) गवर्नर-जनरल के किसी अधिनियम को रद्द करना अथवा उसमें संशोधन करना।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका के वित्तीय अधिकारों पर भी अनेक प्रतिबन्ध थे। कुछ विषय ऐसे भी थे जिन पर व्यवस्थापिका को मतदान करने का कोई अधिकार नहीं था तथा इन पर गवर्नर-जनरल की आज्ञा ही अन्तिम शब्द होता था। यह विषय निम्न हैं:

(१) ऋण का सूद तथा डूबती हुई राशि पर कोई कर।

(२) इम्पीरियल सर्विस, चीफ कमिश्नर, जुडीशियल कमिश्नरों आदि का वेतन तथा पेंशनें।

(३) राजनीतिक विभाग, फौज तथा ईसाई धर्म पर खर्च की जाने वाली रकमें।

यदि मत-सापेक्ष्य-व्यय की किसी मद को व्यवस्थापिका-सभा अस्वीकृत कर दे अथवा कम करदे तो गवर्नर-जनरल को अधिकार था कि वह उन्हें आवश्यक घोषित कर अपने विशेषाधिकारों से यथापूर्व कर दे। यह अधिकार गवर्नर-जनरल का 'पुनःस्थापन का अधिकार' कहलाता था।

सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत दोनों सदनों के अधिकार समान थे। यह सामान्यतया प्रचलित परिपाटी के प्रतिकूल थे जिसके अनुसार उच्च सदन केवल एक विचारणीय सदन होता है जिसका मुख्य कार्य निम्न सदन के निश्चयों पर पुनर्विचार करना होता है। दोनों सदनों में किसी एक में कोई विधेयक पहले प्रस्तुत किया जा सकता था। केवल वित्तीय विधेयक निम्न सदन में सर्वप्रथम प्रस्तुत किये जाते थे तथा मत-सापेक्ष्य विषयों पर मतदान का अधिकार केवल निम्न सदन को प्राप्त था।

कार्यकारिणी को प्रभावित करने का अधिकार

कार्यकारिणी यद्यपि व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी परन्तु फिर भी कार्यकारिणी को प्रभावित करने का अधिकार उसे प्राप्त था। यह कार्यकारिणी के सदस्यों से प्रश्न अथवा पूरक-प्रश्न पूछ सकती थी। सरकार की नीतियों की निन्दा कर सकती थी। महत्वपूण प्रश्नों पर 'कार्य-स्थगन' प्रस्ताव भी रखा जा सकता था। व्यवस्थापिका सरकार की नीतियों में परिवर्तन करने के हेतु सुझाव रख रख सकती थी तथा सरकारी नीतियों के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिए वह किसी विभाग की आर्थिक माँगों को अस्वीकार कर सकती थी अथवा उसमें कटौती कर सकती थी।

४. प्रान्तीय शासन

"प्रान्त ही वह क्षेत्र है, जहाँ उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लिए प्राथमिक प्रयोग किये जायेंगे,[1]" ज्वाइन्ट रिपोर्ट में यह तथ्य स्पष्टतया अंकित था। मांटफोर्ड-घोषणा ओर सन् १९१९ के अधिनियम में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि भारतीयों को प्रान्तीय शासन के क्षेत्र में उत्तरदायित्व प्रदान किया जाय। यह उत्तरदायी शासन क्रमिक विकास द्वारा दिया जाय। इसी का परिणाम प्रान्तों में दिया जाने वाला 'आंशिक उत्तरदायित्व' था। प्रान्तों में दिया जाने वाला आंशिक उत्तरदायी शासन, सन् १९१९ के अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी।

---

1 "The Provinces are domain in which the earlier steps towards the progressive realisation of responsible government should be taken." (Joint Report.)

मांटफोर्ड-रिपोर्ट में इस बात पर प्रथम बार बल दिया गया कि भारतीयों को भी शासन में भाग लेने का अवसर मिले। इसके लिए केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का विस्तार और प्रान्तों में द्वैध शासन (Dyarchy) एक प्रगतिशील कदम था। क्योंकि भारत की जनता अत्यन्त अशिक्षित थी तथा निर्वाचक अनुभवहीन थे, यह तर्क दिया गया कि निर्वाचित व्यवस्थापिका-सभा सभी विषयों के सम्बन्ध में उचित प्रकार से अपना उत्तरदायित्व न निभा सकेगी और इसलिए कुछ ही विषयों में उत्तरदायित्व प्रदान किया जाय। द्वैध शासन-व्यवस्था इसी तर्क का परिणाम थी। द्वैध शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तीय विषयों का विभाजन दो श्रेणियों—रक्षित (Reserved)[1] और हस्तान्तरित (Transfered) में कर दिया गया। रक्षित विषय गवर्नर के शासकीय सलाहकार सदस्यों के अधीन और हस्तान्तरित विषय लोकप्रिय मन्त्रियों के हाथों में रखे गये। शासकीय सलाहकारों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती थी और वे प्रान्तीय व्यवस्थापिका के मनोनीत सदस्य होते थे तथा मन्त्रियों की नियुक्ति विधान-सभा के सदस्यों में से गवर्नर करता था।

ऐसा निश्चय था कि हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध का शासन-प्रबन्ध लोकप्रिय मन्त्री करेंगे और वे अपने कार्यों के लिए प्रान्तीय विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी रहेंगे, परन्तु रक्षित विषयों के लिए उत्तरदायित्व की व्यवस्था नहीं थी। वे कुशल सिविल-सर्विस के लोगों द्वारा शासित थे, जिन्हें सम्राट् द्वारा नियुक्त किया जाता था। वे अपने कार्यों के लिए विधान-सभा के प्रति नहीं अपितु गवर्नर, गवर्नर-जनरल, भारतमन्त्री और ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी थे। यदि निर्लिप्त हृदय से आंशिक उत्तरदायी शासन की व्यवस्था ही होती तो भी वह भारतीयों के असन्तोष के अन्त का कारण होता, परन्तु विषयों का विभाजन भी एक कूटनीतिक चाल थी। विषयों का विभाजन इस दृष्टिकोण से किया गया कि शासन में गतिरोध पैदा हो जाये और गवर्नर को मनमानी करने का मौका प्राप्त हो जाये। कहने का तात्पर्य यह कि विषयों का विभाजन बेढंगा और स्वेच्छाचारी था।[2] उदाहरणार्थ, कृषि को हस्तान्तरित विषय घोषित किया गया परन्तु सिंचाई एक रक्षित विषय था; जबकि इन दोनों विषयों में घनिष्ठ सम्बन्ध था। औद्योगिक विकास के मन्त्री के

---

1 रक्षित विषय निम्न थे : न्याय, पुलिस, जेल, भूमि तथा राजस्व-कर, कृषि सम्बन्धी ऋण, अकाल पीड़ित सहायता (बम्बई को छोड़कर), व्यावसायिक कारखाने, श्रमिक विवाद, जंगल, सिंचाई, नहर तथा जलविद्युत शक्ति। हस्तांतरित विषय : सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, स्थानीय स्वायत्त-संस्थाएं, शिक्षा (विश्वविद्यालय तथा कुछ अन्य शिक्षण-संस्थाएँ छोड़कर), कृषि, मत्स्य-उत्पादन सहकारी समिति, आबकारी, औद्योगिक विकास, चिकित्सा इत्यादि।

2 प्रान्तों में द्वैध शासन की असंगतता, अवांछनीयता और असफलता का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है। यहाँ इसका संकेत भर किया गया है।

श्रमिक विवादों तथा औद्योगिक बीमों या औद्योगिक भवन-निर्माण के ऊपर कुछ भी अधिकार न था। इससे यह स्पष्ट था कि एक विभाग और दूसरे विभाग के मध्य संघर्ष की काफी सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त पूरे प्रान्तीय शासन के लिए सम्मिलित अर्थ-कोष का सिद्धान्त अपनाया गया। इसमें रक्षित तथा हस्तान्तरणीय विषयों के बीच वित्तीय-विभाजन किस प्रकार होना था, यह स्थिति भी गतिरोध पैदा करने वाली थी। राजस्व के वितरण के लिए यह सुझाव दिया गया कि यह परिषदों तथा मन्त्रियों द्वारा "सामान्य बुद्धि तथा तर्कसंगत आदान-प्रदान की सरल प्रक्रिया" द्वारा सम्पन्न होगा और यदि इन दोनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाये तो यह काम गवर्नर पर छोड़ दिया जाय। सामान्यतया रक्षित विभागों के खर्चों को प्राथमिकता दी जाती थी तथा मन्त्रियों के पास धन की कमी थी, अतः वे अपने कर्तव्यों की पूर्ति कुशलतापूर्वक नहीं कर सकते थे। गवर्नर भी इस के लिए स्वतन्त्र था कि वह मन्त्रियों के परामर्श को माने या नहीं माने। मन्त्री भी अपने कार्य में पूरी दिलचस्पी नहीं लेते थे क्योंकि वे जानते थे कि उनके अधीन इम्पीरियल-सर्विस के सदस्यों पर उनको कोई अधिकार नहीं है। न मन्त्री इनका पद-परिवर्तन कर सकते थे और न पदोन्नति। यहाँ तक कि अनुशासनात्मक कार्यवाही भी मन्त्रियों के अधिकार के परे की वस्तु थी। रक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों के विभागों के बीच कोई प्रत्यक्ष पारस्परिक सम्बन्ध नहीं था। ऐसा होने के कारण शासन में गतिरोध स्वाभाविक था और 'उत्तरदायित्व' भी आंशिक था।

गवर्नर

गवर्नर प्रान्त का मुख्य शासक था तथा वह सम्राट् का प्रतिनिधि था। सरकार के दोनों पक्षों—रक्षित तथा हस्तान्तरित के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने में वह एक शृंखला था। वह 'संरक्षित विषयों' का प्रशासन एक कार्यकारिणी-परिषद् की सहायता से करता था। इसके सदस्य सम्राट् द्वारा पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते थे परन्तु प्रत्यक्ष रूप में इनकी नियुक्ति में गवर्नर का बहुत अधिक हाथ रहता था। कार्यकारिणी के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। यदि किसी विषय पर कार्यकारिणी में पक्ष तथा विपक्ष में समान मत हो तो गवर्नर निर्णायक-मत का प्रयोग कर सकता था तथा शान्ति व सुरक्षा की आड़ लेकर यह कार्यकारिणी के निश्चयों को ठुकरा भी सकता। इनके वेतन पर भी व्यवस्थापिका का कोई नियन्त्रण न था। वह इसमें कोई कमी नहीं कर सकती थी।

गवर्नर, एक शृंखला

हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध मन्त्रियों की सलाह से गवर्नर करता था। इस अधिनियम में मन्त्रियों की कोई संख्या नहीं निश्चित की गयी थी, परन्तु बड़े प्रान्तों में तीन तथा छोटों में दो होने थे। इनकी नियुक्ति गवर्नर व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों में से करता अथवा उनको करता जो छह मास के भीतर ही

गवर्नर और मन्त्री

व्यवस्थापिका के सदस्य हो जायें। मन्त्रियों की नियुक्ति करते समय गवर्नर को इस बात पर अवश्य ध्यान देना था कि जिन्हें वह मन्त्री नियुक्त करना चाहता है, वह व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त करने में समर्थ होगे अथवा नहीं तथा अपने दायित्व का निर्वाह वह ठीक प्रकार कर सकेंगे या नहीं? मन्त्री गवर्नर के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदों पर आसीन रह सकते थे तथा गवर्नर उन्हें बिना किसी कारण पद पर से हटा सकता था। मन्त्रियों को वही वेतन मिलता था जो कार्यकारिणी के सदस्यों को, परन्तु मन्त्रियों के वेतन में व्यवस्थापिका कटौती कर सकती थी तथा वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते थे। व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें अपने पद से हटा भी सकती थी।

गवर्नर-जनरल जिस प्रकार से एक स्वेच्छाचारी शासक था, उसी प्रकार गवर्नर भी अपने क्षेत्र में पूरा स्वेच्छाचारी था। वह न केवल कार्यकारिणी के सदस्यों

गवर्नर की शक्तियाँ

तथा मन्त्रियों की इच्छा की अवहेलना कर सकता था वरन् वह व्यवस्थापिका पर भी अपना अंकुश रखता था। वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत रक्षित विषयों के किसी विधेयक को प्रमाणित कर कानून बना सकता था। किसी विधेयक को अधिनियम बनाने के लिए उस पर उनके हस्ताक्षर ही काफी थे, यद्यपि इन अधिनियमों पर सम्राट् की अनुमति आवश्यक होती थी। गवर्नर व्यवस्थापिका के किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था। कुछ विषयों पर व्यवस्थापिका में विधेयक उपस्थित करने से पूर्व गवर्नर की स्वीकृति आवश्यक होती थी। गवर्नर अध्यादेश भी जारी कर सकता था। वित्तीय क्षेत्र में भी उसके अधिकार अत्यन्त विस्तृत थे। वह रक्षित विषयों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका द्वारा किसी घटाई या रद्द की गयी माँग को यथापूर्व कर सकता था। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में भी वह किसी भी व्यय को शान्ति तथा सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक घोषित करके प्रमाणित कर सकता था, चाहे व्यवस्थापिका उसका विरोध ही क्यों न करती हो।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका

मांटफोर्ड-रिपोर्ट ने द्वि-सदनात्मक विधान-मण्डलों के विचार की मान्यता नहीं दी थी। इस कारण प्रान्तों में एक-सदनात्मक विधान-मण्डल थे। अब वह पहले जैसी व्यवस्थापिकाओं की तरह कार्यकारिणी के हाथों की कठपुतली नहीं थीं, वरन् उसमें निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत रखा गया। प्रान्तीय विधान-मण्डलों का आकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न था, परन्तु यह उपबन्धित किया गया कि उसमें निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या कम से कम ७०% तथा सरकारी सदस्यों की अधिक से अधिक २०% हो। गवर्नर को कुछ गैर-सरकारी सदस्यों को भी मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त था। कार्यकारिणी के सदस्य पदेन सदस्य होते थे।

आगे की तालिका से विभिन्न प्रान्तीय विधान-मण्डलों की रचना के बारे में जानकारी हो जायगी :

प्रान्त	निर्वाचित सदस्य-संख्या	पदेन तथा मनो-नीत-सरकारी	मनोनीत-गैर-सरकारी	योग
मद्रास	९८	११	२३	१३२
बम्बई	८६	१९	९	११४
बंगाल	११४	१६	१०	१४०
संयुक्त प्रान्त	१००	१७	६	१२३
पंजाब	७१	१५	८	९४
बिहार व उड़ीसा	७६	१५	१२	१०३
मध्य प्रान्त	५५	१०	८	७३
आसाम	३९	७	७	५३
उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त	३९	७	७	५३

यद्यपि मताधिकार का क्षेत्र, सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत मिन्टो-मोर्ले सुधार से व्यापक कर दिया गया परन्तु फिर भी यह अत्यन्त संकुचित था। सन् १९२० में ब्रिटिश भारत में वयस्क जन संख्या के केवल ९ प्रतिशत लोगों को ही मताधिकार प्राप्त था। मतदाताओं को अर्हताएँ विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न थीं। सामान्यतया नगर-निर्वाचन-क्षेत्रों में केवल वही मतदाता हो सकते थे जो कम से कम २,००० रु० वार्षिक आय पर आयकर देते थे, अथवा ऐसे मकान में रहते थे जिसका किराया ३६ रु० वार्षिक हो या जो कम से कम २ रुपया वार्षिक म्युनिसिपल कर देते थे। देहाती निर्वाचन-क्षेत्रों में मतदाता वह होते थे जो कम से कम १० से ५० रुपये तक वार्षिक भूमि-कर देते थे। जमींदार-निर्वाचन-क्षेत्रों में जो लोग एक निश्चित राशि प्रति वर्ष भूमि-कर देते हों, वह मतदाता हो सकते थे। पंजाब में यह ५०० रु० थी तथा संयुक्त प्रान्त में ५,००० रुपया। विश्व-विद्यालय-निर्वाचन-क्षेत्रों में ७ वर्षों के रजिस्टर्ड ग्रेजुएट या ५ वर्ष के एम० ए० तथा विश्वविद्यालयों के 'फेलो' भी मतदाता हो सकते थे। कहीं-कहीं सैनिक सेवा भी मतदाता होने के लिए एक अर्हता थी तथा पंजाब व मध्य प्रान्त में गांव के मुखिया तथा नम्बरदार मतदाता हो सकते थे।

मताधिकार तथा निर्वाचन

संकुचित मताधिकार

यद्यपि मांटफोर्ड-रिपोर्ट ने साम्प्रदायिक निर्वाचक-मण्डलों की आलोचना की थी क्योंकि यह विभिन्न वर्गों में द्वेष की वृद्धि करते थे, अल्पसंख्यक वर्ग की अनुन्नत दशा में कोई परिवर्तन नहीं करते थे, नागरिकता की श्रेष्ठ भावना के विकास में बाधा उत्पन्न करते थे तथा उत्तरदायी शासन के विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देते थे, परन्तु फिर भी रिपोर्ट ने न केवल मुसलमानों के लिए ही

साम्प्रदायिक निर्वाचक-मण्डल

इसे कायम रखने की सिफारिश की वरन् सिक्खों पर भी इसे लागू किया। जब अधिनियम के अन्तर्गत नियम बने तो उन्होंने भारतीय ईसाई, योरोपियनों, एंग्लो-इण्डियनों को भी पृथक निर्वाचन-मण्डल प्रदान किये। इसके अतिरिक्त मद्रास में अब्राह्मणों तथा बम्बई में मरहठों के लिए भी संरक्षण प्रदान किया गया। विभिन्न व्यापारिक एवं औद्योगिक हितों तथा विश्वविद्यालयों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। नगर-क्षेत्रों व देहाती क्षेत्रों में भी विभेद किया गया। व्यवहार में इस अधिनियम के अन्तर्गत संगठित विधान-मण्डल अलोकतन्त्रात्मक ही थे। सरकारी तथा मनोनीत सदस्यों के साथ साम्प्रदायिक तथा विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य मिल जाया करते थे तथा ऐसा होने से विधान-मण्डल में अनुदार तत्वों का आधिपत्य हो जाता था।

कार्यकाल

प्रान्तों के विधान-मण्डलों का कार्यकाल तीन वर्ष था परन्तु गवर्नर उनको उनकी अवधि समाप्त होने से पूर्व ही भंग कर सकता था अथवा विशेष परिस्थितियों में उनका कार्यकाल अधिक से अधिक एक वर्ष बढ़ा सकता था। गवर्नर को ही सदन की बैठकें बुलाने तथा उन्हें स्थगित करने का भी अधिकार था। गवर्नर को प्रथम चार वर्षों के लिए विधान-मण्डल के अध्यक्ष को नियुक्त करने का भी अधिकार प्राप्त था तथा उपाध्यक्ष के निर्वाचन पर स्वीकृति प्रदान करने का अधिकार था।

शक्तियाँ

यद्यपि इस अधिनियम के विधान-मण्डलों को विस्तृत किया तथा कार्यपालिका के एक भाग पर नियन्त्रण रखने का भी अधिकार प्रदान किया परन्तु विधान-मण्डलों की व्यवस्थापन शक्तियों को गवर्नर के विशेषाधिकार तथा प्रमाणीकरण की शक्तियों ने बहुत ही परिमित कर दिया। शान्ति व सुरक्षा की आड़ में गवर्नर किसी भी विधेयक पर विचार रोक सकता था। कुछ विषयों पर विधेयक प्रस्तुत करने के लिए उसकी पूर्व स्वीकृति भी आवश्यक थी। बजट का भी अधिकांश भाग मत-निरपेक्ष था तथा गवर्नर बजट में व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत अथवा कम की गई माँग को यथापूर्व कर सकता था। आपत्ति-काल में गवर्नर बिना व्यवस्थापिका के अनुमोदन के ही किसी व्यय को अधिकृत कर सकता था।

द्वैध शासन-प्रणाली (Dyarchy)

सन् १९१९ के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में द्वैध शासन-व्यवस्था की स्थापना भारत में उत्तरदायी शासन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मार्ग चिन्ह अवश्य है। तत्कालीन परिस्थितियों में यह व्यवस्था एक बेजोड़ प्रयोग थी। मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के निर्माताओं को यद्यपि यह आशा थी कि द्वैधतन्त्र के प्रयोग द्वारा भारत का राजनीतिक विकास होगा तथा भारतीयों में नौकरशाही के साथ सहयोग करने की भावना जाग्रत होगी। भारतीयों में बढ़ते असन्तोष को रोकना भी ब्रिटिश सरकार के लिए आवश्यक था और इस दृष्टि से भी आंशिक उत्तरदायित्व

देने का विचार अद्वितीय था। यह शासन-व्यवस्था भारतीय प्रान्तों में १६ वर्षों तक रही पर राजनीति के क्रियात्मक क्षेत्र में इसे असफलता ही प्राप्त रही। यदि इसके आधार में ब्रिटिश कूटनीतिज्ञता नहीं होती और आंशिक उत्तरदायी शासन देने का निश्चय होता तथा विषयों का विभाजन वैज्ञानिक होता तो इसकी सफलता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता था, परन्तु यह शासन-प्रणाली "सैद्धान्तिक, निर्मित एवं व्यावहारिक रूप में अत्यन्त दोषपूर्ण तथा प्रतिबन्धों से आच्छादित थी।" यह "स्पष्ट रूप से एक दुर्बोध, असाध्य एवं जटिल प्रणाली है जिसका कोई तार्किक आधार नहीं है, जिसका उद्गम अनुरूपता एवं समझौता ही है और जो परिवर्तन एवं अवस्थान के एक उपकरण मात्र ही रक्षणीय है।"[1] इस व्यवस्था का विरोध केवल भारतीयों ने ही नहीं किया अपितु ब्रिटेन में भी आलोचनाओं के स्वर सुनाई पड़ते थे। अर्ल ऑफ बर्किनहेड ने इस सम्बन्ध में कहा, "द्वैध शासन के सिद्धान्त के प्रति मैं स्वयं सदैव ही बड़ा शंकित था। मुझे तो यह एक प्रकार की आडम्बरपूर्ण गतिरोधक व्यवस्था प्रतीत होती है।"[2]

द्वैध शासन प्रणाली की आलोचना के पूर्व यहाँ पर संक्षिप्त में इस व्यवस्था के प्रादुर्भाव के कारणों, इसका अर्थ और उद्देश्य जान लेना आवश्यक है और इन्हीं तथ्यों के सन्दर्भ में द्वैध शासन-व्यवस्था का आलोचनात्मक अध्ययन संगत होगा।

द्वैध शासन-प्रणाली का प्रादुर्भाव

सन् १९१७ में सम्राट् की घोषणा में द्वैध शासन-व्यवस्था के प्रादुर्भाव का प्रथम संकेत दिखाई देता है। सम्राट् की घोषणा का यह लक्ष्य था कि भारतीयों को शनैः शनैः शासन में उत्तरदायित्व प्रदान किया जाये। ज्वाइन्ट रिपोर्ट में भी यह उल्लेख किया गया कि प्रान्त ही वह क्षेत्र है, जहाँ उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लिए प्राथमिक प्रयोग किये जायेंगे।" अतः सन् १९१९ के अधिनियम में इन दोनों दृष्टिकोणों को साकार रूप प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार द्वैध व्यवस्था या आंशिक उत्तरदायित्व प्रदान करने की पृष्ठभूमि में उत्तरदायित्व प्रदान किया जाय" की विचारधारा और ज्वाइन्ट रिपोर्ट का मत था। ज्वाइन्ट रिपोर्ट में लिखा गया था कि—

"सरकार को तुरन्त ही पूर्ण उत्तरदायित्व प्रदान नहीं किया जा सकता और ऐसा करना विपत्ति को आमन्त्रित करना है; और यदि हमारी योजना को महत्त्वपूर्ण बनाना है तो तुरन्त ही कुछ उत्तरदायित्व सौंपना भी आवश्यक है। हमें

---

1 "Dyarchy is obviously a cumbrous, complex, confused system having no logical basis, rooted in compromise and defensible only as transitional expedient."—His Excellency, *William Marris*.

2 "I, myself was always very distrustful of the dyarchial principle. It seems to me to savour of a kind of pedantic hidebound constitution."—*Earl of Birkenhead* (in house of Lords.)

यह विश्वास है कि शासन की इन समस्याओं का इसके अतिरिक्त कोई अन्य हल नहीं कि प्रान्तीय सरकार के कार्य का विभाजन दो भागों में कर दिया जाये। एक तो लोकमत के नियन्त्रण में रहे और दूसरा अभी सरकार (ब्रिटिश) के नियन्त्रण में रहे।"[1]

उपरोक्त तथ्यों से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रान्तों में द्वैध शासन-व्यवस्था का सूत्रपात कैसे हुआ। इस व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य यह था कि कुछ विषयों में भारतीयों को प्रान्तीय क्षेत्र में उत्तरदायी सरकार प्रदान किया जाय। द्वैध शासन-व्यवस्था की परिभाषा निम्न शब्दों में की जा सकती है: "दो पदाधिकारियों द्वारा दोहरा शासन जिनके स्वरूप और उत्तरदायित्व में विभिन्नता हो, द्वैध शासन-व्यवस्था कहा जाता है।"[2] सन् १९१९ के अधिनियम के अनुसार द्वैध शासन की स्थापना प्रान्तीय क्षेत्रों में की गई। प्रान्तीय विषयों का रक्षित विषय (Reserved) और हस्तांतरणीय विषयों में विभाजन कर दिया गया। जैसा उल्लेख किया जा चुका है कि रक्षित विषयों का शासन-प्रबन्ध गवर्नर को कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्यों के द्वारा होना था जो गवर्नर, भारत-सचिव के प्रति उत्तरदायी रहते। केवल हस्तान्तरणीय विषयों के शासन-प्रबन्ध में उत्तरदायित्व प्रदान किया गया। ये विषय लोकप्रिय मन्त्रियों के अधिकार के होते जो अपने कार्यों के लिए प्रान्तीय विधान-सभाओं के प्रति उत्तरदायी होते। ये मन्त्री विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते थे।

उद्देश्य

व्याख्या

गवर्नर-जनरल और द्वैध शासन की रचना

द्वैध शासन—आलोचना—भारतवर्ष में द्वैध शासन-प्रणाली सन् १९२१ से १९३० तक चली परन्तु इस प्रयोग को एक असफलता ही बताया गया है। यह अपने मुख्य लक्ष्य अर्थात् प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना करने में असफल रही। ब्रिटिश लेखकों ने द्वैध शासन की असफलता का

1 "That complete responsibility for the government cannot be given immediately without inviting a breakdown, and some responsibility must be given at once, if our scheme is to have any value ·· ··we do not believe that there is any way of satisfying these governing conditions, other than by making a division of the functions of the Provincial Government between those which may be made over to the popular control and those which, for the present, must remain in official hands."

—from the Joint Report,

2 "This system of Dual Government by two authorities different in their character and nature of responsibility is known as Dyarchy."

श्रेय कांग्रेस तथा उसके स्वराज्य-दल पर रखा। उनका कहना है कि स्वराज्य दल की अड़ंगा-नीति ने निरन्तर गतिरोध पैदा किया जिससे ही यह प्रयोग असफल रहा परन्तु आलोचनाओं के इन स्वरों में सत्यता का लेशमात्र भी नहीं ! वास्तव में द्वैध शासन एक जटिल एवं कूटनीतिक चाल थी। भारतीयों को भुलावा देने के लिए एक मृगतृष्णा थी, एक मायाजाल था, एक दुरूह कार्य के लिये अनुपयुक्त प्रणाली थी। यह सैद्धान्तिक, निर्माणात्मक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से दोषयुक्त प्रणाली थी। इसका वास्तविक उद्देश्य भारतीयों को आंशिक उत्तरदायी शासन प्रदान करना नहीं, अपितु उनके असन्तोष को समाप्त करना था।

द्वैध शासन-व्यवस्था की आलोचना निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है :

सिद्धान्ततः दोषपूर्ण

द्वैध शासन-प्रणाली सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से दोषयुक्त थी। एक ही प्रान्त की शासन-व्यवस्था को दो भिन्न और अलग-अलग प्रकृति की शक्तियों के अधीन कर देने से शासन में गतिरोध ही पैदा होगा। यह सर्वविदित तथ्य है कि शासन के विभिन्न विभाग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। वे सभी आपस में मिलकर पूर्णता का निर्माण करते हैं, परन्तु द्वैध शासन-प्रणाली इस तथ्य की अवहेलना करती थी। हस्तान्तरित और रक्षित विषयों के शासन का दायित्व दो अलग-अलग शक्तियों को सौंपा गया। ये शक्तियाँ अलग-अलग और विरोधी उद्देश्यों से अनुप्राणित थी। एक-दूसरे के बीच सहयोग का प्रश्न ही पैदा नहीं होता था, अतः सम्पूर्ण शासन में एकरूपता सम्भव नहीं रही और गवर्नर को स्वेच्छारिता को बहुत अधिक अवसर प्राप्त होता रहा। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए सर रेजीनाल्ड क्रोड्क ने कहा, "द्वैध शासन एक प्रकार की वर्णसंकर व्यवस्था है जो कभी सफल नहीं हो सकती, क्योंकि किसी देश अथवा प्रान्त के शासन का संचालन दो पृथक् एवं स्वतन्त्र मन्त्रि-मण्डलों द्वारा सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता।"[1]

विषयों का विभाजन अव्यावहारिक, दोषपूर्ण और अवांछनीय

द्वैध शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत विषयों का विभाजन दोषपूर्ण और अवांछनीय था। मन्त्रियों को ऐसे विभाग दिये गये थे जो अपने में पूर्ण नहीं थे। अतः उन्हें किसी भी कार्य को पूरा करने के लिए कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्यों और गवर्नर पर निर्भर रहना पड़ता था। श्री के० वी० रेड्डी (जो मद्रास प्रान्त में मन्त्री थे) ने अपने विभाग की अपंगता का वर्णन इन शब्दों में किया था, 'मैं वन-रहित उन्नति एवं प्रगति का मन्त्री हूँ, और आप यह जानते ही हैं कि प्रगति एवं उन्नति अधिकांश रूप से वनों पर ही आधारित है। मैं

1 "Dyarchy is a hybrid system which cannot continue, as no country or province can be successfully governed by two independent cabinets." —*Sir Reginald Croddock.*

व्यवसाय और व्यापार का मन्त्री हूँ परन्तु फैक्टरी पर मेरा कोई नियन्त्रण नहीं क्योंकि वह एक सुरक्षित विषय है, और बिना फैक्टरी के व्यवसाय और व्यापार की कल्पना ही व्यर्थ है। मैं कृषि-मन्त्री हूँ परन्तु सिचाई पर मेरा नियन्त्रण नहीं। आप समझ सकते हैं कि इसका तात्पर्य क्या है—मैं व्यवसाय और व्यापार का मन्त्री हूँ, परन्तु विद्युत-शक्ति पर भी मेरा कोई अधिकार नहीं।"[1]

इससे यह स्पष्ट है कि इतने अस्वाभाविक और अव्यावहारिक विभाजन से शासन को सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकता था। हां, यदि कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्यों और मन्त्रियों में सहयोग होता तो शायद द्वैध शासन का प्रयोग सफलता प्राप्त कर जाता, परन्तु सहयोग की अपेक्षा असम्भव थी क्योंकि ब्रिटिश नौकरशाही के अफसर और लोकप्रिय मन्त्रियों के दृष्टिकोणों में मौलिक विरोध था।

केवल इतना ही नहीं, अपितु हस्तान्तरित विषयों को हेय दृष्टि से देखा जाता था।

हस्तान्तरित विषयों की महत्वहीन दशा

कार्यकारिणी-समिति के सदस्यों को मन्त्रियों से अधिक महत्व और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। समिति के सदस्यों को प्रत्येक कार्य में प्राथमिकता प्राप्त होती थी। श्री सचिन्द्र सिन्हा ने लिखा है, "कार्यकारिणी का नवीनतम सदस्य अनुभवी मन्त्री से ज्येष्ठ समझा जाता था।"[2]

स्वयं अधिनियम में ऐसी व्यवस्था थी कि उप-सभापति और अर्थ-विभाग का अध्यक्ष कार्यकारिणी-समिति का सदस्य ही हो सकता था। किसी भी मन्त्री को इन पदों के सुशोभित करने का अधिकार नहीं था।

इस अधिनियम ने गवर्नरों को हस्तान्तरित विभागों के क्षेत्र में भी इतने व्यापक अधिकार प्रदान कर दिये कि वह मन्त्रियों के परामर्श की अवहेलना कर स्वेच्छापूर्वक कार्य करते थे। इस प्रकार शासन की वास्तविक शक्ति तो मन्त्रियों के हाथ में न होकर गवर्नर के हाथ में थी, हाथ में थी, यद्यपि मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रखे गये। इस प्रकार मन्त्रियों को व्यवस्थापिका को भी प्रसन्न करना पड़ता था तथा गवर्नर को भी। इसके अतिरिक्त मन्त्री

गवर्नरों की स्वेच्छाचारी शक्तियां

---

1 I am a Minister of Development minus forests and you all know that development depends a good deal on forests. I am Minister of Industries without factories which is a reserved subject, and industries without factories are unimaginable. I am Minister of Agriculture minus Irrigation. You can understand what that means......I am also Minister of Industries without electricity."
—Sri K. B. Reddy.

2 "The newest Executive Councellor is thus senior to the oldest Minister." *—Sri Sachindra Sinha,*

सरकारी गुट पर अधिक निर्भर रहते तथा वह व्यवस्थापिका के प्रति वास्तविक रूप से उत्तरदायी नहीं रह सकते थे। कारण यह था कि सरकारी मनोनीत सदस्य तथा गैर-सरकारी-मनोनीत सदस्यों को साम्प्रदायिक तथा विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वालों का सदा ही सहयोग मिल जाता था इस प्रकार वह अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करते थे। मन्त्रियों को अपने कार्यों के लिए सदा ही इस गुट का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक होता था। इस प्रकार वह सरकार को भी प्रसन्न कर सकते थे तथा अपने पद पर भी बने रह सकते थे। परिणामतः मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति बिल्कुल भी उत्तरदायी न थे।

मन्त्रियों का सरकारी गुट पर निर्भर रहना

संयुक्त उत्तरदायित्व के अभाव में भी मन्त्रिमण्डलात्मक-शासन सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है क्योंकि गवर्नर अपने मन्त्रियों को किसी दलीय आधार पर नहीं नियुक्त करता था, अतः मन्त्री एक दल के नहीं होते थे तथा इस प्रकार संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव रहता था। कभी-कभी गवर्नर दो विरोधी दल के लोगों को मन्त्री बना देता था जिससे वह एक 'टीम' के रूप में काम न कर सकते थे। वास्तविकता तो यह है कि मन्त्री अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष होते थे तथा उस तरह मन्त्रि-मण्डल के सदस्य नहीं होते थे, जिस प्रकार मन्त्रि-मण्डलात्मक-प्रणाली में सब मन्त्री एक इकाई के रूप में काम करते हैं। कभी-कभी तो विधान-मण्डल में मन्त्री ही आपस में विरोधी विचार प्रकट करने लगते थे।

संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव

वित्तीय असंगतियाँ भी मन्त्रियों को पूर्ण दायित्व प्रदान नहीं करती थीं। पूरे प्रान्त का बजट एक ही होता था तथा दोनों के बीच उसका प्रतिस्थापन कार्यकारिणी तथा मन्त्रियों के बीच विचार-विमर्श द्वारा होता था तथा यदि दोनों किसी समझौते पर न पहुँच पाते तो गवर्नर ही यह कार्य करता था। गवर्नर इस मामले में अपनी कार्यकारिणी के सदस्यों से अधिक सहानुभूति रखता था। क्योंकि मन्त्रियों का वित्त-विभाग पर कोई नियंत्रण न था, अतः उन्हें कार्यकारिणी-परिषद् के ऊपर निर्भर रहना पड़ता था। मन्त्री, जिनके अधीन मुख्यतया राष्ट्र-निर्माण का कार्य था, धन के अभाव में अपने कार्य सम्पन्न नहीं कर पाते थे। कीथ का मत है कि "जब मन्त्रियों को कोष के ऊपर नियंत्रण रखने का कोई अधिकार ही नहीं था तो उत्तरदायी शासन की बात करना निरर्थक था।"

वित्तीय असंगतियाँ

वास्तव में आर्थिक प्रबन्ध के बिना मन्त्रियों को दशा अत्यंत शोचनीय थी। इस सम्बन्ध में सर मोहम्मद फकरुद्दीन ने कहा था, "बिना धन के मुझे योजना तैयार करने वाले एक साधारण कर्मचारी के समान ही समझिए, और जब वह

(योजना) तैयार हो जाती है तो वित्त विभाग को यह अधिकार होता था कि धन के आधार पर उसे समाप्त कर दे।"[1]

द्वैध शासन की असफलता का एक मुख्य कारण यह भी था कि मन्त्रियों को अपने अधीन कर्मचारियों पर भी कोई नियंत्रण न था। मन्त्रियों के अधीन अनेक विभागों के सचिव सिविल-सर्विस के होते थे, जो भारतमन्त्री के नियंत्रण में थे। इस अधिनियम ने सिविल-सर्विस के अधिकारियों के हितों की रक्षा का भार गवर्नर पर सौंपा। इस प्रकार उनकी नियुक्ति, पदोन्नति तथा स्थानान्तरण पर मन्त्रियों का कोई नियंत्रण नहीं था। जहाँ मन्त्री अपने विभाग के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी था, वहाँ, क्योंकि अधीनस्थ अधिकारियों पर अधिकार नहीं था, इसलिए वह अपना उत्तरदायित्व पूरी तरह नहीं निभा सकता था। उसे, यदि अधिकारीगण आज्ञा का उल्लंघन करें तो दण्डित करने का भी अधिकार नहीं था। इसी कारण भी द्वैध शासन-प्रणाली असफल सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त के० वी० पुन्निह्या (K. V. Puniahh) का यह मत भी सही है कि मन्त्रियों और सिविल-सर्विस के आपसी सम्बन्ध ऐसे नहीं थे, जैसे होने चाहिए थे। दोनों के दृष्टिकोण एक दूसरे के प्रतिकूल थे।

मन्त्री तथा सिविल-सर्विस

उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर यह स्पष्ट ही है कि द्वैध शासन-व्यवस्था अपनी रचना में भारी-भरकम और प्रणाली में पेचीदा थी। श्री के० वी० पुन्निह्या के अनुसार "द्वैध शासन-प्रणाली एक अनोखा प्रयोग था। इसका मुख्य प्रयोजन व उद्देश्य भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में प्रशिक्षण देना था। निःसन्देह इसके निर्माता इस प्रणाली के दोषों और कमियों से परिचित थे परन्तु वे सोचते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में उससे अधिक अच्छा कोई अन्य विकल्प नहीं था।"

द्वैध शासन-व्यवस्था अनुत्तरदायी सरकार का एक विलक्षण उदाहरण थी। इसके द्वारा उत्तरदायित्वयुक्त शासन की कला में प्रशिक्षण देना अयुक्तिसंगत था। यह केवल दिखावा मात्र और भारतीयों को दिया जाने वाला शानदार भुलावा था। स्वयं अंग्रेजों ने इस व्यवस्था का विरोध किया। लॉर्ड कर्जन ने इस सम्बन्ध में कहा था—

"मुझे द्वैध शासन से घृणा है।"[2]

---

1 "Without a purse consider me as I am simply a clerk to prepare a certain scheme and, after it is ready, the finance department is entitled to knock it down on the ground of funds."
—*Sir Mohd. Fakhruddin*

2 "I abominate Dyarchy." —*Lord Curzon.*

७

असहयोग आन्दोलन

प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र-राष्ट्रों की भारत ने भरसक सहायता की। यह सहायता केवल धन से नहीं थी अपितु तन और मन से भी थी। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसमें भारतीय नरेशों ने कम से कम दस करोड़ रुपये दिये; केन्द्रीय भारत सरकार के कोष से १ करोड़ ८६ हज़ार चंदा दिया गया तथा भारत के बाहर भेजी गयी सेनाओं का खर्च लगभग डेढ़ अरब पौंड भी भारत ने सहा।[1] युद्ध के लिए ९,५३,३७४ भारतीय सैनिक बाहर भेजे गये।[2] भारतीयों ने तन, मन और धन से जो यह सहायता की, इसके बदले में उन्हें विश्वास था कि अँग्रेज सरकार कुछ राजनैतिक अधिकार प्रदान करेगी। मित्र-राष्ट्रों ने युद्ध में केवल जनतन्त्र की रक्षा तथा निर्बल जातियों को स्वशासन प्रदान करने की भावना से भाग लिया था। भारत को भी विश्वास था कि अंग्रेज शासक जब इन उद्देश्यों के लिए लड़ाई लड़ रहे थे तो वे भारत के साथ सहानुभूतिपूर्वक वर्ताव करेंगे, परन्तु जब नवम्बर, सन् १९१८ में युद्ध समाप्त हो गया तो ऐसा प्रतीत हुआ कि युद्धकाल में भारत के साथ जो विनय-नीति अँग्रेजों द्वारा अपनायी गयी थी, केवल कूटनीति थी। युद्ध की समाप्ति पर जब देशभक्तों ने कहा 'यदि इंगलैण्ड भारत की इच्छा पूरी नहीं करेगा तो उसका परिणाम बुरा होगा;' प्रयाग के 'पायोनियर' ने सम्पादकीय लेख में लिखा, "क्या यह लोग समझते हैं कि वह ब्रिटिश केसरी, जो अभी-अभी संसार के महान् विश्वयुद्ध में से विजयी होकर निकला है, ऐसी फजूल धमकियों से डर जायगा ?" ऐसी गर्वित मनोवृत्ति कुछ न

भारतीयों द्वारा प्रथम महायुद्ध में योगदान

---

1 चन्दे, ऋण, पोस्ट ऑफिस डिपॉजिट द्वारा दी गयी सहायता इन राशियों से अलग है।

2 इनमें से लगभग ३०,००० मारे गये, ६०,००० के लगभग घायल हुए, ७५०० वन्दी बनाए गए तथा ५००० लापता समझे गये।

युद्ध तथा राष्ट्रीयता

कुछ प्रतिक्रिया उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती थी। इसके अतिरिक्त युद्ध में 'आत्मनिर्णय के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया गया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कुछ नवीन राज्यों की स्थापना की गयी तथा चीन एवं मध्य पूर्व के कुछ राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ। इस प्रभाव से भारत भी न बच सका। महात्मा गांधी ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई गति प्रदान की तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप तथा कार्यक्रम एकदम बदला।

भारत ने युद्ध में जो आर्थिक सहायता दी, उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। जनता की आर्थिक दशा युद्धोपरान्त बहुत ही खराब हो गयी। यूँ तो अँग्रेजों

आर्थिक दुरावस्था

की आर्थिक नीति सदा से ही भारत के हित की विरोधी रही थी, परन्तु युद्ध का बहुत ही घातक प्रभाव हुआ। अनाज की भी देश में कमी हो गयी क्योंकि जो भी अन्न उत्पन्न हो रहा था, उसका अधिकांश भाग सेनाओं के लिए भेजा जा रहा था। सेना में भर्ती होने के कारण खेती का काम करने वालों की कमी हो गयी थी तथा इसका भी कुछ प्रभाव अन्नोत्पादन पर पड़ा। सरकारी आँकड़ों के अनुसार अनाज के मूल्य में लगभग ९३% वृद्धि हो गयी थी। कपड़े के मूल्य में भी बहुत वृद्धि हो गयी थी। मँहगाई के अतिरिक्त अन्न तथा कपड़ा दुर्लभ भी होगया था तथा पूँजीपति बहुत अधिक मुनाफा ले रहे थे। सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया तथा अनेक स्थानों पर भूखी-नंगी जनता ने विद्रोह तथा हड़ताल कर दी। अनेक जगह बाजार लूट लिए गये। चम्पारन तथा खेड़ा की स्थिति विशेषतया खराब हो गयी। पूँजीपति भी, जो बहुत अधिक धन कमा रहे थे, सरकार की कुदृष्टि से न बचे। सरकार ने 'अतिरिक्त लाभ-कर' लगाकर पूँजीपतियों से धन वसूल करना शुरू कर दिया। संक्षेप में युद्धोपरांत, भारत का प्रत्येक वर्ग 'आर्थिक कष्ट के तेज़ बुखार' से गुजर रहा था।

जहाँ आर्थिक कठिनाइयों से जनता परेशान थी, वहीं रोग तथा अकाल ने भी

प्लेग तथा इनफ्लूएंजा

जनता को ग्रस्त कर दिया। सन् १९१७ में ठीक वर्षा न होने से अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी तथा तदुपरान्त प्लेग, मलेरिया, इनफ्लुएंजा तथा हैजा फैल गया। अनुमान लगाया जाता है कि लगभग ८ लाख व्यक्ति प्लेग से तथा ८० लाख इनफ्लुएंजा से मरे। सरकार ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया तथा जनता में सरकार के प्रति असन्तोष की भावना बढ़ने लगा।

सरकार ने महायुद्ध के लिए धन तथा सेना के सिपाही भरती करने[1] के लिए

---

1 मुजफ्फरपुर के न्यायाधीश मि० कोल्डस्ट्रीम ने लिखा, 'युद्ध ऋण उगाहने के लिए तथा सैनिकों की भर्ती के लिए जो उपाय काम में लाये गये, वह बहुधा अनधिकृत, आपत्तिजनक, अत्याचारपूर्ण तथा सरकार की इच्छा के विरुद्ध थे। दूर के जिलों में वे लोगों को असह्य थे।"
(Congress Punjab Inquiry Committee Report, Vol. I, p. 18)

महायुद्ध के लिए सेना तथा धन एकत्रित करने की नीति

जो नीति अपनायी, वह अत्यन्त दोषपूर्ण थी। लोगों को दबाकर धन वसूल किया जाता था तथा गाँव-गाँव घूमकर मनुष्यों को जबरदस्ती सेना में भरती किया जाता था। सरकार इन्हें 'दबाव तथा समझाने' की नीति कहती थी परन्तु वास्तव में यह अत्याचार था। आगे चलकर सरकार की इन नीतियों से बहुत असन्तोष फैला। जब भारतीयों ने देखा कि अंग्रेज किसी भी प्रकार से राजनीतिक अधिकार प्रदान करने को उद्यत नहीं थे। इसके साथ ही युद्धोपरान्त सेना के बहुत-से लोगों को पदों से अलग कर दिया गया।

सेना से छँटनी

लोगों को जीवन व्यतीत करने में कठिनाई होने लगी। धीरे-धीरे जनता के मन में यह भावना भर गयी कि सरकार स्वार्थी थी तथा काम निकल जाने पर उसे जनता की चिन्ता बिलकुल नहीं थी।

उपरिवर्णित कार्यों से जनता में सरकार के विरुद्ध जो असन्तोष की भावना भरती जा रही थी, उसे कुछ राजनीतिक कारणों ने और भी तीव्र कर दिया।

सरकारी दमन-चक्र

लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने राजनीतिक आन्दोलन, चाहे वह किसी प्रकार का हो, कुचल डालने की पूरी चेष्टा की। सेडीशन एक्ट तथा प्रेस एक्ट का मनमाना प्रयोग किया गया। ऐनी बीसेन्ट की नजरबन्दी तथा अली-बन्धुओं के विरुद्ध सरकार की कार्यवाही से भी जनता सरकार से रुष्ट थी। बंगाल में नौकरशाही का दमन-चक्र तीव्र असन्तोष की भावना पैदा कर रहा था तथा पंजाब में माइकेल ओ' डायर सारी राजनीतिक हलचलों को कुचल डालने में प्रयत्नशील था। उसने तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल के पंजाब में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। देश के अन्य भागों में भी राजनीतिक उत्तेजना फैल रही थी।

भारत की जनता ने ब्रिटेन को युद्ध में इस आशा से सहायता दी थी कि उसे स्वशासन प्रदान किया जायगा, परन्तु युद्ध के उपरान्त ऐसा प्रतीत होने लगा

मांटफोर्ड-सुधारों से निराशा

कि सरकार अपने वायदों से पीछे हट गयी थी। मांटफोर्ड-रिपोर्ट के प्रकाशन ने देश के राजनीतिक क्षेत्रों में घोर निराशा का संचार किया। अब यह प्रतीत होने लगा था कि जिस उद्देश्य से भारत ने युद्ध में सहयोग किया था, वह बेकार हो गया था।

जिस समय युद्ध चल रहा था, सरकार ने भारतीय मुसलमानों को यह आश्वासन दिया था कि न तो टर्की साम्राज्य का विघटन किया जायगा और न ही

खिलाफत-प्रश्न

खिलाफत का अन्त किया जायगा। इसी आश्वासन के ऊपर मुसलमानों ने सरकार को सहायता प्रदान की थी परन्तु सीवर्स की सन्धि ने यह प्रदर्शित किया कि सरकार ने मुसलमानों

को धोखा दिया था तथा वह टर्की साम्राज्य का विघटन करने तथा खिलाफत को समाप्त करने पर तुली हुई थी। इससे भारत के मुसलमानों को गहरा धक्का लगा तथा उन्होंने ख़िलाफत आन्दोलन का सूत्रपात किया।

रौलट एक्ट

अंग्रेजी सरकार ने जब देखा कि जनता न तो सुधारों से शान्त हो रही थी तथा न ही दमन से, तो उसे एकाएक दबाने के उद्देश्य से १० दिसम्बर, सन् १६१७ को इंगलैण्ड की हाईकोर्ट के जज सर सिडनी रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई जो यह जांच करती कि भारतवर्ष में किस प्रकार तथा किस सीमा तक क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्बन्धी षड्यन्त्र फैले थे तथा उनको दबाने के लिए कैसे कानूनों की आवश्यकता थी। इस कमेटी के नियुक्त करने का मुख्य कारण यह था कि 'भारत-रक्षा कानून' की अवधि समाप्त होने को थी तथा सरकार शीघ्र ही समस्त क्रान्तिकारी एवं विध्वंसात्मक कार्यवाहियों का सामना करने के लिए अपने को तैयार कर लेना चाहती थी। कमेटी ने लगभग चार महीने जांच की तथा वह केवल दो प्रान्तों—पंजाब तथा बंगाल में गयी। यह सारी जाँच केवल उस कागजी सामग्री पर हुई जो सरकार ने उसके सामने उपस्थित की थी। १५ अप्रैल १६१८ को सर रौलट ने अपनी रिपोर्ट भारतमन्त्री को पेश की तथा उसी दिन वह भारत में भी प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में भारत के देशभक्तों के कार्यों को बड़े उग्र रूप में चित्रित किया गया तथा जो परामर्श दिये थे, वह उग्रतम थे। समिति का विचार था कि प्रचलित फौजदारी कानूनों द्वारा क्रान्तिकारी आन्दोलनों को कुचलना संभव नहीं था। इसका पहला परामर्श यह था कि एक ऐसा कानून बनाया जाय जो युद्ध-समाप्ति पर 'भारत-रक्षा-कानून' का काम दे सके तथा दूसरा परामर्श फौजदारी कानून में ऐसे स्थायी परिवर्तन करने का था जिससे राजनीतिक आन्दोलन का सरलता से दमन किया जा सके। सरकार द्वारा इस परामर्श के आधार पर जो विधेयक बनाये गये, वह 'रौलट बिल' कहलाये। ६ फरवरी, १६१६ को जब सर विलियम विन्सेट ने बिलों को कौंसिल में पेश किया तो सरकार ने देखा कि न केवल कौंसिल के बाहर, अपितु अन्दर भी कड़े विरोध का भाव विद्यमान था।

कांग्रेस ने भी सन् १६१८ के दिल्ली अधिवेशन में रौलट बिल का विरोध किया। यह अधिवेशन २६ दिसम्बर को पण्डित मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में हुआ था तथा इसके स्वागताध्यक्ष हकीम अजमलखाँ थे। रौलट कमेटी की रिपोर्ट के सम्बन्ध में कहा गया कि वह अत्यन्त प्रतिक्रियावादी है, तथा यदि उसकी सिफारिशों को स्वीकार किया गया तो शासन-सुधारों को व्यावहारिक रूप देने में कठिनाइयाँ पैदा हो जायेंगी। उदारवादियों तथा समचार-पत्रों ने भी इन विधेयकों का विरोध किया। सी० वाई० चिन्तामणि ने लिखा है इन दोनों विधेयकों का विरोध परिषद् के गैर-सरकारी भारतीय सदस्यों, निर्वाचित सदस्यों, नामजद

सदस्यों, सबने समान रूप से किया परन्तु सरकार अपनी बात पर अड़ी रही तथा तनिक भी नहीं हटी ।"[1]

रौलट एक्ट मार्च सन् १९१९ में स्वीकृत हुआ तथा इसकी अवधि तीन वर्ष रखी गयी। इस बीच इसका प्रयोग नहीं हुआ तथा इसने महात्मा गांधी को अपना असहयोग आन्दोलन शुरू करने की प्रेरणा दी। इस एक्ट के द्वारा सरकार राजनीतिक आन्दोलन तथा राज्य के विरुद्ध किसी भी कार्य का दमन कर सकती थी तथा बिना मुकद्दमा दायर किये किसी भी व्यक्ति को बन्दी बना सकती थी। इससे 'एविडेन्स एक्ट' की वह धारा भी समाप्त करदी गयी जिसके अनुसार किसी पुलिस अधिकारी के सम्मुख दी गयी गवाही सफाई की गवाही नहीं मानी जा सकती थी।[2]

गांधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

रौलट एक्ट ने भारतीय राजनीति मे एक नवीन युग का सूत्रपात किया। महात्मा गांधी जनवरी,सन् १९१५ में दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन चलाकर तथा पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर भारत आये थे। उनके अहिंसक आन्दोलन ने जो सफलता प्राप्त की थी, उसकी न केवल देश वरन् विदेशों में भी चर्चा हो रही थी। श्री पोल का कहना है, गांधीजी अफ्रीका से अपने साथ जीवन का विशिष्ट दर्शन तथा एक ऐसी राजनीतिक टेकनीक लाये थे, जिसकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी'[3] उन्होंने अहमदाबाद जेल के निकट साबरमती स्थान पर अपना आश्रम बनाया। इस समय तक गाँधीजी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रशंसक थे, तथा उनका कहना था कि इसके कुछ ऐसे आदर्श हैं जिनके प्रति मुझे प्रेम हो गया है। उन्होंने गोपालकृष्ण गोखले को अपना राजनीति गुरु बनाया तथा राजनीतिक क्षेत्र में उनसे ही मार्ग-दर्शन प्राप्त किया। गोखले ने गांधीजी को यह परामर्श दिया था कि राजनीति में भाग लेने से पूर्व उन्हें भारतीय राजनीति का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। उन्होंने लगभग दो वर्ष सारे भारत का भ्रमण किया। इस काल में देश की राजनीति में उन्होंने कोई सक्रिय भाग नहीं लिया था, परन्तु सन् १९१७ में ही उन्हें ऐसा अवसर मिल गया। अप्रैल मास में जब वह चम्पारन में पहुँचे तो किसानों ने उनके सामने

---

1 *Chintamani* : Indian Politics Since the Mutiny, pp. 109-10.

2 "It gave extraordinary powers to the Government of India for the supression of the political movement and any other action against the state. It authorised arrest and detentions of persons without trial It multiplied the provision of the Indian Evidence Act under which confessions made to a police officer could not be admitted as evidence." *C. R. Das* : Builders of Modern India, p. 40).

3 He brought with him a clear cut philosophy of life and a political technique which had proved its efficacy."

(*Polak* : Mahatma Gandhi, p. 95)

शिकायतें रखीं। वहाँ नील की खेती होती थी। परन्तु अब बाजार में रासायनिक ढंग से बने सस्ते रंग मिलने के कारण नील की खेती लाभप्रद नहीं रही थी। इस बीच लगान में वृद्धि करदी गयी तथा जहाँ रोपकों के अस्थायी पट्टे थे, उनसे एक मुश्त रकम की माँग की गयी। इसके अतिरिक्त किसानों से अन्य अवैध रकमें बलात् ली जाती थीं। गाँधीजी ने सारे मामले की जाँच शुरू की। सरकार ने उन्हें जिला छोड़ने की आज्ञा दी, जिसकी उन्होंने उपेक्षा की तथा जो बाद में वापस ले ली गयी। गाँधीजी की छानबीन के फलस्वरूप सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की जिसके एक सदस्य गाँधीजी भी थे इसी कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर सन् १९१८ में 'चम्पारन कृषक एक्ट' बना।[1] इस प्रकार गाँधीजी चम्पारन के किसानों के कष्ट दूर करने में सफल रहे। इसी बीच अतिवृष्टि के कारण खेड़ा में फसलों को क्षति पहुँची थी। वहाँ गाँधीजी ने 'कर नहीं' आन्दोलन चलाया। जब प्रार्थनाओं तथा निवेदनों का कोई फल न हुआ तो उन्होंने सहयोगियों तथा पट्टीदारों को सत्याग्रह करने की सलाह दी। यह भारत का पहला सत्याग्रह आन्दोलन था। इसी आन्दोलन में वह सरदार वल्लभभाई पटेल के सम्पर्क में भी आये। खेड़ा आन्दोलन से देश के किसानों में जागृति फैली तथा सार्वजनिक जीवन में भी नयी शक्ति तथा साहस का संचार हुआ। इसी वर्ष अहमदाबाद के मिल मजदूरों ने भी गाँधीजी से सहायता की प्रार्थना की। मिल मजदूर अपने वेतन में वृद्धि के हेतु आन्दोलन कर रहे थे। गाँधीजी ने मालिकों से कहा कि वह मजदूरों की मांगें पूरी करें, परन्तु जब मालिकों ने इस पर कोई ध्यान न दिया तो उन्होंने आमरण अनशन शुरू कर दिया। चौथे ही दिन मालिकों ने गाँधीजी की शर्तें मान लीं तथा मजदूरों के वेतन में ३५ प्रतिशत की वृद्धि कर दी गयी।

चम्पारन

खेड़ा में प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन

अहमदाबाद मिल

गाँधीजी ने देश में अपने कार्यों से पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी तथा देश की निगाहें उन्हीं की ओर लगी थीं। इसी बीच रौलट एक्ट पास हुआ। इससे उनकी अंग्रेजी शासन के प्रति राजभक्ति की भावना को ठेस लगी तथा वह शासन-विरोधी हो गये। उन्होंने एक्ट की तीव्र निन्दा की तथा जनता से कहा कि वह सत्य तथा अहिंसा द्वारा इस कानून की अवज्ञा का प्रण करें। जिस समय एक्ट पास हुआ, गाँधीजी मद्रास में थे तथा श्री राजगोपालाचारी के यहाँ ठहरे हुए थे। एक स्वप्न में उन्हें सत्याग्रह करने का विचार आया तथा उन्होंने दूसरे दिन प्रातःकाल श्री राजगोपालाचारी से कहा, "पिछली रात मुझे स्वप्न में विचार आया कि हमें सारे देश से सार्वजनिक हड़ताल करने को कहना चाहिए।

रौलट एक्ट विरोध

1 गुरुमुख निहालसिंह, पृ० ३९२-९३।

सत्याग्रह आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है, हमारा संघर्ष पवित्र है तथा मुझे यह उचित प्रतीत होता है कि उसका आरम्भ आत्मशुद्धि के किसी कार्य से किया जाय। अतः सारे भारतवासी इस दिन अपना काम-काज छोड़कर उपवास तथा प्रार्थना करें।" श्री राजगोपालाचारी तथा अन्य लोगों ने इसका समर्थन किया तथा एक पत्र गांधीजी ने सत्याग्रह का विचार जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। केवल लिबरल पार्टी के लोगों को छोड़कर सर्वत्र सत्याग्रह के विचार का स्वागत किया गया। उनका कहना था कि सत्याग्रह देशहित के लिए घातक होगा तथा ऐनी बीसेन्ट ने गांधीजी को 'राजनीतिक बच्चा' कहकर उनके कार्यक्रम का उपहास किया। लोकमान्य तिलक ने गांधीजी के इस आन्दोलन का स्वागत किया। गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन के विचार ने स्वामी श्रद्धानन्द जो अब तक राजनीति से पृथक् रहते थे तथा उसे अवसरवादिता की नीति समझते थे, को भी आकर्षित किया। मुसलमानों ने भी इस आन्दोलन में सहयोग दिया तथा जब सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ गया तो उसमें हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच बन्धुत्व की ऐसी भावना देखने में आयी, जैसी पहले कभी भी नहीं देखी गयी थी।

सत्याग्रह का शुभारम्भ

रौलट एक्ट के विरोध में ३० मार्च, सन् १९१९ को देश भर में दुकानों तथा कारखानों में हड़ताल करने की घोषणा की गयी तथा यह भी कहा गया कि सब लोग एक दिन का उपवास रखकर अपने हृदय को शुद्ध करें, परन्तु बाद में हड़ताल का दिन बदल कर ६ अप्रैल कर दिया गया। इस परिवर्तन की सूचना देर में निकली। इसी बीच दिल्ली में ३० मार्च को ही सत्याग्रह कर दिया गया। वहाँ एक जुलूस निकाला गया जिसका नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द कर रहे थे। दिल्ली रेल्वे-स्टेशन पर झगड़ा हो गया तथा रेलवे पुलिस द्वारा दो आदमियों की गिरफ्तारी से लोगों में क्रोध फैल गया। अन्त में भीड़ पर गोली चलायी गयी। बाद में टाउन हॉल के सामने भी जनता पर गोली चली। इसके फलस्वरूप ८ व्यक्ति मरे तथा अनेक घायल हुए। ६ अप्रैल को देश भर के अन्य नगरों में हड़ताल हुई तथा झगड़े हुए। दिल्ली के लोगों ने वहाँ स्थिति शान्त करने को गांधीजी को बुलाया। सरकार ने उनके दिल्ली तथा पंजाब-प्रवेश पर रोक लगा दी, परन्तु गांधीजी ने इसकी अवहेलना की। गांधीजी को पलवल स्टेशन पर गिरफ्तार करके बम्बई वापस भेज दिया गया। १० अप्रैल, सन् १९१९ को गांधीजी की गिरफ्तारी से अहमदाबाद में हड़ताल हुई तथा झगड़ा हो गया। कई बार भीड़ पर गोली भी चली तथा १२ अप्रैल को सैनिक घोषणा जारी की गयी, जो दो दिन बाद वापस ले ली गयी। पंजाब में जलियाँवाला बाग हत्याकांड भी रौलट एक्ट के फलस्वरूप हुआ। १८ अप्रैल को गांधीजी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। गांधीजी ने आन्दोलन का प्रारम्भ करते समय लोगों को अहिंसक रहने को कहा था। सत्याग्रह प्रारम्भ होने से पहले

1 *Disorder Inquiry (Hunter) Committee Report*, p. 3.

सत्याग्रही की शपथ में भी यह उपबन्ध था कि सत्याग्रही सत्य का अनुकरण करेंगे तथा किसी की जान तथा माल को हानि न पहुँचायेंगे, परन्तु जब सरकार का दमन-चक्र शुरू हो गया तथा सहनशीलता की सीमा हो गयी तो जनता द्वारा उसका जवाब दिया जाना स्वाभाविक ही था। गांधीजी ने आन्दोलन का सारा दोष अपने सर पर ले लिया तथा इस बात की घोषणा की कि आन्दोलन का प्रारम्भ एक भारी भूल थी। प्रायश्चित के स्वरूप उन्होंने ३ दिन का उपवास भी रखा तथा जनता से भी एक दिन का उपवास रखने को कहा।[1]

जलियाँवाला बाग हत्याकांड

रौलट एक्ट के विरोध में देश भर में आन्दोलन हुए, परन्तु पंजाब की स्थिति गम्भीर हो गयी। पंजाब में अंग्रेजी सरकार के काले कारनामों ने सन् १८५७ में जनरल नील द्वारा किये अत्याचारों को भी मात कर दिया। ६ अप्रैल की हड़ताल पंजाब के सभी नगरों में शान्तिपूर्वक मनायी गयी। पंजाब के गवर्नर सर माइकल ओ' डायर के अभिमान को इससे ठेस लगी। वह समझता था कि उसकी सरकार पंजाब को राजनीति से अछूता रखने में सफल हुई थी। ७ अप्रैल को डायर ने पंजाब विधान-परिषद् में घोषित किया :

"इस प्रान्त की सरकार का यह दृढ़ निश्चय है तथा यह निश्चय भविष्य में भी बना रहेगा कि सार्वजनिक व्यवस्था जो युद्धकाल में सफलतापूर्वक कायम रखी गयी थी, वह शान्तिकाल में भंग नहीं होगी। इसलिए भारत रक्षा एक्ट के अन्तर्गत लाहौर तथा अमृतसर के कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही की गयी है........रौलट एक्ट के विरुद्ध........लाहौर तथा अमृतसर दोनों ही स्थानों में जो प्रदर्शन हुए हैं.... उनसे स्पष्ट है कि अनभिज्ञ तथा सहज-विश्वासी लोगों को किस प्रकार सरलता से बहकाया जा सकता है। जो लोग उनको बहकाने वाले हैं, उन पर एक विकट उत्तरदायित्व है........जो लोग तर्क के स्थान पर अनभिज्ञता से अपील करते हैं, उनकी भी एक दिन खबर ली जायगी।"[2]

सरकार ने गांधीजी तथा अन्य नेताओं के पंजाब में घुसने पर रोक लगा दी। १० अप्रैल, सन् १९१९ को अमृतसर के डिप्टी-कमिश्नर ने डॉक्टर किचलू

---

1. In a speech at Ahmedabad on 14th April 1918, Gandhiji said, "I have said by times without number that satyagraha admits of no violence,......... and still in the name of Satyagraha we burnt down buildings, forcibly captured weapons, extorted money, stopped trains, cut off telegraph wires, killed innocent people and plundered shops and private houses. If deeds such as these could save me from prisonhouse of the scaffold, I should not like to be saved."
2. The Congress Punjab Inquiry Committee Report, pp. 6. 7.

तथा डॉक्टर सत्यपाल को, जो प्रसिद्ध कांग्रेसी कार्यकर्ता थे, अपने बंगले पर बुलाकर पकड़ लिया और धर्मशाला नामक स्थान पर नजरबन्द रखने का आदेश दिया। इन दोनों के निर्वासन से सारे शहर में उत्तेजना फैल गयी। लोगों ने हड़ताल करदी तथा एक जलूस बनाकर उन्हें छोड़ने की माँग करने डिप्टी-कमिश्नर के मकान की ओर बढ़े। हंटर कमेटी का कहना है कि "भीड़ के पास लाठियाँ अथवा कोई अन्य लड़ने की चीज नहीं थी तथा उसने रास्ते में योरोपियनों के साथ कोई छेड़-छाड़ नहीं की।[1] रास्ते में रेल के पुल के पास पुलिस ने भीड़ पर गोली चला दी। इससे जनता क्रोधित हो गयी तथा हत्या-लूटमार शुरू कर दी। रास्ते में दो योरोपियनों को पीटा गया। नेशनल बैंक पर आक्रमण कर उसके अंग्रेज मैनेजर की हत्या कर दी गयी, टाउन हॉल तथा सार्वजनिक इमारतों में आग लगा दी गयी तथा एक ईसाई प्रचारिका मिस शेरवुड को अधमरा करके एक गली में छोड़ दिया गया। ऐसा अनुमान अगाया जाता है कि सैनिकों की गोली से मरे लोगों की संख्या लगभग १० थी।[2]

हत्याकांड

११ अप्रैल को अमृतसर में पुलिस तथा मिलिटरी का पहरा था। स्थान-स्थान पर तोपें खड़ी थीं। शहर में जाने वालों पर कठोर प्रतिबन्ध था। शहर भर के पानी के नल तथा बिजली के कनेक्शन बन्द कर दिये गये। १२ अप्रैल को अनेक गिरफ्तारियाँ की गयीं तथा जनरल डायर ने एक घोषणा द्वारा समस्त भीड़ें तथा सभाएँ वर्जित करदीं, परन्तु व्यवहार में यह घोषणा जनता के मध्य प्रचारित नहीं की गयी। हंटर कमेटी का कहना है : "यह प्रकट नहीं होता कि उस घोषणा के प्रकाशन के लिए क्या व्यवस्था की गयी.......जिन स्थानों पर घोषणा (जो अंग्रेजी में थी) पढ़ी गयी, उसका नक्शा देखने से प्रत्यक्ष है कि शहर के बहुत बड़े भागों में घोषणा नहीं पढ़ी गयी।"[3] दूसरी ओर १२ अप्रैल की शाम को यह सार्वजनिक सूचना दी गयी कि १३ तारीख की शाम को बाग में एक सभा होगी। जनरल डायर ने सभा को रोकने का प्रबन्ध नहीं किया वरन् सभा का आरम्भ होते ही फौजी गाड़ियों तथा सैनिकों सहित पहुँचकर बिना चेतावनी दिये, जब तक गोलियाँ समाप्त न हो जाएँ, गोली चलाने की आज्ञा दे दी। वेलेन्टाइन शिरोल का कहना है कि गोली १०० गज की दूरी से चलायी गयीं। डायर के अनुसार लगभग ६००० आदमी थे तथा दूसरों का कहना है कि १०,००० आदमी थे। गोलियाँ दस मिनट तक चलती रहीं तथा कुल १६५० फायर किये गये। सरकारी आँकड़ों के अनुसार ३७९ व्यक्ति मरे तथा १२०० घायल हुए। क्योंकि बाग के चारों ओर दीवार थी तथा उसके छोटे से

---

1 The Disorders Inquiry Committee Report, p. 22.

2 उपर्युक्त रिपोर्ट, पृ० २९।

3 वही, पृ० ३०।

रास्ते पर सैनिक खड़े थे, अंतः उन्हें भागने का भी अवसर न मिला।[1] शिरोल ने यह भी लिखा है कि यदि डायर का स्वयं हंटर कमीशन के सामने दिया गया बयान न होता तो यह समझा जा सकता है कि ऐसा सिविल-सत्ता के अचानक लुप्त हो जाने के कारण किया गया परन्तु डायर के कथन से पता लगता है कि उसने जानबूझ कर ऐसा निर्णय किया। हंटर कमेटी के सामने डायर ने कहा था कि मैं तो एक फौजी गाड़ी लेकर गया था परन्तु वहाँ जाकर देखा तो बाग के भीतर वह घुस ही नहीं सकती थी। इस कारण उसे बाहर छोड़ देना पड़ा। उसने यह भी कहा, "मेरी मंशा तो अमृतसर वालों को सबक देने की थी।" दर्शकों का ख्याल है कि मरने वालों की संख्या १००० से कम नहीं थी। यह घटना अत्यन्त नृशंसतापूर्ण तथा भयावनी थी। उसे दीनबन्धु एन्ड्रूज के शब्दों में 'कत्लेआम' कहना ही ठीक होगा। इलाहाबाद की एक सार्वजनिक सभा में पंडित मोतीलाल नेहरू ने इसकी बहुत आलोचना की। उन्होंने कहा कि सरकार ने घायलों का भी कोई प्रबन्ध नहीं किया तथा 'कर्फ्यू आर्डर' के कारण उनके घर वाले भी उनकी सेवा को नहीं आ सके तथा मैदान में ही घायल पड़े बहुतों ने दम तोड़ दिया।[2] उन्होंने कहा कि जिस प्रकार की नौकरशाही व्यवस्था थी, उसमें फौरन ही परिवर्तन होना आवश्यक था।[3]

जलियाँवाला हत्याकांड के उपरान्त पंजाब के ५ जिलों में मार्शल लॉ घोषित कर दिया गया। जनता को जनरल डायर के सैनिक-राज में ऐसी सजाएँ दी गयीं जो न कहीं देखने में आयीं, न सुनने में। अमृतसर के नलों का पानी बन्द कर दिया गया तथा बिजली काट दी गयी। सैनिक अधिकारियों की ओर से जो आज्ञाएँ प्रचारित की गयीं, उनमें से कुछ निम्नलिखित थीं :

मार्शल लॉ

(१) जिस गली में मिस शेरवुड पर आक्रमण हुआ था, वहाँ लोगों को बेंत मारने के लिए टिकटिकी लगा दी गयी तथा आज्ञा प्रचारित की गयी कि जो भी भारतीय उस गली से निकलेगा, वह पेट के बल रेंग कर जायगा, खड़े होकर नहीं।

---

1 *Chirol* : India—Old & New, pp. 177-78.

2 "Remember 8 O'clock was the curfew hour. No man for any reason, whatever, was to be seen outside his house after that hour. The people being thus forcibly shut up in their houses and unable to attend on their wounded or remove their dead, one would expect that the Government took some measures in behalf of the people. But nothing of the kind happened. You may take it from me that no doctor, no policeman, not even a municipal sweeper, visited the place that night of the next day. The wounded of the afternoon were only received by death during the night." —*Moti Lal Nehru* : Voice of Freedom, p. 528.

3 वही, पृ० ५३१।

(२) आज्ञा दी गयी कि जब कभी भी कोई अँग्रेज अधिकारी किसी भारतवासी के सामने से गुजरे तो वह उसे फौरन सलाम करे, परन्तु व्यवहार में प्रत्येक अँग्रेज को सलाम करना पड़ता था तथा न करने पर दण्ड या गिरफ्तारी।

(३) स्कूल या कॉलेज के छात्रों के लिए यह आज्ञा थी कि वह फौजी अफसरों के सामने दिन में चार बार विभिन्न स्थानों पर हाजरी दें।

(४) मामूली से मामूली बात पर बेंत लगाये जाते थे। ३० बेंत लगाना तो साधारण बात थी। यदि कोई मार खाते-खाते बेहोश हो जाता था तो भी पिटता रहता था।

(५) शहर के सब वकीलों को स्पेशल कान्सटेब्लि बनाकर रात-दिन काम लिया जाता था।

(६) गिरफ्तारी, हथकड़ी-बेड़ी तथा बिना भोजन जेल की कोठरी में बन्द कर देना आदि साधारण दण्ड थे जिन्हें प्रत्येक अफसर बिना किसी रोक-टोक के दे सकता था।

(७) अदालतें भंग करके सैनिक ढंग से स्पेशल ट्रिब्यूनल बनाए गए जिनकी मौज ही कानून था। इनके द्वारा किए गए किसी दण्ड की अपील नहीं हो सकती थी।

यह मार्शल लॉ ६ जून तक जारी रहा। हत्याकांड तथा मार्शल लॉ की प्रतिक्रिया में सारे देश में असन्तोष प्रकट किया गया तथा प्रत्येक क्षेत्र में सरकार के कार्यों की निन्दा की जाने लगी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पंजाब सरकार के इस बर्बरतापूर्ण कार्य के विरोध में सर' की पदवी त्याग दी।[1] श्रीमती ऐनी बीसेन्ट ने

1 श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने पत्र में लिखा—

पंजाब में हमारे भाइयों ने जो अपमान तथा कष्ट सहे हैं, उनके समाचार, रोधक प्रतिबन्धों की दीवार मे से रिस कर भारत के प्रत्येक भाग में पहुँच गये हैं, उनके कारण हमारे देशवासियों के हृदय में जो व्यापक रोष व वेदना हुई है, उसकी हमारे शासकों ने उपेक्षा की है। सम्भवतया उन्होंने अपने आपको इस बात की बधाई दी है। उन्होंने (अपनी दृष्टि से) शासितों को हितकर पाठ पढ़ाया है……यह जानकर कि हमारे निवेदन निरर्थक हुए हैं और प्रतिकार का मनोवेग हमारी उस सरकार के, जो अपनी भौतिक शक्ति तथा नैतिक परम्पराओं के अनुरूप उदारता प्रदर्शित कर सकती थी, उत्कृष्ट राजनैतिक दृष्टिकोण को जागृत किए हुए हैं, मैं जो कम से कम कर सकता हूँ, वह यह है कि मैं सारे परिणामों को और उनकी जोखिम को अपने ऊपर लूँ और अपने ऐसे करोड़ों देशवासियों के, जो आतंक और हतबुद्धि से मूक हो गये हैं, विरोध को व्यक्त करूँ।"

"अब यह समझ आ गया कि सम्मान के प्रतीक, अपमान में असंगत सन्दर्भ में हमारी निर्लज्जता को संतुष्ट कर देते हैं और मैं स्वयं विशिष्ट गौरव से विहीन होकर अपने उन देशवासियों के बराबर खड़ा होना चाहता हूँ,

[contd.

कहा—"हन्टर कमेटी के सामने सैनिक अधिकारियों के बयानों को पढ़कर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ है। उन्होंने अपने मुँह से जो कुछ स्वीकार किया है, बेल्जियम में जर्मनवासियों ने उससे अधिक कुछ नहीं किया।"[1] देश के राष्ट्रवादी पत्रों ने माँग की कि सर माइकल ओ डायर तथा मार्शल लॉ के अत्याचारपूर्ण प्रशासन के लिए उत्तरदायी अन्य लोगों पर अभियोग चलाया जाय। मॉडरेटों ने भी पंजाब की आतंकवादी नीति तथा राजनीतिक सुधारों की ओर प्रतिक्रियावादी भाव के कारण सरकार की कटु आलोचना की।[2] मदनमोहन मालवीय ने अपने सहयोगियों के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप पंजाब की घटनाओं के सम्बन्ध में छान-बीन की। उन्होंने इसके सम्बन्ध में ९२ सूक्ष्म तथा अन्तर्भेदी प्रश्न तैयार किये तथा भारतीय विधान-परिषद् के कार्यवहक को सूचना दी, परन्तु गवर्नर जनरल ने उन्हें प्रस्तुत करने की आज्ञा नहीं दी। देश के प्रत्येक कोने-कोने से पंजाब की घटनाओं की जाँच के लिए माँग की गई। अन्त में सरकार ने एक जाँच कमेटी की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष लॉर्ड हन्टर थे। इस कमेटी के अन्य सदस्य थे—मि० जस्टिस रैंकिन, मि० राइस, मेजर जनरल सर जार्ज बेरो, मि० टामस स्मिथ, सर चिमन लाल सीतलवाड, साहबजादा सुल्तान अहमद तथा पं जगतनारायण। कांग्रेस ने भी पृथक् एक समिति पंडित मोतीलाल नेहरू तथा पं० मदनमोहन मालवीय की नियुक्ति की जो तथ्यों की जाँच करे।

हन्टर कमेटी

हन्टर कमेटी ने मार्च, सन् १९२० में अपनी रिपोर्ट दी। इसी बीच भारत सरकार ने उन अधिकारियों को, जिनके व्यवहार के सम्बन्ध में हन्टर कमेटी को जाँच करनी थी, अभियोज्यता से बचाने के लिए भारतीय विधान-परिषद् में एक विधेयक 'इण्डेम्निटी बिल' प्रस्तुत किया। गैर-सरकारी सदस्यो ने इस विधेयक को स्थगित करने को कहा क्योंकि हन्टर कमेटी की नियुक्ति हो चुकी थी, परन्तु सरकार के सरकारी सदस्यों के वोटों से विधेयक पारित हो गया। जब हन्टर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो सरकार को अपने मुँह से अपने अधिकारियों की नृशंसता स्वीकार करनी पड़ी। भारत मन्त्री ने भी लिखा—

"हन्टर कमेटी ने जो उदाहरण दिए हैं, उनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पंजाब में फौजी कानून के प्रशासन में, साधारणतया तो नहीं किन्तु दुर्भाग्य से बहुत सीमा तक काफी, एक ऐसी जातीय भावना ने काम

जिसको उनकी 'कथित' तुच्छता के कारण ऐसे अपमान सहने पड़ते हैं, जो किसी भी मानव-शरीर के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इन्हीं कारणों ने मुझे श्रीमान् से उचित आदर के साथ यह कहने को विवश किया है कि मुझे 'सर' की उपाधि से छुटकारा दे दिया जाय।

(The Indian Annual Register, 1920, pp. 50-51.)

1 The Disorders Inquiry Committee Report, p. 125.

2 गुरुमुख निहालसिंह, पृ० ४१६।

किया है जिसका उद्देश्य भारतीय समाज का अपमान करना तथा उसे कष्ट पहुँचाना था। बहुत से अवसरों पर अन्याय किया गया तथा औचित्य और मानवताओं की मर्यादाओं का उल्लंघन किया गया।"

रिपोर्ट के आधार पर सर माइकेल ओ' डायर को बे दाग मुक्त कर दिया गया। जनरल डायर को पदच्युत किया जाकर उसके दोष को केवल 'निर्णय की भूल' कहा गया। रिपोर्ट में उसके व्यवहार को एक 'शुद्ध, निष्कपट परन्तु भ्रामाकान्त कर्तव्यभावना' कहा गया. ऐंग्लो-इण्डियन प्रेस ने उसे 'ब्रिटिश राज्य का रक्षक' कहा। उसके प्रशंसकों ने उसे २०,००० पौण्ड की एक थैली तथा 'सम्मान की तलवार' भेंट की। प्रोफेसर सूद के मतानुसार, "प्रजा की ओर से कोई उत्तेजना पैदा किए बिना यह एक ऐसा कत्लेआम था जो ब्रिटिश शासन के लिए सदैव कलंक का टीका होगा।[1]

अमृतसर कांग्रेस, सन् १६१६

पंजाब में हुए हत्याकाण्ड से जनता का असन्तोष चरम सीमा पर था। इस बीच कांग्रेस महासमिति ने निश्चय किया कि उस वर्ष अधिवेशन अमृतसर में किया जाय। इसके स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द तथा अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू निर्वाचित हुए। मार्शल लॉ की रक्तरंजित कहानियों ने सारे देश में उत्तेजना तथा पंजाब के साथ सहानुभूति भर दी थी। सभी प्रान्तों से देशभक्त कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिए पंजाब दौड़ पड़े। अमृतसर कांग्रेस ने यह दिखा दिया कि भारत में इतनी चेतना उत्पन्न हो गयी थी कि यदि उसके एक अंग पर चोट पहुँचेगी तो दूसरा अंग भी तिलमिला उठेगा। इसी कांग्रेस में देशबन्धु चित्तरंजनदास पहली बार सम्मिलित हुए तथा अपनी अपरिमित कमाई छोड़कर वह देश सेवा की कंटीली झाड़ियों के बीच आ खड़े हुए। उनका कहना था कि इस बीच सम्राट ने प्रिन्स ऑफ वेल्स को भेजने तथा अपराधियों को मुक्त करने की जो घोषणा की थी, यह भी एक झाँसा था तथा हमें पंजाब पर किये गये अत्याचारों का मुँहतोड़ जवाब देना चाहिए। गांधीजी ने इसी अधिवेशन में कांग्रेस से निकल जाने की धमकी देकर एक प्रस्ताव स्वीकृत कराया जिसमें जनता की ओर से जो हिंसात्मक कार्यवाहियाँ हुई थीं, उसकी निन्दा की गयी थी, परन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि बहुत अधिक उत्तेजित हो जाने पर ही जनता क्रोध से पागल हो गयी थी। इसी कांग्रेस में मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट पर भी विचार हुआ। चित्तरंजनदास तथा अन्य लोग इन सुधारों को ठुकरा देना चाहते थे, परन्तु गांधीजी उनके (जो भी सुधार हुए थे) सम्बन्ध में सरकार से सहयोग करने के पक्ष में थे। चित्तरंजनदास ने प्रस्ताव पेश किया था कि "सुधार-कानुन अपूर्ण, असन्तोषजनक तथा निराशापूर्ण

1 *I. P. Sude* : Indian Constitutional Development and National Movement, p. 191.

है," परन्तु बाद में गांधीजी के कहने से निम्न शब्द और जोड़ दिये गये कि "जब तक अन्य कोई कार्यवाही नहीं की जाती," लोग सुधारों को इस प्रकार काम में नहीं लायें जिससे भारत में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हो सके। लोकमान्य तिलक ने भी इस सम्बन्ध में एक वक्तव्य कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ दिनों पहले दिया था कि कांग्रेस 'प्रतियोगी सहयोग' (Responsive Co-operation) की नीति अपनावे, अर्थात् सरकार जितना हमारी ओर आये, उतना ही हम उसकी ओर बढ़ें। स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द तथा अन्य वयोवृद्ध नेता भी समझौते में लगे रहे थे। इसी कांग्रेस में इस प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद दर्शकों तथा प्रतिनिधियों ने कई बार गगनस्पर्शी ध्वनि से 'महात्मा गांधी की जय' के नारे लगाये। इसके पश्चात् भी यह नारा अक्षुण्ण रहा है। इसी अधिवेशन में नवयुवक कार्यकर्त्ताओं ने लोकमान्य तिलक से एक सीधा प्रश्न किया, "आप कहते हैं कि अब आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं और आप कुछ विश्राम करना चाहते हैं। ऐसी दशा में हमारा मार्ग-प्रदर्शन कौन करेगा?" लोकमान्य तिलक ने उत्तर दिया, "अब गांधी राष्ट्र का मार्ग-प्रदर्शक होगा, वही भावी नेता है।"

खिलाफत-प्रश्न

खिलाफत के मामले से यद्यपि भारत का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था, फिर भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसके समावेश हो जाने का कारण यह हुआ कि जो मुसलमान नेता भारत के राष्ट्रीय जागरण से सहानुभूति प्रकट करते थे, वही खिलाफत आन्दोलन के भी सूत्रधार थे। हकीम अजमलखाँ, डॉक्टर अन्सारी, अली-बन्धु (शौकतअली तथा मोहम्मदअली), मौलाना आजाद आदि कांग्रेस में भाग लेने वाले मुसलमानों के मत में खिलाफत का प्रश्न एक धार्मिक तथा राजनीतिक प्रश्न था। प्रथम महायुद्ध में टर्की ने मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध लड़ा था। युद्ध में हार जाने पर 'सीवर्स की सन्धि' द्वारा टर्की की सीमाएँ काट-छाँट दी गयीं। थ्रेस यूनान को सौंप दिया गया तथा टर्की साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों को ब्रिटेन तथा फ्रान्स ने लीग ऑफ नेशन्स के आज्ञा-पत्रों की आड़ में परस्पर बाँट लिया। इसके अतिरिक्त मित्र-राष्ट्रों ने एक हाई-कमीशन की नियुक्ति की जो प्रत्येक दृष्टिकोण से टर्की का शासक था तथा सुल्तान के कोई अधिकार नहीं रह गये। अंग्रेज सरकार पहले दिये गये आश्वासन से कि युद्ध के बाद भी टर्की के सुल्तान की धार्मिक सत्ता छीनी नहीं जायगी पीछे हट गयी। महायुद्ध के समय भारतीय मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के हेतु इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री लॉयड जार्ज ने यह स्पष्ट घोषणा की कि टर्की को उसके एशिया-माइनर तथा थ्रेस के प्रसिद्ध समृद्धिशाली द्वीपों से वंचित न किया जायगा, परन्तु जिस समय युद्ध समाप्त हुआ, अंग्रेज सरकार ने इस घोषणा को मान्यता प्रदान नहीं की। भारतीय मुसलमानों को इस विश्वासघात से ठेस पहुँची तथा देश में खिलाफत आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। खिलाफत के समर्थकों की माँग थी कि "टर्की साम्राज्य का संधारण

किया जाय तथा ऐहिक तथा आध्यात्मिक संस्था के रूप खिलाफत का अस्तित्व बना रहे।"

गांधीजी तथा खिलाफत

गांधीजी ने प्रारम्भ से ही अपने को खिलाफत आन्दोलन के साथ रखा था। २४ नवम्बर, सन् १६१६ को उनके सभापतित्व में अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ। इसे गांधीजी ने हिंदू-मुसलानों के मध्य मैत्री बढ़ाने, तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने का एक स्वर्णिम अवसर समझा तथा हिन्दुओं से भी कहा कि मुसलमानों की सहायतार्थ खिलाफत सम्बन्धी अहिंसात्मक आन्दोलन में सम्मिलित हो जायें। प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने भी इस सम्मेलन की कार्यवाहियों को पूर्ण सहयोग दिया। गांधीजी की सम्मति से १६ जनवरी को डॉक्टर अन्सारी के नेतृत्व में एक शिष्ट-मण्डल भी वायसराय से मिला। इस शिष्ट-मंडल ने वायसराय को इस बात से अवगत कराया कि भारत के मुसलमान खिलाफत के प्रश्न पर चिन्तित थे। वायसराय का उत्तर मुसलमानों को संतोषजनक न लगा। वायसराय ने यह कहा था कि खिलाफत के सम्बन्ध में केवल इंगलैण्ड के ही हाथ में निर्णय करना तथा इसमे अन्य मित्र-राष्ट्रों की सहमति की भी जरूरत थी। इसी बीच इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री की इस घोषणा ने कि टर्की का केवल अपनी ही भूमि पर प्रभुत्व स्वीकार किया जायगा, अन्य प्रदेशों पर नहीं, मुसलमानों को उत्तेजित कर दिया। समस्त भारतवर्ष के मुसलमानों ने २६ मार्च, सन् १६२० को 'मातम का दिन' मनाया तथा उपवास तथा हड़तालें कीं।

शिष्ट मण्डलों की असफलता

मार्च, सन् १६२० में एक शिष्ट-मंडल मौलाना मोहम्मदअली के नेतृत्व में इंगलैण्ड भी गया। यद्यपि इस शिष्ट-मंडल को भारतमंत्री श्री मांटेग्यू का समर्थन प्राप्त था, फिर भी इसे अपने ध्येय में कोई सफलता न मिली। खिलाफत आन्दोलन शनैः शनैः तीव्र हो गया। सिन्ध तथा सीमाप्रान्त के कुछ मुसलमानों ने घोषणा कर दी कि सरकार की मुस्लिम-विरोधी नीति के कारण भारत अब 'दारूलहब' (शत्रु का देश) हो गया है तथा यहाँ के मुसलमानों को हिजरत कर मुस्लिम देश में चला जाना चाहिए। अनुमानतः जून से अगस्त, सन् १६२० तक लगभग १८ सहस्त्र मुसलमान भारत छोड़कर अफगानिस्तान चले गये। अफगानिस्तान की सरकार इतने हिजरतियों को आश्रय देने की स्थिति में नहीं थी। धीरे-धीरे वहाँ मुहाजरीनों (हिजरतियों) की संख्या बढ़ती गयी तथा लोग भूखे तथा सर्दी से पीड़ित होकर मरने लगे। ऐसी स्थिति में अफगानिस्तान की सरकार ने हिजरतियों का आना रोक दिया तथा जो लोग अफगानिस्तान पहुँच चुके थे, उनमें से भी बहुत-से अनेक दुःख उठाकर अत्यन्त

हिजरत

खराब अवस्था में वापस आये ।[1] ऐसा कहा जाता है कि पेशावर से काबुल तक की सड़क वृद्ध पुरुष तथा स्त्री, बच्चों आदि की लाशों से पट गयी थी जो रास्ते के कष्टों को बर्दाश्त नहीं कर पाये थे ।[1]

इसी बीच जलियाँवाला हत्याकांड सम्बन्धी हण्टर रिपोर्ट भी प्रकाशित हो चुकी थी । जैसा कहा जा चुका है, सरकार ने सम्बन्धित अधिकारियों के विरुद्ध कोई उचित कार्यवाही नहीं की । इससे गाँधीजी के हृदय को आघात लगा । उन्होंने सोचा कि जो परिस्थितियाँ थीं, उनमें सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन शुरू कर देना ही कठिनाइयों को दूर करने का एकमात्र हल था । गाँधीजी ने असहयोग की नीति क्यों अपनायी, अथवा गाँधीजी के हृदय में जो सरकार से अब तक सहयोग करते आये थे, असहयोग करने की भावना क्यों जागृत हुई, इस सम्बन्ध में उन्हीं के शब्दों को उद्धृत करना उचित होगा । गाँधीजी ने निम्न शब्द सन् १९२२ में श्री ब्रमफील्ड की अदालत में कहे ।

गाँधीजी क्यों असहयोगी बने ?

"मुझे सर्वप्रथम आघात रौलट एक्ट से लगा जिसका निर्माण जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए किया गया था । मुझे अपनी अन्तरात्मा ने प्रेरणा दी कि इसके विरुद्ध तीव्र आन्दोलन करना चाहिए । इसके बाद मेरे सम्मुख पंजाब के अत्याचार आये जो जलियाँवाला बाग के कत्लेआम से शुरू हुए तथा पेट के बल चलने के आदेशों, खुले-आम कोड़े लगाये जाने तथा इसी प्रकार के अन्य अवर्णनीय अपमान तथा तिरस्कारों के साथ समाप्त हुए । मैंने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री टर्की की स्वाधीनता तथा इस्लाम के धार्मिक स्थानों की स्वतन्त्रता के विषय में दिये गये आश्वासन कदाचित् कभी पूरे न होंगे; परन्तु मित्रों की भविष्यवाणी तथा डरावनी चेतावनी के बाद भी सन १९१९ की अमृतसर काँग्रेस में सरकार से सहयोग करने तथा मांटफोर्ड सुधारों को कार्यान्वित करने के

---

1 Maulvi Hajrat Moani, President of the Muslim League Session of 1921 at Ahmedabad Spoke : "In the meantime the Muslims embarked upon a plan of Hizrat to Afghanistan as they felt they could not stay in India under the British, after the peace that England made with Turkey. The movement was started in Sind spread to North-West Frontier. A ghastly collision took place between the emigrants and military at Kach Garhi which exasperated the people and in the month of August (1920) it was estimated that 18,000 people were on their way to Afghanistan. But very soon the Afghan authorities forbade the admission of *Muhajerins* and a self-back was given to the idea after considerable loss of life and suffering."

2 India in 1920, pp. 52-53.

लिए लड़ा, केवल इस आशा के साथ कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री भारतीय मुसलमानों से की गयी प्रतिज्ञा शीघ्र पूरी करेंगे, पंजाब के घाव भर जायेंगे, तथा सुधार चाहे वह कितने ही अपूर्ण तथा असन्तोषजनक क्यों न हों, भारत के जीवन में आशा का एक युग प्रारम्भ करेंगे, परन्तु यह आशा फलीभूत न हो सकी। खिलाफत-प्रतिज्ञा के पूरा होने की कोई आशा नहीं थी। पंजाब के अपराधों पर लीपापोती की गयी, अधिकांश अपराधियों को दण्डित भी नहीं किया तथा वह अपने पदों पर भी पूर्ववत् बने रहे। कुछ भारतीय कोष से पेंशन लेते रहे तथा कुछ को पारितोपिक तक दिया गया। मैंने यह भी अनुमान लगाया कि सुधारों ने हृदय-परिवर्तन किया, वरन् वह भारत के आर्थिक शोषण तथा दासता को स्थायी रखने के साधन तथा उपाय थे।"

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन

महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित असहयोग आन्दोलन तथा सत्याग्रह के सिद्धान्तों को कांग्रेस ने प्रारम्भ में आसानी से ग्रहण नहीं किया था। जिस समय असहयोग आन्दोलन सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, उदारवादियों ने इसका विरोध किया क्योंकि वह एकमात्र वैधानिक आन्दोलन ही उचित समझते थे। उनका मत था कि असहयोग की भावना यद्यपि उत्कट देशभक्ति पर आधारित थी, परन्तु इसके साथ ही विदेशी शासन के प्रति घृणा भी इसका मूलाधार था और यह घृणा असहयोगियों को उत्तेजना प्रदान कर सकती थी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का मत था कि असहयोग आन्दोलन एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता था, क्योंकि जनता स्वयं आपसी हिंसा तथा घृणा द्वारा आपस में ही असहयोग कर रही थी।[1] ऐनी बीसेन्ट का भी कांग्रेस पर विशेष प्रभाव था। वह असहयोग आन्दोलन का विरोध करके प्रतिक्रियावादी सिद्ध हुईं। उनका कहना था कि यह "भारतीय स्वतन्त्रता को सबसे बड़ा धक्का" "एक मूर्खतापूर्ण विरोध तथा सभ्य जीवन के विरुद्ध संघर्ष की घोषणा" था।[2] सर नरायण चन्द्रावरकर ने इन साधनों को बेकार बताया जो केवल अराजकता फैलाते तथा सर शंकरन नैय्यर ने भी गांधीजी के साधनों को एक हवाई स्वप्न बताया। तिलक का विश्वास था कि ऐसा संतपन साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक व्यर्थ ढकोसला था।

असहयोग के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन सितम्बर, सन् १९२० में बुलाया गया। लाला लाजपतराय इसके सभापति थे। इसके पूर्व ही देश में जनमत जाग्रत करने के लिए गांधीजी तथा अली-बन्धुओं ने देश के बड़े भाग का दौरा किया। इस समय महात्माजी तथा अली-बन्धुओं की

1 Nation in Making, p. 302.

2 Annie Besant the Builder of India, pp. 109-26.
She regarded non-co-operation as the greatest setback to India's freedom, "an insane proposition," and "a declaration of war against society and civilized life."

जो एकता प्रारम्भ हुई, वह "आगामी कई वर्षों तक राजनीति का एक मुहाविरा बनी रही। वह तब तक जारी रही, जब तक अली-भाइयों का इस्लाम-प्रेम उनके देशप्रेम पर हावी नहीं हो गया।[1] कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन को एक दृष्टि से हम अमृतसर कांग्रेस का ही उत्तरार्द्ध कह सकते हैं क्योंकि अमृतसर में कांग्रेस की नीतियों पर गांधीजी की जो हल्की छाप लगी थी, वह कलकत्ता में बहुत गहरी हो गयी।

विशेष कलकत्ता अधिवेशन, १९२०

महात्मा गांधी ने असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव स्वयं उपस्थित किया था। यह प्रस्ताव बहुत लम्बा था। पंडित मदनमोहन मालवीय, विपिनचन्द्र पाल, चित्तरंजनदास, ऐनी बीसेन्ट, जिन्ना आदि तथा तिलकवादियों ने जिनका नेतृत्व खापड़े कर रहे थे (क्योंकि तिलक का देहावसान १ अगस्त, सन् १९२२ को हो गया था) प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया। विचारकों का ऐसा मत है कि यदि तिलक जीवित होते तो वह इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं करते, क्योंकि जब गांधीजी ने असहयोग-नीति का पूरा विवरण प्रकाशित किया था, तिलक के क्रान्तिकारी हृदय को बड़ा आनन्द आया था। यद्यपि वह गांधीजी से एक बात में, अर्थात् स्वराज्य के साथ खिलाफत को शामिल करने के विरुद्ध थे, तथा उन्होंने गांधीजी को आश्वासन भी दिया था कि वह यथाशक्ति असहयोग आन्दोलन बढ़ाने में सहायता देंगे। पण्डित मोतीलाल नेहरू तथा अली-बन्धुओं ने प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया। प्रस्ताव प्रस्तुत करते समय गांधीजी ने कहा, "अंग्रेजी सरकार शैतान है जिसके साथ सहयोग सम्भव नहीं। बिना स्वराज्य के पंजाब तथा खिलाफत की भूलों की पुनरावृत्ति को नहीं रोका जा सकता।" इसके लिए उन्होंने कांग्रेस से "प्रगतिशील अहिंसात्मक असहयोग" की नीति अपनाने को कहा। उन्होंने यह भी कहा, "अंग्रेज खूनी हाथों से एक भी भेंट स्वीकार करने के पूर्व उनको पश्चाताप करना पड़ेगा।" अब मांटफोर्ड-सुधारों के प्रति भी उनका दृष्टिकोण बदल चुका था। उन्होंने कहा, "स्वराज्य व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा प्राप्त करना है या बिना उसके यह जानते हुए कि अंग्रेजी सरकार को अपनी भूलों पर कोई दुःख नहीं है, हम यह कैसे विश्वास कर सकते हैं कि नवीन व्यवस्थापिका-सभाएँ हमारे स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त करेंगीं।" स्वराज्य की परिभाषा से उनका तात्पर्य ऐसे राष्ट्र से था जिसके द्वारा "हम अपना स्वतन्त्र अस्तित्व अंग्रेजों से स्वतन्त्र अथवा अंग्रेजी राष्ट्रमंडल में समानता के आधार पर बनाये रह सकते हैं।[2] लाला लाजपतराय, जो इस कांग्रेस के सभापति थे तथा अभी हाल में अमेरिका से लौटे थे, भी अपने आपको पूरी तरह पूर्ण असहयोग के पक्ष में न ला सके। गांधीजी के कार्यक्रम की कुछ बातों, जैसे वकीलों से वकालत छुड़वाना या विद्यार्थियों

---

1 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० २२६।

2 "It means a state, such as that we can maintain our separate existence without the presence of the English. If it is to be a partnership, it must be a partnership of will." —*Gandhiji.*

से विद्यालय छुड़वाना आदि से वह सहमत नही थे। देशवन्धु चित्तरंजनदास कौंसिल के बहिष्कार के विरुद्ध थे। उन्होंने तथा विपिनचन्द्र पाल ने कुछ संशोधन भी प्रस्तुत किये परन्तु गांधीजी ने उन्हें स्वीकार न किया। मतदान में प्रस्ताव के पक्ष में २७१८, तथा विरोध में १८५५ मत पड़े तथा प्रस्ताव के पास होने के सम्बन्ध में चित्तरंजनदास ने यह शंका प्रकट की कि खिलाफतवादियों ने पंडाल में घुसकर गांधी-वादियों का बहुमत बढ़ा दिया था।

गांधीजी का प्रस्ताव

गांधीजी के प्रस्ताव को जो सारे असहयोग आन्दोलन तथा सत्याग्रह आन्दोलन की नींव बना, यहाँ अविकल रूप में उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

"क्योंकि खिलाफत के प्रश्न पर भारत और ब्रिटेन दोनों देशों की सरकारें भारत के मुसलमानों प्रति अपना फर्ज अदा करने में पूर्णतया असफल रही हैं, तथा ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने जान बूझकर मुसलमानों को दिये हुए वायदों को तोड़ा है, और क्योंकि प्रत्येक गैर मुस्लिम भारतीय का यह फर्ज है कि अपने मुसलमान भाई पर आयी हुई धार्मिक विपत्ति को दूर करने में प्रत्येक उचित उपाय से सहायता करे।

"और क्योंकि अप्रैल, सन् १९१९ की घटनाओं के मामले में उक्त दोनों सरकारों ने पंजाब की निरपराध जनता की रक्षा करने में और उन अफसरों को सजा देने में, जो पंजाब की जनता के प्रति असभ्य व धर्मविरुद्ध सैनिक-आचरण करने के दोषी ठहरे हैं, घोर लापरवाही की है, और क्योंकि उन दोनों सरकारों ने सर माइकेल ओ' डायर को जो अफसरों द्वारा किये गए बहुत-से अपराधों के लिए स्वयं प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी था, और जिससे जनता के दुःखों की सरासर अवहेलना की थी, बरी कर दिया है, और क्योंकि इंगलैण्ड की लॉर्ड-सभा में हुए वाद-विवाद से भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का अभाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया है और पंजाब में सुसंगठित ढंग पर आतंक तथा त्रास फैलाया गया है, और क्योंकि वायसराय की सबसे ताजी घोषणा इस बात का प्रमाण है कि खिलाफत व पंजाब के मामलों पर तनिक भी पछतावे का भाव नहीं है, अतः कांग्रेस की राय है कि जब तक उक्त दोनों भूलों का सुधार नहीं किया जाता, राष्ट्रीय सम्मान की मर्यादा को कायम रखने के लिए तथा भविष्य में इस प्रकार की भूलों को दुहराने से बचाने के लिए उपयुक्त उपाय केवल स्वराज्य की स्थापना ही है। इस कांग्रेस की यह राय है कि जब तक उक्त भूलों का सुधार न हो जाय और स्वराज्य की स्थापना न हो जाय, भारतवासियों के लिए इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है कि वे गांधीजी द्वारा संचालित क्रमिक अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार करें और अपनाएँ :

"और क्योंकि इसका आरम्भ उन लोगों को ही करना चहिए, जिन्होंने अब तक लोकमत को वनाया है और उनका प्रतिनिधित्व किया है और क्योंकि

सरकार अपनी शक्तियों का संगठन लोगों को दी गयी उपाधियों तथा सम्मान से, सरकार द्वारा नियन्त्रित स्कूलों, तथा अपनी अदालतों और कौंसिलों द्वारा करती है, और क्योंकि अदालतों को चलाने में यह वांछनीय है कि कम से कम खतरा रहे और अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए केवल आवश्यक त्याग कराया जाय, यह कांग्रेस आग्रहपूर्वक परामर्श देती है कि—

"(क) सरकारी नौकरियों तथा अवैतनिक सरकारी पदों को छोड़ दिया जाय, और म्यूनिसिपल बोर्ड तथा अन्य स्थानीय सभाओं में जो लोग नामजद किये हों, वे त्यागपत्र दे दें।"

"(ख) सरकारी दरबारों, स्वागत-समारोहों, तथा सरकारी अफसरों द्वारा किये गये या उनके सम्मान में किये गये अन्य सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी उत्सवों में भाग लेने से इन्कार किया जाये।"

"(ग) सरकार से सहायता प्राप्त करने वाले व सरकार द्वारा नियन्त्रित स्कूल पथा कालेजों के छात्रों को धीरे-धीरे निकाल लिया जाय। उनके स्थान में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय स्कूल तथा कालेजों की स्थापना की जाय।

"(घ) ब्रिटिश अदालतों का वकीलों तथा मुवक्किलों द्वारा धीरे-धीरे बहिष्कार हो, और उनकी मदद से खानगी झगड़ों को तय करने के लिए पंचायती अदालतों की स्थापना हो।"

"(च) फौजी, क्लर्की तथा मजदूरी करने वाले लोग मेसोपोटामिया में नौकरी करने के लिए भरती होने से इन्कार करें।"

"(छ) नयी कौंसिलों के लिए खड़े हुए उम्मीदवार अपने नाम उम्मीदवारी से वापस ले लें और यदि कांग्रेस की सलाह के बावजूद कोई उम्मीदवार चुनाव के लिए खड़ा हो तो मतदाता उसे वोट देने से इन्कार कर दें।"

"(ज) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय।"

"और क्योंकि असहयोग को अनुशासन और आत्मत्याग के साधन के रूप में पेश किया गया है, जिसके बिना कोई राष्ट्र सच्ची उन्नति नहीं कर सकता, और क्योंकि असहयोग के सबसे पहले दौर में ही हर स्त्री या पुरुष तथा बालक को इस प्रकार के अनुशासन और आत्मत्याग का अवसर मिलना चाहिए, कांग्रेस यह सलाह देती है कि एक बड़े पैमाने पर स्वदेशी वस्त्रों को अपनाया जाय, और क्योंकि भारतीय श्रम तथा प्रबन्ध से चलने वाली भारत की वर्तमान मिलें देश की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त सूत और कपड़ा तैयार नहीं कर सकतीं, और न ही इस बात की कोई सम्भावना है कि एक लम्बे समय तक कर सकें, कांग्रेस यह सलाह देती है कि प्रत्येक घर में हाथ की कताई को फिर से तथा देश के उन असंख्य जुलाहों द्वारा, जिन्होंने पुराने तथा सम्मानित पेशे को उत्साह न मिलने के कारण छोड़ दिया था, हाथ की बुनाई को पुनः जीवित करके बड़े पैमाने पर वस्त्रों की उत्पत्ति को तुरन्त ही बढ़ाया जाय।"

कांग्रेस का नियमित अधिवेशन दिसम्वर, सन् १६२० में नागपुर में हुआ। इसमें अनुमानतः सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या २०,००० थी।

नागपुर अधिवेशन, सन् १६२०

इसमें विशेष कलकत्ता अधिवेशन में स्वीकृत गांधीजी का असहयोग प्रस्ताव पुनः विचारार्थ उपस्थित किया गया तथा भारी बहुमत से स्वीकृत हो गया। इस प्रकार इन्द्रजी के शब्दों मे "असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव, जो कलकत्ते के अधिवेशन से पूर्व केवल एक हाथ भर का इशारा था, अधिवेशन के पश्चात् उठती हुई आँधी के रूप में परिणत होकर नागपुर के अधिवेशन के समय देशव्यापी झंझावात का रूप धारण कर रहा था।"[1]

असहयोग योजना का विरोध नागपुर कांग्रेस में भी कई प्रभावशाली व्यक्तियों ने किया, जिनमें अधिवेशन के अध्यक्ष श्री विजय राघवाचार्य जी थे। उन्होंने विरोध करते समय अत्यन्त नियम से काम लिया। जब वह विरोध करने के लिए उठते थे तो सभापति के आसन पर किसी दूसरे व्यक्ति को बैठा देते थे। चित्तरंजनदास ने भी विरोध किया परन्तु बाद में वह अपने दल के साथ गांधीजी से आ मिले तथा सहयोग देने का वचन दिया। विपिनचन्द्र पाल तथा ऐनी बीसेन्ट कांग्रेस छोड़कर उदारवादियों से मिल मिल गये। श्रीमती ऐनी बीसेन्ट का तो मत था कि असहयोग का सिद्धान्त तो एक मूर्खतापूर्ण योजना थी जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करेगी और जो समाज तथा सभ्य जीवन के विरुद्ध एक प्रकार जिहाद थी।[2] इसी अधिवेशन में यह निश्चय किया गया कि "शान्तिमय व उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त किया जाय तथा इस प्रकार कांग्रेस के उस ध्येय में हो गया जो पहले उदारवादियों ने अपनाया था, अर्थात् ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाये रखना तथा वैधानिक साधनों से अपनी मांगें पूरी कराना। अब कांग्रेस ने अपना ध्येय स्वराज्य घोषित किया, चाहे वह ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर हो, चाहे उसके बिना'। गांधीजी द्वारा प्रस्तुत कांग्रेस-विधान से इस संशोधन ने मालवीय तथा जिन्ना जैसे उदारवादियों तथा उग्रवादियों, दोनों को सन्तुष्ट किया। इसी अधिवेशन में तिलक का स्मृति-दिवस मनाने के लिए एक करोड़ रुपये की राशि एकत्रित करने का भी निश्चिय किया।

कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन कांग्रेस तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अब कांग्रेस नये सिद्धान्त अपना चुकी थी तथा एक अनुशासित संगठन बन गयी थी जिसके पास समुचित धन भी था तथा जिसे पूँजीपतियों का भी सहयोग प्राप्त हो गया था। बड़े-बड़े कानूनी दिग्गजों की असहयोग प्रस्ताव सम्बन्धी कानूनी बहस एक पतले-दुबले तपस्वी के आगे मात खा पट्टाभि सीतारमैया का कहना है कि इस कांग्रेस अधिवेशन से "निर्बल, क्रोध तथा

1 भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास, पृ० २३०।

2 *Annie Besant* : The Builders of India, pp. 109-26.

आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओं का स्थान उत्तरदायित्व के एक नवीन भाव तथा स्वावलम्बन की एक नवीन भावना ने ले लिया। जनता ने अनुभव किया कि यदि उसे स्वतन्त्र होना है तो उसे इसके लिए स्वयं प्रयास करना पड़ेगा।[1] श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि गांधीजी का प्रभाव कलकत्ता तथा नागपुर अधिवेशन पर इतना अधिक पड़ा कि कांग्रेस के दृष्टिकोण में ही आमूल परिवर्तन आ गया। जहाँ विलायती कपड़ों का अधिक प्राधान्य रहता था, वहाँ अब केवल खादी दीखने लगी। अब कांग्रेस में निम्न मध्यम श्रेणी के लोग अधिक भाग लेने लगे तथा हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग बढ़ गया तथा इस प्रकार कांग्रेस अधिवेशनों में एक नया जीवन तथा नया उत्साह दीखने लगा।[2]

असहयोग आन्दोलन की प्रगति

सन् १९२१ का वर्ष भारतीय जनता के लिए असहयोग का सन्देश लेकर अवतीर्ण हुआ। नागपुर कांग्रेस के उपरान्त गांधीजी सारे देश में दौरा लगाकर जनता को जागृत कर चुके थे तथा असहयोग का कार्यक्रम उन्हें रुचिकर लगा था। इस आन्दोलन का सूत्रपात गांधीजी ने अपने 'कैसरे हिन्द' के पदक को वापिस देकर शुरू किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी सर' की उपाधि वापिस कर दी. सेठ जमनालाल बजाज मध्यप्रदेश की सरकार द्वारा प्रतिष्ठा-प्राप्त भारतीयों में अग्रणी समझे जाते थे। उन्होंने 'रायबहादुर' की उपाधि तथा 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेसी' छोड़ दी तथा अपने जीवन-काल तक वह गांधीजी के परमप्रिय शिष्य बने रहे। इसी प्रदेश के सेठ गोविन्ददास का भी त्याग उच्चकोटि का था। असहयोग प्रस्ताव की दूसरी धारा में देशवासियों से कहा गया था कि वह सरकारी दरबारों तथा अन्य उत्सवों में भाग लेने से मना कर दें। इस प्रस्ताव का भी पालन स्थान-स्थान पर किया जाने लगा। सरकारी स्कूलों तथा कालेजों का बहिष्कार किया गया। देश के अनेक स्कूल व कॉलेज छात्रों से खाली हो गये। वे अनेक सरकारी स्कूलों को छोड़कर राष्ट्रीय विद्यालयों में भर्ती हो गये जो पहले से विद्यमान थे अथवा नये खुल रहे थे। प्रारम्भ में लाला लाजपतराय स्कूल कॉलेजों के बहिष्कार के विरुद्ध थे पर बाद में पंजाब में राष्ट्रीय शिक्षा का झण्डा उन्होंने खड़ा किया। उनके नेतृत्व में राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना हुई। बंगाल में चित्तरंजनदास के नेतृत्व में छात्रों में अनुपम जागृति उत्पन्न करदी गयी। आसाम-

---

1 "The Nagpur Congress really marked a new era in recent Indian History. The old feelings of impotent rage and importunate requests gave place to a new sense of responsibility and a spirit of self-reliance. People realised that if they would be free, they must strike the blow themselves. It was a definite call to them to cross the Rubicon and burn their boats. They cheer-fully agreed to the course and began to march forward."

—*Pattabhi Sitaramayya :* op cit., p. 353

2 *Jawahar Lal Nehru* : Autobiography, pp. 66-67.

बंगाल की रेल-हड़ताल तथा स्टीमर-हड़ताल ने तथा मिदनापुर में कर न देने का निश्चय भी सफल रहा। फरवरी मास में गांधीजी के आशीर्वाद से नेशनल कॉलेज की स्थापना की गयी। पटना में विहार विद्यापीठ, अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ, पूना में तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, अलीगढ़ में मुस्लिम विद्यापीठ तथा काशी में सेठ शिवप्रसाद गुप्त के सौजन्य से काशी विद्यापीठ की स्थापना हुई। इन राष्ट्रीय विद्यालयों के स्नातकों ने देशसेवा में प्रशंसनीय कार्य किया है।

अदालतों का बहिष्कार

अदालतों की बहिष्कार सम्बन्धी धारा को मान्यता प्रदान करने के लिए सैकड़ों लोगों ने वकालत छोड़ दी। इनमें से अनेक तो देश के उच्च न्यायालयों के मूर्धन्य माने जाते थे। उत्तर प्रदेश में मोतीलाल नेहरू तथा उनके सुपुत्र जवाहरलालजी, बंगाल में देशबन्धु चित्तरंजनदास, पंजाब में लाला लाजपतराय, गुजरात में विठ्ठलभाई तथा वल्लभभाई पटेल, पूना में नरसिंह चिंतामणि केलकर, विहार में डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, दिल्ली में आसफअली, मध्यप्रान्त में डाक्टर मुंजे तथा अभ्यंकर, तथा मद्रास में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, टी० प्रकाशम् तथा सत्यमूर्ति आदि ने अपनी वकालत छोड़ दी। इस प्रकार अनेक लोगों ने अपनी जीविका का साधन छोड़कर देशसेवा का व्रत धारण किया।

विदेशी कपड़ों का बहिष्कार

विदेशी कपड़ों के बहिष्कार में भी लोगों ने उत्साह दिखाया। देश में स्थान-स्थान पर विदेशी कपड़ों की होली जलायी गयी। प्रयाग में मोतीलाल नेहरू ने सहस्रों रुपये के विदेशी वस्त्र फूँक दिये। लोगों ने स्वदेशी को अपनाया तथा हजारों की संख्या में लोगों ने चरखा कातना शुरू कर दिया। इसी वर्ष के मध्य में ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी का एक विशेष अधिवेशन बेजबाड़ा में हुआ। जैसे-जैसे असहयोग का वेग बढ़ता जा रहा था, वैसे-वैसे कांग्रेस के प्रस्तावों का तापक्रम भी ऊँचा होता गया। इस अधिवेशन में तिलक-स्वराज्य कोष का रुपया जमा करने तथा एक करोड़ सदस्य भर्ती करने का निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त देश में पंचायतों का संगठन करने तथा मद्य-निषेध आन्दोलन भी शुरू कर दिया गया। इन नये निश्चयों से देश में नवीन उत्साह फैल गया। सरकार भी शनैः शनैः चौकन्नी होने लगी।

असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत नवीन कौंसिलों का भी बहिष्कार किया गया। चित्तरंजनदास ने जनता से प्रार्थना की कि वह न तो कौंसिलों के लिए उम्मीदवार बनें तथा जो व्यक्ति निर्वाचन में खड़े हों, उन्हें मत न दिया जाय। ऐसा अनुमान है कि दो-तिहाई लोगों ने मतदान के अधिकार का प्रयोग ही नहीं किया तथा अनेक स्थानों पर मत-पेटियाँ खाली पड़ी रहीं। मुसलमानों ने भी कांग्रेस का साथ दिया। मोहम्मदअली के नेतृत्व में खिलाफत-परिषद् ने ब्रिटिश सरकार की

सेवा करना 'हराम' घोषित किया तथा एक फतवे के द्वारा मुसलमानों से माँग की कि वह सेना व पुलिस की नौकरी छोड़ दें। कूपलैण्ड का मत है कि इस प्रकार कांग्रेस असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश भारत की सभी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं में देशभक्त भाग लेना बन्द कर दें तथा इस प्रकार सरकार की मशीनरी को ठप्प कर दें।[1] फरवरी, सन् १६२१ में कांग्रेस ने सफलतापूर्वक ड्यूक ऑफ कनॉट का, जो भारत में नवीन कौंसिलों का उद्घाटन करने आये थे, बहिष्कार किया। देश में अनेक स्थानों पर हड़तालों द्वारा उनका स्वागत किया गया। सरकार देश में शान्ति चाहती थी, तथा इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने भरसक यत्न भी किया, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। इसी वर्ष जाड़े में प्रिंस ऑफ वेल्स आने वाले थे। सरकार इस अवसर पर उत्सुक थी कि जब तक वह भारत में रहें, शान्ति रहे तथा उनका स्वागत किया जावे। असहयोग आन्दोलन के प्रभाव को कम करने के लिए सरकार ने स्थान-स्थान पर 'अमन सभाएँ' कायम कीं, परन्तु असहयोग आन्दोलन ने जनता के हृदय में आशावाद, स्वावलम्बन, उत्तेजना तथा निर्भीकता का अपूर्व संचार पैदा कर दिया था तथा सरकार की समझ में नहीं आ रहा था कि शान्ति कैसे स्थापित हो ? सरकार ने 'सेडिशस मीटिंग एक्ट' का खुलकर प्रयोग किया तथा आन्दोलन के नेताओं को पकड़ना शुरू कर दिया। देशबन्धु चित्तरंजनदास मैमनसिंह की एक सभा में भाषण देने जा रहे थे, उन्हें रोक दिया गया। बाबू राजेन्द्रप्रसाद तथा श्री मजरूलहक आरा जाने से, याकूब हुसेन को कलकत्ता जाने से तथा लाला लाजपतराय को पेशावर जाने से रोक दिया गया।

ड्यूक ऑफ कनॉट का बहिष्कार

इन्हीं दिनों में लॉर्ड रीडिंग भारत के वायसराय होकर आये। वह शान्तिप्रिय समझे जाते थे तथा प्रिन्स ऑफ वेल्स के आगमन पर शान्ति के उत्सुक थे तथा इसके लिए बड़ी से बड़ी कीमत देने को तैयार थे। पण्डित मदनमोहन मालवीय को बीच में डालकर सुलह की बातचीत शुरू हुई। लॉर्ड रीडिंग ने गांधीजी को विश्वास दिलाया कि वह असहयोग आन्दोलन के विरुद्ध किसी भी दमनकारी कार्यवाही का आश्रय नहीं लेंगे तथा अली-बन्धुओं के भाषणों की, जिनमें हिंसा की बू आती थी, निन्दा की। गांधीजी ने अली-बन्धुओं को प्रेरणा दी कि वह सरकार को आश्वासन दें कि वह अपने भाषणों द्वारा हिंसात्मक भावों का प्रचार नहीं करेंगे। पट्टाभि सीतारमैय्या का मत है कि यह "माफी प्रकरण" राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में "युगान्तरकारी घटना" है। गोरे लोग सरकार की इस विजय से बड़े प्रसन्न हुए। माफी से लार्ड रीडिंग को तसल्ली हो गयी तथा उन्होंने अली-बन्धुओं पर मुकद्दमा

गांधी-रीडिंग समझौता

1 *Coupland* : India, A Restatement, pp. 118-19.

चलाने का विचार छोड़ दिया, परन्तु सरकार की यह नीति अधिक काल तक न चली। अनेक प्रमुख कार्यकर्त्ताओं का विचार था कि गांधीजी को सरलता से अंग्रेजी सरकार के वायदों पर विश्वास नहीं करना चाहिए था। सरकार ने, यद्यपि अभी गांधी-रीडिंग समझौते की स्याही सूखने नहीं पायी थी कि दमनकारी नीति पुनः अपनायी। सभी प्रान्तों में तथा विशेषतया संयुक्त प्रान्त में सरकार ने निःसंकोच राजदण्ड का प्रयोग किया। अनेक कार्यकर्त्ता बिना किसी मुकद्दमे के जेल में बन्द कर दिये गये। लगभग एक लाख लोगों को विभिन्न अभियोग लगाकर जेल भेज दिया गया था। कई स्थानों पर पुलिस ने लाठी व गोलियाँ चलाकर सरकार का दबदबा बनाये रखने का प्रयत्न किया।

धीरे-धीरे परिस्थिति बिगड़ने लगी। देश के प्रत्येक कोने से सत्याग्रह आरम्भ करने की मांग की गयी। अब तक कांग्रेस ने सत्याग्रह की मांग को उचित समझते हुए भी शुरू करने की आज्ञा नहीं दी थी क्योंकि यह विचार किया जाता था कि सत्याग्रह तब तक शुरू न करना चाहिए जब तक समस्त देश विदेशी वस्त्रों को छोड़कर स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग न करने लगे। जुलाई, सन् १६२१ में गांधीजी ने विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आन्दोलन तीव्र कर दिया तथा जुलाई में सरकार की नीति को ध्यान में रखते हुए निश्चय किया कि प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार किया जाय। सरकार इस निश्चय से क्रोधित हो गयी। १४ सितम्बर को मौलाना मोहम्मदअली मद्रास जा रहे थे, परन्तु सरकार ने वाल्टेयर स्टेशन पर, कुछ दिन पहले करांची में खिलाफत कांफ्रेंस में दिये गये भाषण के आधार पर, उन्हें गिरफ्तार कर लिया। भाषण में उन्होंने सेना में भर्ती होने तथा सरकार की सेवा करने को 'हराम' घोषित किया था। कुछ दिनों उपरान्त मौलाना शौकतअली भी बम्बई में गिरफ्तार कर लिये गये तथा दोनों को दो-दो वर्ष की सजा दी गयी। गांधीजी के मन पर अली-बन्धुओं की गिरफ्तारी ने आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। उन्हें अब विश्वास हो गया था कि सरकार ने दमन का सहारा लेना शुरू कर दिया था। महात्माजी ने त्रिचनापल्ली की एक सभा में शौकतअली के द्वारा दिये गये भाषण के कथित आपत्तिजनक अंशों को पूर्णरूप से दोहराया तथा जनता से कहा कि वह भी उन्हें दोहरा कर सरकार द्वारा दी गयी चुनौती का जवाब दे। नवम्बर मास में दिल्ली में कांग्रेस की कार्यसमिति ने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को अपनी जिम्मेदारी पर सविनय-कानून भंग करने की आज्ञा दे दी। कांग्रेस ने असहयोग के कार्यक्रम में प्रिंस ऑफ वेल्स के बहिष्कार को भी शामिल कर लिया था। १७ नवम्बर, सन् १६२१ को प्रिंस ऑफ वेल्स भारत पधारे। बम्बई में उनके आगमन पर हड़ताल रखी गयी तथा कुछ बहिष्कारियों तथा स्वागतियों के मध्य संघर्ष भी हुए जिसमें पुलिस की गोली से ५३ व्यक्ति मारे गये तथा सैकड़ों घायल हुए। सरकार का कहना था कि जनता के उपद्रव के कारण गोली चलानी पड़ी। इस घटना पर

प्रिंस ऑफ वेल्स का आगमन

महात्मागांधी ने प्रायश्चितरूप ५ दिन का उपवास रखा। इस उपवास का फल अच्छा ही हुआ क्योंकि इसके बाद जहाँ कहीं भी प्रिंस के विरोध में प्रदर्शन किये गये, उनमें सरकार तथा जनता, दोनों की ओर से हिंसा का प्रयोग नहीं हुआ। देश में आन्दोलन तेजी पकड़ने लगा तथा सत्याग्रही स्वयंसेवकों की भर्ती में बाढ़ आ गयी। सरकार ने 'क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेंट एक्ट' द्वारा स्वयंसेवकों की भर्ती को गैर कानूनी घोषित कर दिया। जब फिर भी भर्ती बन्द नहीं हुई तो मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजनदास, जवाहरलाल नेहरू आदि को जेल में बन्द कर दिया। सरकार ने जितना ही बहिष्कार-आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न किया, वह उतना ही उभड़ा। यह देखकर अंग्रेजों ने एक नया पहलू बदला तथा सुलह का डोरा फेंका। इस बार डोरा फेंकने वालों के सन्देशवाहक थे, पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा मि० मोहम्मदअली जिन्ना। समझौते की बातचीत कलकत्ते में शुरू हुई। इस समय प्रिंस ऑफ वेल्स तथा वायसराय दोनों वहीं थे। दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में मालवीयजी के नेतृत्व में एक शिष्ट-मण्डल ने वायसराय से भेंट की। चित्तरंजनदास अलीपुर जेल में थे, वहीं उनसे टेलीफोन पर बात हुई। गांधीजी से भी परामर्श किया गया। सरकार इस बात पर तैयार हो गयी कि वह सत्याग्रहियों को छोड़ देगी तथा मार्च में एक गोल-मेज सम्मेलन बुलाया जाय। केवल सत्याग्रहियों को छोड़ने की बात से गांधीजी राजी नहीं हुए। यदि इस बात को मान लिया जाता तो अली-बन्धु, लाला लाजपतराय, डा० किचलू आदि जेल में सड़ते। परिणामतया समझौते की बातचीत भंग हो गयी तथा प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत का बहिष्कार सम्बन्धी आन्दोलन दिन पर दिन जोर से चलने लगा।

समझौता-बातचीत

दिसम्बर सन् १९२१ में अहमदाबाद में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। इन्द्रजी का कहना है, 'सन् १९२१ के पूरे वर्ष में जो विचार-क्रान्ति हुई थी, अहमदाबाद में उसका पूर्णरूप से प्रदर्शन हुआ।" इस अधिवेशन के अध्यक्ष देशबन्धु चित्तरंजनदास निर्वाचित हुए, परन्तु क्योंकि वह जेल में थे, इस कारण अधिवेशन की अध्यक्षता हकीम अजमलखाँ ने की। देशबन्धु का भाषण सरोजिनी नायडू ने पढ़ा। इस अधिवेशन में गांधीजी ने एक लम्बा प्रस्ताव पेश किया जिसे पढ़ने मात्र में आधा घण्टा लग गया। यह प्रस्ताव ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक अभियोग-पत्र ही था। यहाँ हम उसका वह भाग उद्धृत करते हैं, जो भावी कार्य-नीति से सम्बन्धित था—

अहमदाबाद अधिवेशन सन् १९२१

"………इसलिए यह कांग्रेस विश्वास करती है कि जहाँ कहीं आवश्यकता हो, कांग्रेस के अन्य सब कार्य स्थगित रखे जाँय तथा सब लोगों से अनुरोध करती है, वे शांति के साथ, बिना किसी धूमधाम के, स्वयं सेवकों के सदस्य हो जायें।"

इस प्रकार व्यक्तिगत तथा समष्टिगत, दोनों रूपों में सविनय अवज्ञा

आन्दोलन का सूत्रपात किया गया। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा गाँधीजी इस आन्दोलन के सर्वाधिकारी नियुक्त हुए तथा महासमिति ने अपने सब अधिकार उन्हें ही सौंप दिए तथा मौका पड़ने पर अपना उत्तराधिकारी नियत करने का भी अधिकार प्रदान किया।

अहमदाबाद अधिवेशन में स्वीकृत इस तीर के समान नोकीले प्रस्ताव का प्रभाव समस्त देश पर हुआ। कांग्रेस ने संघर्ष तीव्रतर करने का निश्चय किया। डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद का कहना है कि जब से भारत का सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ स्थापित हुआ, इसके इतिहास में जनता का क्षोभ तथा उत्साह इस सीमा तक पहले कभी नहीं पहुंचा था। इस दीर्घकाल में देश को अपने इतने अधिक सुपुत्रों की स्नेहपूर्ण तथा अडिग सेवा पहले कभी नहीं प्राप्त हुई थी। जनता का अपनी योग्यता तथा अपनी कठिनाइयां स्वयं दूर कर लेने की क्षमता से इतना प्रबल विश्वास पहले कभी नहीं रहा था।"

सर्वदल सम्मेलन

जैसा कहा जा चुका है कि अहमदाबाद अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव ने नर्म नेताओं तथा सरकार को विचलित कर दिया। उन्होंने संकटपूर्ण स्थिति का निवारण करने के लिए बम्बई में एक सर्वदल सम्मेलन का आयोजन किया। यह स्पष्ट ही है कि इस सम्मेलन को केवल सरकार का समर्थन प्राप्त था। इसमें लगभग ३०० व्यक्तियों ने अपनी व्यक्तिगत हैसियत से भाग लिया। इस सम्मेलन के सभापति सर शंकरन नैय्यर थे। गाँधीजी ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, "अब भी सरकार का दमनचक्र पूरे वेग से चल रहा है, इस कारण मैं कांग्रेस का प्रतिनिधि बनकर सम्मेलन में भाग नहीं ले सकता।" सम्मेलन के संचालकों में भी परस्पर फूट पड़ गयी। जो प्रस्ताव स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया, उससे सर शंकरन नैय्यर सहमत न हुए तथा वह सभापति का आसन छोड़कर चले गये। इस सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा सरकार को दमन बन्द करने, तथा कांग्रेस को सत्याग्रह स्थगित करने का अनुरोध किया। कांग्रेस ने इस प्रस्ताव का आदर किया तथा एक मास तक अपना आन्दोलन स्थगित रखा, परन्तु सरकार ने अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया।

बारदोली सत्याग्रह

१ फरवरी, सन् १९२२ को गाँधीजी ने वायसराय को अन्तिम चेतावनी-सूचक एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए सात दिन का समय दिया तथा कहा कि अन्यथा बारदोली में सत्याग्रह शुरू कर दिया जायगा। गाँधीजी ने अपने पत्र में लिखा था कि यदि सरकार उन सब कैदियों को जो अहिंसात्मक कार्यों के लिए जेल गये थे मुक्त कर देगी तो "मैं निसंकोच भाव से सलाह दूंगा कि अन्य किसी पर हिंसात्मक दबाव न डालते

1 The History of Congress, p. 396.

हुए देश अपनी माँगों की पूर्ति के लिए और भी ठोस लोकमत तैयार करे।" इस बीच बारदोली में सत्याग्रह का मोर्चा जमाया जा चुका था। सरकार ने महात्मा गाँधी के पत्र के उत्तर में कहा—सरकार परिस्थिति को काबू में रखने के लिए जिस प्रकार के साधनों को उचित समझेगी, काम में लावेगी। इस बीच ५ फरवरी को एक ऐसी घटना हो गई जिसने राजनीतिक परिस्थिति में एकाएक परिवर्तन कर दिया। ५ फरवरी को गोरखपुर के समीप चौरीचौरा में कांग्रेस की ओर से एक जुलूस निकाला गया। पुलिस ने जुलूस रोकने का यत्न किया तथा फलस्वरूप जनता तथा पुलिस में मुठभेड़ हो गयी। जनता ने उत्तेजित होकर एक थानेदार तथा २१ सिपाहियों को एक थाने में बन्द करके बाहर से आग लगा दी जिससे वह सब जल मरे।

चौरीचौरा काण्ड

असहयोग की समाप्ति

गांधीजी इससे पूर्व ही एक ऐसी घटना मद्रास में एक मास पूर्व होने से खिन्न थे। ऐसी घटना पुनः होते देख उन्हें बहुत आघात पहुंचा तथा उन्होंने १२ फरवरी को बारदोली में कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक आमंत्रित की जिसमें चौरीचौरा घटना के आधार पर सामूहिक सत्याग्रह की योजना स्थगित कर दी तथा उन्होंने रचनात्मक कार्यों पर बल दिया। इस कार्यक्रम में एक करोड़ सदस्य भरती करना, चरखे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, मादक-द्रव्य-निषेध तथा पंचायतों का संगठन करना आदि शामिल था।[1]

कांग्रेस-कार्यसमिति द्वारा आन्दोलन के आकस्मिक स्थगन से देश में अनुकूल तथा प्रतिकूल, दोनों प्रकार की आलोचना हुई। जो व्यक्ति गाँधीजी की कार्यनीति तथा उनके द्वारा दी गई सत्याग्रह की व्याख्या से सहमत थे, उन्होंने उसे चौराचौरी घटना का आवश्यक परिणाम समझा, परन्तु उन लोगों ने, जो व्यवहार में गाँधीजी से सहमत होते हुए भी उनके सिद्धान्तों को पूर्णरूप से नहीं मानते थे, आंदोलन स्थगन के निश्चय को असामयिक तथा घबड़ाहट का परिणाम कहा। पण्डित मोतीलाल नेहरू तथा लाला लाजपतराय ने जो जेल में थे, वहीं से लम्बे-लम्बे पत्र लिखे। उन्होंने किसी एक स्थान के पाप के कारण गांधीजी द्वारा समस्त देश को दण्ड देने के विचार को गलत कहा तथा उन्हें आड़े-हाथों लिया।[2] सुभाषचन्द्र बोस का कहना है कि आन्दोलन स्थगित करने के निश्चय से चित्तरंजनदास को भी, जो उनके साथ अलीपुर जेल में थे, क्लेश पहुँचा। उन्होंने लिखा है, "उस समय जब जनता का उत्साह 'बुदबुदांक' पर पहुंच रहा था, मैदान छोड़ देने का आदेश दे देना राष्ट्रीय संकट के समान था।[3] उनका कहना था कि किसी एक व्यक्ति के हाथ में सभी

---

1 वही, पृ० ३६८।

2 वही, पृ० ३६६-४००।

3 *Subhash Chand Bose* : The Indian Struggle, p. 108.

अधिकार तथा उत्तरदायित्व सौंप देना गलत था तथा गांधीजी का एक वर्ष के भीतर असहयोग द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने का नारा बिल्कुल बचकाना था। इसके अतिरिक्त भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में खिलाफत प्रश्न शामिल कर देना बड़ा ही गलत था।[1] श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है—"जब हमने ऐसे समय, जब हम सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, आन्दोलन के स्थगित होने का समाचार पाया तो हमको भी क्रोध आया।"[2] २४ फरवरी को दिल्ली में होने वाली विषय-समिति की मीटिंग में डाक्टर मुंजे तथा जे० एम० सेनगुप्त ने गांधीजी के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी पेश किया।[3] मुसलमानों ने भी, जो राजनीति में गांधीजी के सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते थे, आन्दोलन को स्थगित करने की कटु आलोचना की। मि० पोलक का कहना है कि इसके बाद वह कांग्रेस से खिचते चले गये तथा एक बार फिर "उस विश्वास तथा बन्धुत्व की प्रतिष्ठा करना असम्भव था जिसने एक बार मित्रता के इस अल्पकाल में दोनों जातियों को एकता के सूत्र में ग्रसित कर दिया था[4]। गांधीजी ने आन्दोलन स्थगित करने के निश्चय केवल चौरीचौरा-हत्याकांड के कारण ही नहीं किया था। १६ फरवरी को श्री जवाहरलाल नेहरू को, जो जेल में थे, गांधीजी ने एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने स्वीकार किया कि यद्यपि उनके निश्चय से सबको ठेस पहुंची थी, परन्तु हिंसा की सड़ी हुई बदबू के फैलने पर उस पर ध्यान न देना भी नितान्त गलत था। श्री जवाहरलाल नेहरू का कहना है कि यद्यपि बाहर से ऐसा प्रतीत होता है कि आन्दोलन चौरीचौरा-कांड के कारण स्थगित किया गया, परन्तु वास्तविकता यह है कि आन्दोलन अन्दर से छिन्न-भिन्न हो रहा था। संगठन में शिथिलता दिखने लगी थी तथा नेताओं के अभाव में, जो जेल में बन्द थे, जनता ने संघर्ष करना नहीं सीखा था। जनता संघर्ष के सिद्धान्तों तथा उद्देश्य को भी ठीक से नहीं समझ पायी थी तथा सरकार की दमनकारी व पाशविक नीति से जनता में निराशा तथा भय उत्पन्न हो रहा था।[5] सन् १९२१ के अन्त में मलावार में मोपला विद्रोह भी हो गया। बर्बर मोपले 'खिलाफत राज्य' की स्थापना करना चाहते थे तथा इस उद्देश्य से उन्होंने न केवल अंग्रेजों को ही मारा वरन् पड़ोसी हिन्दुओं की भी हत्या कर डाली। इससे भी यह डर था कि वर्ग-द्वेष की भावना बढ़ न जाए तथा ऐसी परिस्थिति में भी आन्दोलन स्थगित करना ही उचित था। १३ फरवरी को महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए। उन पर 'यंग इंडिया'

गांधीजी की गिरफ्तारी तथा कारावास दण्ड

1 वही पृ० १०४-१०५।
2 *Jawahar Lal Nehru* : Autobiography, p. 81.
3 *Tendulkar* : Mahatma, Vol, II, p. 121-122.
4 *H. S. Polak* :Mahatma Gandhi, p. 153.
5 *Jawahar Lal Nehru* : Autobiography, pp. 85-86.

में प्रकाशित लेखों के आधार पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया। उनके साथ ही पत्र के प्रकाशक शंकरलाल बैंकर पर भी मुकद्दमा चलाया गया दोनों ही ने यह स्वीकार कर लिया कि वह लेख राजद्रोहात्मक थे। गांधीजी ने सरकारी वकील द्वारा लगाए गए आरोपों को स्वीकार करते हुए एक विस्तृत बयान दिया जिसका देश के राजीतिक इतिहास में बड़ा महत्व है। गांधीजी ने अपने बयान में न केवल अपने राजनीतिक जीवन का ही विश्लेषण किया, वरन् सत्याग्रह के सिद्धान्त की विशद् विवेचना भी की। बयान के अन्त में गांधीजी ने कहा—

"यदि आप लोग (जज तथा एसेसर) हृदय से समझते हैं कि जिस कानून का प्रयोग करने के लिए आपसे कहा गया है, वह बुरा है तथा मैं निर्दोष हूं, तो आप लोग अपने-अपने पदों से त्याग-पत्र दे दें तथा बुराई से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लें, परन्तु यदि आपको विश्वास हो कि जिस कानून का प्रयोग करने में आप सहायता दे रहे हैं, वह वास्तव में इस देश की जनता के लिए मंगलकारी है तथा मेरा आचरण लोगों के अहित के लिए है तो मुझे कड़े से कड़ा दण्ड दें।"

जज ने दूसरी बात को उचित समझते हुए तिलक का दृष्टान्त देते हुए, जिन्हें ऐसे ही अपराध में ६ वर्ष का दण्ड दिया गया था, गांधीजी को भी राजद्रोह के अपराध मे ६ वर्ष का कारावास दण्ड दिया, परन्तु ५ फरवरी, सन् १६२४ को बीमारी के कारण गांधीजी जेल से मुक्त कर दिये गये।

असहयोग आन्दोलन का मूल्यांकन

असहयोग आन्दोलन जिन परिस्थितियों में समाप्त करना पड़ा, उसका दोष अनेक राष्ट्रवादियों ने गांजीजी के सिर पर मढ़ा है। इस सम्बन्ध में कई विचारकों के विचार ऊपर दिये जा चुके हैं। संक्षेप में, जिस प्रकार के निषेधात्मक अथवा अहिंसात्मक आन्दोलन का प्रतिपादन गांधीजी ने किया, वह एक प्रकार से अव्यावहारिक था तथा इसी कारण गांधीजी की आशा कि इसके द्वारा स्वराज्य एक वर्ष के भीतर प्राप्त हो जायगा, फलीभूत होने से रह गयी। सबसे मुख्य त्रुटि तो राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ खिलाफत का प्रश्न सम्बद्ध करना था। कांग्रेस व गांधीजी ने इसे केवल इस कारण राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित किया कि मुसलमानों का सहयोग प्राप्त हो जाय, परन्तु बाद की घटनाओं ने हिन्दू तथा मुसलमानों में तनाव बढ़ाया। मि० पोलक का भी कहना है, "खिलाफत-आन्दोलन का आधार ही गलत था। इधर तो भारतीय मुसलमान इस्लामी 'थियोक्रेसी' की पुरानी दुनिया की रूमानी परम्पराएँ पुनर्जीवित कर रहे थे, दूसरी ओर टर्की, जिनके हित के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि वह यह काम कर रहे हैं, इनका मजाक उड़ाते थे तथा इसे मध्यकालीन भौंडापन कहते थे।" कमालपाशा के नेतृत्व में सन् १६२२ में टर्की एक धर्मनिरपेक्ष गणराज्य बन गया तथा खिलाफत का अन्त कर दिया गया व खलीफा को निर्वासित कर दिया गया। इस प्रकार भारत के खिलाफत आन्दोलन की आड़

में मुसलमान असाधारण रूप से संगठित हो गये थे, तथा जैसा श्री जवाहरलाल नेहरू का कहना है—उनमें हिम्मत तथा शक्ति दोनों में असाधारण वृद्धि हुई थी, परन्तु राजनीति संघर्ष में उन्हें हिंसा प्रदर्शित करने का विशेष अवसर नहीं मिला था तथा वह दब गयी थी, पर इस हिंसा को निकालने के लिए कोई मार्ग होना चाहिए था तथा सम्भवतया आगामी वर्षों में इसी कारण साम्प्रदायिक गड़बड़ी ने जोर पकड़ा।

इस आन्दोलन ने देश में नवीन उत्साह का संचार किया तथा लोगों को स्वराज्य प्राप्त करने के लिए अपने ही पैरों पर खड़ा किया। यह वास्तव में भारत का पहला जन-आन्दोलन था। इससे पूर्व कांग्रेस केवल मध्यवर्गीय लोगों की संस्था थी परन्तु अब इसमें सभी वर्गों के लोगों ने भाग लिया। इंगलैण्ड के टोरी राजनीतिज्ञों विशेषतया लॉर्ड बर्किनहेड ने कहा कि आन्दोलन से ब्रिटेन की कोई हानि न हुई और न ही उसकी 'मोटी खाल' पर ही कोई प्रभाव हुआ। उन्होंने यह भी कहा कि भविष्य में भी अंग्रेज अपने मार्ग में किसी रोड़े को सहन नहीं करेंगे। गांधीजी इन अपमान भरे शब्दों से विचलित नहीं हुए क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि "कोई भी साम्राज्य शक्ति रूपी मदिरा के नशे में उन्मत्त रहने तथा कमजोर जातियों के शोषण से अधिक दिनों जीवित नहीं रहा है।[1] उन्होंने वायसराय को भी एक पत्र में लिखा था कि यदि खिलाफत तथा पंजाब जैसी घटना किसी यूरोपीय देश में हुई होती तो हिंसक विद्रोह हो जाता पर क्योंकि भारत बहुत कमजोर है तथा यहाँ की आधी जनता ऐसा करने के लिए तत्पर नहीं, अतः मैंने असहयोग की नीति अपनायी।"[2] कूपलैण्ड के निम्न शब्द असहयोग आन्दोलन की महत्ता को भली प्रकार स्पष्ट करते हैं, "उन्होंने (गांधीजी) वह काम किया जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने उसे स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया, सरकार के ऊपर वैधानिक दबाव डाल कर नहीं, वाद-विवाद तथा समझौते के द्वारा नहीं, अपितु शक्ति के द्वारा तथा शक्ति भी अहिंसा की। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी ही नहीं, जनप्रिय भी बनाया। अभी वह नगरों के बुद्धिजीवी-वर्ग तक ही सीमित था, अब वह ग्रामों की जनता तक पहुँच गया।" यह गांधीजी के आत्मबल का ही प्रभाव था कि भारत की निःशस्त्र जनता ब्रिटिश शासन के लाठी के प्रहार सहने को तत्पर हो हो गयी। गांधीजी तथा कांग्रेस की यह आश्चर्यजनक सफलता थी।

———

1 *Tendulkar* : Mahatama, Vol. II, pp. 120-21.
2 *Ibid*, p. 2

८

स्वराज्य दल की स्थापना व उसकी नीति

असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने तथा उसके उपरान्त गांधीजी के जेल में चले जाने का एक गम्भीर परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के नेताओं में विचारों की दो धाराएँ जो गांधीजी के नेतृत्व के प्रभाव में एक हो गयी थीं, पुनः अलग-अलग रूपों में प्रकट होने लगीं। उस समय देश के सामने कोई राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था तथा गांधीजी के कारावास के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में इतनी शक्ति नहीं रह गयी कि वह जनता का ध्यान आकृष्ट कर सके। यह भी विचार किया जाता था कि केवल रचनात्मक कार्यक्रमों से स्वराज्य प्राप्त करना असम्भव ही था। सरकार भी दमन की नीति का आश्रय ले रही थी तथा इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज ने सिविल सर्विस की प्रशंसा करके सरकारी कर्मचारियों के दमन-कार्यों को प्रोत्साहन दिया।[1] हिन्दू व मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना अब फिर जोर पकड़ने लगी थी तथा मुसलमानों में यह भावना जागृत हो रही थी कि उन्होंने व्यर्थ में खिलाफत के प्रश्न पर तूफान खड़ा कर राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दू स्वराज्य के लिए संघर्ष किया था। मिस्टर जिन्ना तथा सर अब्दुर्रहीम ने अब साम्प्रदायिक नीति अपना ली थी। स्वामी श्रद्धानन्द के शुद्धि-आन्दोलन तथा हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों ने देश में

असहयोग आन्दोलन की असफलता और स्वराज्य दल की स्थापना

1 "What I want specially to say is this, that whatever their (Indian's) success as Parliamentarians or as Administrators is, I can see no period when they can dispense with the guidance and assistance of the small nucleus of the British Civil Service. They are the Steel Frame of the whole structure. I do not care what do you build on it, if you take the steel frame out, the whole structure will collapse."

—*Kerala Putra* : The Working of Dyarchy in India, p. 38,

भयावह स्थिति पैदा कर दी थी। इन सब बातों से कुछ कांग्रेसी, जो पूरे तौर पर असहयोग में विश्वास नहीं रखते थे, कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तन की माँग करने लगे देशबन्धु चित्तरंजनदास व मोतीलाल नेहरू आदि इनमें प्रमुख थे। इनका यह कहना था कि अब कौंसिलों में प्रवेश करके उत्तरदायी शासन-व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्न किये जायें। देशबन्धु चित्तरंजनदास ने तो अपनी कारावास-अवधि में ही स्वराज्य दल की स्थापना की एक योजना बना ली थी तथा जुलाई, सन् १६२२ में जेल से मुक्त होने पर उन्होंने कौंसिल-प्रवेश करने का प्रचार किया। कांग्रेस की असहयोग समिति (सिविल डिसओविडियेन्स कमेटी) के भी आधे सदस्यों (मोतीलाल नेहरू, हकीम अजमलखाँ, तथा विट्ठलभाई पटेल ने भी यह स्वीकार कर लिया था कि असहयोग आन्दोलन विफल हो गया था तथा नीति में परिवर्तन करने के हेतु उन्होंने निम्न सुझाव दिये :

(१) देश की सामान्य जनता असहयोग आन्दोलन को निकट भविष्य में अपनाने को तत्पर न थी।

(२) सत्याग्रही पंजाब तथा खिलाफत सम्बन्धी सरकार की भूलों को सुधारने के हेतु तुरन्त स्वराज्य की माँग के आधार पर निर्वाचनों में भाग लें।

(३) यदि वह कौंसिलों में बहुमत प्राप्त करलें तो सरकार के प्रत्येक कार्य का विरोध करें तथा केवल उपर्युक्त बतायी गयी त्रुटियों के सुधार के लिए तथा स्वराज्य की माँग के लिए वहाँ प्रस्ताव प्रस्तुत करें तथा यदि कौंसिलों में उन्हें बहुमत न प्राप्त हो तो वह कौंसिलों की किसी भी कार्यवाही में भाग न लें।

कांग्रेस असहयोग समिति के सदस्य चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, डॉ० अन्सारी तथा कस्तूरी रंगा अय्यर पूर्णरूप से गांधीजी की नीतियों के समर्थक थे तथा वह कौंसिल-प्रवेश के विरोधी थे। इसी समय कलकत्ता में नवम्बर, सन् १६२२ में कांग्रेस की एक बैठक हुई तथा ऐसा प्रतीत होने लगा कि 'सूरत-विच्छेद' की तरह पुनः कहीं कांग्रेस में विच्छेद न हो जाय। इसमें कौंसिल-प्रवेश पर खूब बहस हुई तथा देशबन्धु का प्रस्ताव, जिसका मोतीलालजी समर्थन कर रहे थे, ६६ प्रतिशत प्रतिनिधियों ने अस्वीकृत कर दिया। इसमें कौंसिल-प्रवेश का विरोध करने वाले दल का नेतृत्व चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य कर रहे थे, परन्तु इस बीच मुहर्रम के दंगे होगये तथा संसदवाद की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक हुई। सन् १६२२ में गया के होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के सभापति चित्तरंजनदास निर्वाचित हुए। उन्होंने अपने भाषण में, जो

गया कांग्रेस, १६२२

ऊँचे दर्जे की तर्क-शैली का बढ़िया नमूना था, कौंसिलों की अंग्रेजी सरकार के गढ़ से उपमा देते हुए बताया कि कौंसिलों की कुर्सियों पर कब्जा करके सरकार के गढ़ को तोड़ना अत्यन्त आवश्यक है, तथा व्यवस्थापिका-सभाओं में घुसकर विरोध द्वारा सरकार से असहयोग करना असहयोग का ही एक अंग है। इसका विरोध श्री राजगोपालाचार्य ने किया।

सरदार पटेल ने भी कहा, "यदि देश को स्वतंत्र कराना है तो सर्वप्रथम कौंसिल-प्रवेश की चर्चा को कूड़ा-करकट की तरह आंगन के बाहर फेंक देना होगा।" डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने अल्प विश्वास भरी वाणी से कौंसिल-प्रवेश का विरोध किया। कौंसिल-प्रवेश के प्रस्ताव के पक्ष में ८६० तथा विपक्ष में १७४८ मत आये तथा इस प्रकार इस अधिवेशन में परिवर्तन नहीं चाहने वालों ने परिवर्तन-वादियों को हरा दिया। चित्तरंजनदास ने सभापति-पद से तथा मोतीलाल नेहरू ने महामन्त्री-पद से तत्काल त्यागपत्र दे दिया। चित्तरंजनदास ने यह घोषणा की यद्यपि कांग्रेस का बहुमत इस वक्त उनके साथ नहीं था परन्तु वह शीघ्र ही उनके कार्यक्रम को अपनायेगा। सन् १६२३ में पुनः हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए तथा देश के राजनैतिक आकाश पर काले बादल मँडराने लगे। अब यह स्पष्ट हो चुका था कि असहयोग आन्दोलन के सिद्धान्तों पर कार्य करना असम्भव होगा।

देशबन्धु तथा मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य दल की स्थापना १ जनवरी, सन् १६२३ को की तथा जनता को स्वराज्य दल के सिद्धान्तों की ओर आकर्षित करने के लिए देशव्यापी दौरा प्रारम्भ कर दिया। स्थान-स्थान पर उन्होंने जनता से प्रार्थना की कि वे कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम का समर्थन करें। चित्तरंजनदास ने दक्षिण में एक स्थान पर भाषण देते हुए कहा, "क्या मैं विद्रोही हूँ ? मैं कांग्रेस के विरुद्ध या भारत की किसी संस्था के विरुद्ध विद्रोह करूँगा, यदि मैं अनुभव करूँगा कि स्वराज्य-प्राप्ति हेतु ऐसा करना अनिवार्य है। मैं स्वराज्य चाहता हूँ, स्वतन्त्रता चाहता हूँ। मैं अपने जीवन में कभी भी कायर नहीं रहा। मैं अपना जीवन बलिदान करने हेतु तत्पर हूँ......... मेरी परीक्षा लो, तथा मैं यह सिद्ध करूँगा कि क्या मैं आपके स्तर तक नहीं पहुँच पाऊँगा।"

देश की राजनीतिक परिस्थिति को देखते हुए सितम्बर, सन् १६२३ में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद थे। इस अधिवेशन में कौंसिल-प्रवेश के समर्थक बिना किसी विशेष कठिनाई के यह प्रस्ताव स्वीकृत कराने में सफल हो गये कि कांग्रेस के सदस्य आगामी नवम्बर मास में होने वाले निर्वाचनों में भाग ले सकते हैं। यह प्रस्ताव इस प्रकार था, "जिन कांग्रेसियों को कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक अथवा अन्य किसी प्रकार की आपत्ति न हो, उन्हें अगले निर्वाचन मे खड़े होने तथा अपनी राय देने के अधिकार का उपयोग करने की स्वतन्त्रता है। सन् १६२३ में कोकनाडा में होने वाले नियमित अधिवेशन में जो मौलाना मोहम्मदअली की अध्यक्षता में हुआ, कौंसिल-प्रवेश सम्बन्धी प्रस्ताव का अनुसमर्थन किया गया तथा घोषणा की गयी कि असहयोग आन्दोलन कौंसिलों के भीतर भी चालू रखा जा सकता है। इस प्रकार सन् १६२४ के प्रारम्भ में कांग्रेस की कार्यशक्ति दो भागों में बँट गयी—रचनात्मक-कार्य तथा कौंसिल-क्षेत्र।

कांग्रेस द्वारा कौंसिल-प्रवेश की अनुमति

सन् १९२४ में सरकार ने गांधीजी को कारागार से मुक्त कर दिया तथा समझौते की इच्छा प्रकट की। सन् १९२३ में हुए निर्वाचनों में स्वराज्यवादियों ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की थी। सन् १९२४ में गांधीजी बेलगांव अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उन्हें स्वराज्य दल का कार्यक्रम पसन्द नहीं था, परन्तु वह इस स्थिति में भी नहीं थे कि असहयोग आन्दोलन को पुनः चला सकें, क्योंकि न तो जनता तथा न ही नेता इसके लिए तैयार थे। उन्होंने यह भी देखा कि कांग्रेस के अन्दर स्वराज्यवादियों की संख्या बढ़ती जा रही थी, अतः उन्होने कौंसिल-प्रवेश पर अपनी 'मौन' अनुमति दे दी। उन्होंने यह भी बताया कि किस प्रकार कांग्रेस ने इतनी शक्ति अर्जित की थी तथा उसके झण्डे के नीचे चलाया गया बहिष्कार-आन्दोलन कितना सफल हुआ था। उन्होने विदेशी माल के बहिष्कार, हाथ से कतायी-बुनायी तथा अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों पर बल दिया। स्वराज्यवादियों ने गांधीजी के कार्यक्रम के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की तथा इस प्रकार दोनों विचारधाराओं के मध्य समझौता हो गया तथा सूरत-विच्छेद की पुनरावृति होने से बच गयी।

गांधीजी और स्वराज्यवादियों में समझौता

स्वराज्यवादियों के उद्देश्य तथा सिद्धान्त

स्वराज्यवादियों का भी अन्तिम उद्देश्य वही था, जो गांधीवादियों का था, जैसे स्वराज्य-प्राप्ति अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्तर। उन्हें असहयोग आन्दोलन की सफलता से प्रेरणा मिली थी तथा वह यह समझने लगे थे कि यदि वह कौंसिलों में प्रवेश करें तो अपनी असहयोग-नीति से सरकार का अधिक सफलतापूर्वक विरोध कर सकेंगे तथा सन् १९१९ के अपर्याप्त संवैधानिक सुधारों को भंग करने में सफल होंगे, परन्तु गाँधीवादियों तथा स्वराज्यवादियों में साधनों के सम्बन्ध में मतभेद था। स्वराज्यवादी 'नागरिक अवज्ञा' में विश्वास नहीं करते थे तथा उनकी धारणा थी कि केवल कतायी-बुनायी तथा हस्तकला-कौशल पर आधारित आर्थिक-व्यवस्था, विदेशी सभ्यता का चाहे वह कितनी भी बुरी हो, मुकाबला नहीं कर सकती। न ही अहिंसा द्वारा, जैसा वह समझते थे कि शत्रु का हृदय-परिवर्तन हो जायगा तथा वह स्वयं ही स्वेच्छा से यह देश छोड़कर चले जायेंगे। उनका यह विश्वास था कि यदि कोई क्रान्तिकारी संघर्ष सम्भव नहीं था तो संसदों में जाकर सरकार के कार्यों का जोरदार विरोध किया जाय। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना था कि राष्ट्र में नवीन उत्साह तथा राजनीतिक चेतना जाग्रत करने के लिए भी निर्वाचनों में भाग लेना आवश्यक था। वह इसलिए भी चुनाव लड़ना चाहते थे कि अवांछनीय व्यक्तियों को व्यवस्थापिका में प्रवेश करने का अवसर ही न मिले। सुधारों के अन्तर्गत संगठित कौंसिलों को वह ठीक नहीं समझते थे तथा वह कौंसिलों में प्रवेश कर उन्हें अराष्ट्रीय कार्यों का गढ़ बनने से रोकना चाहते थे। सन् १९२५ में देशबन्धु चित्तरंजनदास ने स्वराज्य दल का उद्देश्य निम्न प्रकार बताया :

"हम ऐसी राजनीतिक व्यवस्था को समाप्त कर देने के इच्छुक हैं, जिसने न तो कोई अच्छाई की है, न कोई अच्छाई करेगी। हम इसे समाप्त करना चाहते हैं क्योंकि हम एक ऐसी व्यवस्था लागू करना चाहते हैं जो सफलतापूर्वक चल सके तथा जनता के हित का साधन बने।[1]

स्वराज्यवादियों का व्यवस्थापिकाओं में प्रवेश करने का एकमात्र उद्देश्य सरकारी नीतियों में 'एकरूप', अविच्छिन्न तथा सतत् अड़ंगा लगाना था। वह 'अड़ंगा की नीति' द्वारा मांटफोर्ड-सुधारों को अव्यवहारिक कर देना चाहते थे। कौंसिल-प्रवेश द्वारा 'अड़ंगा' लगाने का अर्थ मोतीलाल नेहरू तथा देशबन्धु चितरंजनदास के मत में निम्न प्रकार थे :

"हमने अपने कार्यक्रम में 'अड़ंगा' शब्द का जो व्यवहार किया है, वह ब्रिटिश संसद के इतिहास के वैधानिक अर्थ में नहीं। सुधार-कानूनों के अन्तर्गत संगठित असेम्बली तथा प्रान्तीय कौंसिलों में, जो मातहत तथा सीमित अधिकारों वाली हैं, में उस दृष्टि में अड़ंगा डालना सम्भव नहीं है।.....हमारा तो ध्येय नौकरशाही द्वारा स्वराज्य के मार्ग में डाली गई रुकावटों का मुकाबला करना है तथा इसी मुकाबले से हमारा तात्पर्य है, जब हम 'अड़ंगा' शब्द का प्रयोग करते हैं।"[2]

स्वराज्यवादियों का दावा था कि कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम असहयोग के

---

1 "It has been said that our cry is destroy, destroy......Why do we want to destroy? What do we want to get rid of? We want to destroy and get rid of a system which does no good and can do no good. We want to destroy it, because we want to construct a system which can be worked with success and will enable us to do good to the masses. Can you lay your hands on your breast and say that you do anything for the masses under this system."—*P. C. Ray* : Life and Time of C. B. Das, p. 201.

2 "We desire to make it clear that we have not used in our programme the word 'obstruction', in the technical sense of English Parliamentary History. Obstruction in that sense is impossible in subordinale but limited legislative bodies such as the legislative assembly and provincial legislatures under the Reforms Act undoubtedly are......we may state, however that our *position is really not so much of obstruction in the* parliamentary sense as that of resistence to the obstruction placed in our path to Swaraj by the bureaucratic government. It is this resistance we meant to imply when we used the word obstruction."—*Moti Lal Nehru* : The Voice of Freedom, p. 520.

कार्यक्रम

सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल था ।[1] उनका ध्येय था कि कौंसिलों में प्रवेश करके, नौकरशाही के गढ़ में असहयोग की पताका ऊँची रखी जाय। वह कौंसिलों में प्रवेश करने के उपरान्त निम्न कार्य करना चाहते थे :

(१) बजटों को रद्द करना, जब तक सरकार प्रचलित व्यवस्था में परिवर्तन न करे। उनका कहना था कि लगभग १६१ करोड़ के बजट में (रेलवे छोड़कर) केवल १६ करोड़ ही मत-सापेक्ष्य था। इस प्रकार जनता का अपने धन पर अधिकार नहीं था।

(२) उन सब कानूनी प्रस्तावों को अस्वीकार करना जिसके द्वारा नौकरशाही अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चाहती थी। ऐसे प्रस्तावों के सम्बन्ध में उनका कहना था कि देखने में वह चाहे अच्छे दिखते हों, परन्तु दीर्घकाल में उनसे जनता का कोई लाभ नहीं हो सकता था तथा थोड़ा-सा अस्थाई त्याग करना अच्छा था न कि नौकरशाही की स्थिति दृढ़ करके उसकी शक्ति में सदा के लिए वृद्धि कर देना।

(३) उन सब प्रस्तावों, बिलों आदि को प्रस्तुत करना जो स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के विकास के लिए आवश्यक हों। इस सम्बन्ध में उन्होंने गांधीजी के सुझावों को मान्यता प्रदान करने की घोषणा की, अर्थात् इस बात का प्रयत्न करना कि सब हाथ के बुने हुए कपड़े का प्रयोग करें, विदेशी कपड़ों पर निषेधात्मक कर लगाया जाय, शराब आदि का निषेध हो तथा कार्यान्वित किया जाय।

(४) एक निर्दिष्ट आर्थिक नीति का पालन करना जिससे भारत का आर्थिक शोषण न हो सके।[2]

कौंसिलों के बाहर स्वराज्यवादियों का कार्यक्रम गांधीजी की नीतियों से सहयोग करना था। वह रचनात्मक कार्यों में सहयोग करने के पक्षपाती थे क्योंकि उनका यह विश्वास था कि कौंसिल के बाहर भी जनता उनके प्रति सद्भावना रखे।[3] वह कांग्रेस के साथ सहयोग करके श्रमिक-संघों तथा कृषक-संघों

---

1 "Council-entry is and can be thoroughly consistent with the principle of non-cooperation as we understand the principle to be." (Ibid., p. 529.)

2 *Ibid., pp.* 520-522.

3 "We are decidedly of opinion that our council work must necessary loose much of its strength without the backing of the outside constructive work, for it is not inside but outside the legislatures that must look for the sanction without which the effective carrying out of constructive policy is impossible. Indeed in the matter of constructive work, the mutual support of both, inside and outside activity, must in our opinion give strength to the very sanction upon which we rely." (*Ibid.*, p. 522)

द्वारा देश भर के किसानों तथा श्रमिकों को पूँजीपतियों के शोषण से बचाना चाहते थे।[1] स्वराज्यवादियों ने यह भी घोषणा कर दी थी कि यदि वह देखेंगे कि नौकरशाही को सही रास्ते पर लाने में वह असमर्थ रहे हैं तथा सत्याग्रह ही एकमात्र उपाय है तो वह कौंसिलों में अपने पद छोड़ देंगे तथा महात्मा गांधी के नेतृत्व में किसी सोच-विचार के कांग्रेस की पताका के नीचे एकत्रित होकर सत्याग्रह को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे। अपने कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए स्वराज्यवादियों का उद्देश्य उन सभी पदों पर अधिकार पाना था जिन पर कौंसिल के सदस्य होने के नाते वह अधिकार प्राप्त करने में सफल हो सकते थे तथा सरकार के कार्यों में अड़ंगा लगा सकते थे।

भारत के कुछ अन्य नेताओं को स्वराज्यवादियों के 'अड़गा' कार्यक्रम की उपयोगिता तथा व्यावहारिकता में सन्देह था। विपिनचन्द्र पाल के मत में ऐसी नीति निरर्थक ही थी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी कहा कि यह बेकार तथा अर्थशून्य है। इससे सरकार तो कमजोर होगी नहीं वरन् लगातार अड़ंगा लगाने से नौकरशाही अपनी स्थिति पूर्ववत् दृढ़ करेगी। अड़ंगाकारी अल्प काल के लिए तो अपने को निरंकुश शासन का विरोध करने वाला शूरवीर समझ लें, परन्तु उनके बाद जनता को उनके कार्यों का फल भुगतना पड़ेगा। बिना किसी दल के जिसका दृष्टिकोण न हो, कौंसिलों को तोड़ने का कार्यक्रम सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता।[2] स्वराज्यवादियों को यद्यपि व्यवस्थापिका-सभाओं में अड़ंगा लगाने में सफलता मिली परन्तु इस कार्य द्वारा अपने लक्ष्य को अर्थात् स्वराज्य को प्राप्त न कर सके। डॉक्टर जकारिया ने अपनी पुस्तक 'रिनेसेन्ट इण्डिया' में स्वराज्य दल की अड़ंगा-नीति का बड़ा ही उचित चित्र खींचा है। उनका कहना है, "यह बात माननी पड़ेगी कि स्वराज्य दल का विकास वास्तविकता से दूर था।....उनकी वास्तविक स्थिति उन व्यक्तियों के समान थी जो अपनी रोटी खाना भी चाहते थे तथा बचाना भी। वह

---

1 *Ibid.*, p.523,

2 "If these obstructionist tactics inside the councils are a prelude to revolutionary methods outside, by inflaming the minds of the masses, they are intelligent and perhaps logical, otherwise they are futile and meaningless. They will not wreck the Government, but may deprive it of its popular element, and a return to old bureaucratic system be the outcome of persistence in *this policy. The obstructionists* may temporarily pose as heroes who have defied an autocratic Government, but they will leave behind them for the countrymen, the bitter harvest of their sinister activities......without a *party with a revolutionary* outlook the tactics of breaking the councils can hardly be carried on successfully." (A Nation In Making, p, 381.)

उग्रवाद की चर्चा करना आवश्यक समझते थे परन्तु उसी के साथ संसदवाद में भी उनकी पूर्ण आस्था थी। परिणामतया जिस पथ का उन्होंने अनुसरण किया, उसमें सहयोग का अर्थ था—असहयोग।"[1]

स्वराज्य दल का व्यवस्थापिका-सभाओं में कार्य

सन् १९२३ के निर्वाचनों में स्वराज्यवादियों ने आशातीत सफलता प्राप्त की। बंगाल व मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल की सफलता देख कर लोग चकित रह गये तथा केन्द्र में भी उन्होंने १४४ में से ४५ स्थानों पर कब्जा कर लिया।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा—पण्डित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य दल ने स्वतन्त्र उम्मीदवारों तथा राष्ट्रवादियों का सहयोग प्राप्त करके कामचलाऊ बहुमत बना लिया। ८ फरवरी, सन् १९२४ को पण्डित मोतीलाल नेहरू ने सन् १९१९ के शासन-विधान में परिवर्तन करने के अभिप्राय से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो सरकार के विरोध के बावजूद भी पारित हो गया। यह प्रस्ताव इस प्रकार था :

"यह परिषद् सपरिषद् गवर्नर-जनरल से आग्रह करती है कि भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के उद्देश्य से भारतीय शासन अधिनियम में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करने हेतु संशोधन किये जावें तथा इसके लिए (अ) भारत के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया जाय जो देश के महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों के अधिकारों तथा हितों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए भारत के लिए एक संविधान निर्मित करे; तथा (ब) वर्तमान व्यवस्थापिका-सभा को भंग करके नवनिर्मित व्यवस्थापिका-सभा के सम्मुख यह योजना प्रस्तुत की जाय, तथा जिसे बाद में ब्रिटिश संसद को कानून बनाने के लिए प्रेषित किया जाय।" भारत सरकार के गृह सदस्य मि० मुडीमैन की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की जो सन् १९१९ के अधिनियम की क्रियान्विति के सम्बन्ध में जाँच कर संशोधन की योजना प्रस्तुत करे। इस कमेटी के अनेक प्रसिद्ध भारतीय, उदाहरणार्थ, सर तेजबहादुर सप्रू, मि० जिन्ना, सर शिवास्वामी अय्यर, डॉ० आर० पी० परांजपे आदि भी सदस्य थे। सरकार ने पंडित मोतीलाल नेहरू ने भी सदस्य बनने का अनुरोध किया, परन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया क्योंकि उनका विचार था कि जिन बातों पर कमेटी को जाँच करनी थी, उनका विस्तार अत्यधिक सीमित था तथा जो भी व्यक्ति कमेटी की

---

1 'They were in the position of people who wanted to keep their cake and eat it at the same time. They considered it necessary......to talk of extremism, and yet were rosolved to essay parliamentarianism. As a consequence the swarajists were driven to a course of quibbling as to when co-operation was non-cooperation.' —*H. C. E. Zacharias* : Renascent India.

सदस्यता स्वीकार करता, उसके लिए यह समझा जा सकता था कि वह अधिनियम के उद्देश्यों तथा नीतियों से पूर्णतया सहमत था। स्वराज्यवादियों ने हमेशा ही वायसरायद्वारा दी गयी पार्टियों तथा समारोहों का भी बहिष्कार कर यह प्रदर्शित किया कि वह सरकार की नीतियों से सन्तुष्ट नहीं थे। सितम्बर अधिवेशन में पंडित मोतीलाल नेहरू ने 'ली कमीशन' की सिफारिशों के सम्बन्ध में प्रस्तुत सरकारी प्रस्ताव में एक संशोधन भी प्रस्तुत किया। वाइकाउन्ट ली की अध्यक्षता में सरकार ने जून, सन् १९२३ में सार्वजनिक सेवाओं के संगठन तथा सामान्य परिस्थितियों के सम्बन्ध में एक रॉयल कमीशन नियुक्त किया था जिसकी रिपोर्ट २७ मई, सन् १९२४ को प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में सर्वसम्मति से सिफारिश की गयी थी कि हस्तांतरित विषयों में जो अधिकारी काम कर रहे थे, उन्हें प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिया जाय तथा उनकी नियुक्ति के लिए पब्लिक सर्विस कमीशनों की व्यवस्था की जावे। इसके अतिरिक्त कुछ केन्द्रीय नौकरियों को सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की अधीनता से भारत सरकार की अधीनता में कर दिया जाना था। पंडित मोतीलाल नेहरू ने कहा था कि सार्वजनिक सेवाओं का तत्कालीन संगठन समयोचित न था तथा सरकार नवीन सुधारों को क्रियान्वित करने का बेकार असाध्य प्रयत्न कर रही थी जबकि प्रशासन में भी सुधार की आवश्यकता थी। मोतीलालजी के संशोधन के पक्ष में ६८ मत आये तथा विपक्ष में ४६।

स्वराज्यवादियों का सबसे महत्वपूर्ण काम सन् १९२४-२५ के बजट को केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत कर देना था। वायसराय को बजट स्वीकृत कराने में अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करना पड़ा। इस समय सरकार के सम्मुख तो प्रश्न था "निरंकुशता अथवा अराजकता" तथा स्वराज्यवादियों के सम्मुख "द्वैध शासन अथवा स्वराज्य।" मिस्टर सी० डी० आयंगर का भी एक प्रस्ताव, जिसमें बंगाल के दमनकारी अध्यादेश को रद्द करने की माँग की गयी थी व्यवस्थापिका-सभा में २५ के विरुद्ध ५८ मतों से स्वीकृत हो गया : फरवरी सन् १९२५ में श्री विट्ठलभाई पटेल ने कुछ दमनकारी कानूनों को रद्द करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पेश किया[1] तथा केवल एक कानून को छोड़कर (फ्रन्टियर आउटरेजस एक्ट) अन्य कानूनों के सम्बन्ध में यह स्वीकृत हो गया। मिस्टर राजा ने भारत में एक सैनिक विद्यालय खोलने की माँग एक प्रस्ताव द्वारा की तथा सरकार इसके सम्बन्ध में हार गयी। इसी वर्ष पंडित मोतीलाल नेहरू ने वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में जाँच करने वाली समिति की रिपोर्ट को स्वीकार करने से सरकारी प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी एक संशोधन पेश किया, जिनमें यह कहा गया कि सम्राट् की सरकार उन आधारभूत सिद्धान्तों की घोषणा करे जिससे भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना हो सके तथा एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाय जिसमें

1 The State Prisoners Act, 1850 ; The Frontier Outrages Act, 1867; The Prevention of Seditious Meetings Act, 1921.

भारतीयों, योरोपियनों, ऐंग्लो-इण्डियनों आदि के प्रतिनिधि हों, जो अल्पसंख्यकों के हितों को ध्यान में रखकर उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर एक योजना प्रस्तुत करें तथा ब्रिटिश संसद को उसे कानून बनाने के लिए पेश करने से पहले व्यवस्थापिका-सभा की स्वीकृति के लिए उसे पेश किया जावे। यह प्रस्ताव ४५ के विरुद्ध ७२ मतों से पारित हो गया।

स्वराज्यवादियों ने व्यवस्थापिका-सभा में भरसक अड़ङ्गा की नीति का पालन किया तथा यद्यपि सरकार की गति में अवरोध उत्पन्न करने में वह सफल भी हुए पर वह सरकार का रवैया न बदल सके। बाद में समय-समय पर उन्होंने अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए 'वाक आउट' भी किये। सर सी० वाई० चिन्तामणि का इस सम्बन्ध में कहना है, "मार्च सन् १९२६ से व्यवस्थापिका-सभा के अवसान तक के मध्य में यह साधारण दृश्य था कि कांग्रेसी व्यवस्थापिका-सभाओं के भीतर जाते तथा तुरन्त बाहर चले आते। इस कार्य के मर्म को वह ही समझते थे।"[1] सर तेजबहादुर सप्रू इस 'वाक-आउट' को "देशभक्ति का गमनागमन" (Patriotism in Locomotion) कहा करते थे। सन् १९२५-२६ तथा १९२६-२७ के बजटों को भी उन्होंने स्वीकृत होने से रोक दिया था।

प्रान्तों में

बंगाल में स्वराज्यवादियों का स्पष्ट बहुमत था। इसके ४२ सदस्य कौंसिल में थे तथा यह उसमें सबसे बड़ा राजनीतिक दल था। निर्वाचन में स्वराज्यवादी प्रत्याशियों ने बंगाल के सार्वजनिक जीवन के अनेक महारथियों को हरा दिया था जिनमें सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, देशबन्धु के भाई एस० आर० दास, जो बंगाल के एडवोकेट-जनरल थे तथा प्रसिद्ध चिकित्सक सर नीलरत्न सरकार मुख्य थे। गवर्नर लॉर्ड लिटन ने स्वराज्यवादियों के नेता देशबन्धु को अपना मन्त्रिमण्डल बनाने का भी आमंत्रण दिया था, जो हस्तान्तरित विषयों का शासन करे परन्तु उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। सन् १९२५ तथा सन् १९२६ में इन्होंने मंत्रियों को वेतन देने के सम्बन्ध में सरकारी प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया तथा बाद में मन्त्रियों को अपना पद छोड़ने को बाध्य होना। सन् १९२५ में देशबन्धु जब बीमार थे, फिर भी वह व्यवस्थापिका के अधिवेशन में द्वैध शासन-प्रणाली के कफन में अन्तिम कील ठोकने तथा उसके ऊपर मरसिया लिखने गये। सन् १९२५ में उनकी मृत्यु के उपरान्त स्वराज्यवादी दल के प्रभाव को धक्का लगा। तीसरी बार भी उन्होंने मन्त्रिमण्डल-निर्माण के प्रश्न को असम्भव कर दिया तथा बाद में लॉर्ड लिटन को सदन भंग कर देने के लिए विवश होना पड़ा।

बंगाल

मध्य प्रान्त में भी स्वराज्यवादियों ने विरोधी दल के रूप में अत्यधिक

1 Indian Politics Since the Mutiny, p. 108.

सफलता प्राप्त की तथा द्वैध शासन-प्रणाली को असफल करने का प्रयत्न किया। बम्बई तथा संयुक्त प्रान्त में भी इस दल का भारी यदा-कदा निर्णायक प्रभाव रहा। सन् १९२५ में देशबन्धु की मृत्यु के उपरान्त स्वराज्य दल को पर्याप्त धक्का पहुँचा। जिस अड़ंगा लगाने के मूल उद्देश्य से उन्होंने निर्वाचन में भाग लिया था, उनमें शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा।[1] अपने अन्तिम दिनों में देशबन्धु चित्तरंजनदास भी यह अनुभव करने लगे थे कि केवल 'बाधा डालने के लिए 'बाधा डालना' निरर्थक व लाभहीन था। अक्टूबर, सन् १९२४ में स्वयं उन्होंने ही सरकार से सहयोग करने की कुछ शर्तें रखी थीं। उन्होंने यह भी कहा था, "मैं हृदय-परिवर्तन के लक्षण हर एक स्थान पर देख रहा हूँ। परस्पर मैत्री के चिन्ह मुझे हर स्थान पर दिखायी पड़ रहे हैं। संसार संघर्ष से थक चुका है तथा उसमें मुझे सृजन तथा संगठन की प्रवृत्ति दिखायी पड़ रही है।" बंगाल में सरकारी दमन को रोकने के लिए भी उन्होंने सोचा कि कुछ झुकना चाहिए तथा उनमें 'उत्तरदायित्व पूर्ण सहयोग' की भावना का विकास होने लगा था तथा २ मई, सन् १९२५ को फरीदपुर के प्रान्तीय सम्मेलन में उन्होंने सरकार से सहयोग करने के लिए निम्न बातों पर बल दिया था तथा यह आश्वासन दिया कि सरकार उन्हें मानेगी तो वह अपने कार्यों तथा व्यवहारों से क्रान्तिकारी प्रचार को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा ऐसे आन्दोलन को समाप्त कराने का प्रयत्न करेंगे :

अन्य प्रान्तों में

सहयोग की ओर कदम

(१) यदि सरकार वास्तव में जनता के प्रतिनिधियों को कुछ उत्तरदायित्व सौंपने के लिए तत्पर हो;

(२) यदि वह निकट भविष्य में स्वाभाविक रूप से स्वराज्य की स्थापना करने की घोषणा करे;

(३) यदि शासकीय अधिकारी अपने हृदय-परिवर्तन तथा शान्तिपूर्ण समझौते का वातावरण उत्पन्न करने का व्यावहारिक प्रदर्शन करे; तथा

(४) समस्त राजनीतिक बन्दियों को क्षमा प्रदान करदे।

१६ जून, सन् १९२५ को चित्तरंजनदास की मृत्यु के बाद पण्डित मोतीलाल नेहरू ने दल का नेतृत्व संभाला तथा स्वराज्यवादी अब सहयोग की ओर झुकने लगे। सन् १९२४ में स्वराज्य दल के प्रतिनिधियों ने 'स्टील प्रोटेक्शन कमेटी' में भाग लिया। श्री विट्ठलभाई पटेल ने भी २२ अगस्त, सन् १९२५ को व्यवस्थापिका-सभा के अध्यक्ष-पद के निर्वाचन के लिए अपनी सहमति दे दी। इस पद पर निर्वा-

---

1 "From the middle of 1925 onwards," wrote Subhash Chandra Bose, "there was a gradual watering down of the original swarajist policy of undiluted opposition."

—((*The Indian Struggle*, p. 167.)

चन होने के उपरान्त उन्होने सदस्यों के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए कहा, "स्वराज्यवादियों को सामान्यतया विनाशक कहा जाता है तथा इस कारण यह उनका कर्त्तव्य हो गया है कि वह न केवल इस सदन को, वरन् सम्पूर्ण संसार को दिखा दें कि यदि वह विनाश करना जानते हैं तो यह भी जानते हैं कि निर्माण किस प्रकार हो सकता है।"[1] पण्डित मोतीलाल नेहरू ने 'स्कीन कमीशन' की सदस्यता स्वीकार कर ली। इन कमेटी के अध्यक्ष सेना के जनरल स्टाफ के प्रधान सर एन्ड्रू स्कीन थे तथा इसका उद्देश्य भारतीय कैडेटों को 'किंग्स कमीशन' के लिए नियुक्ति तथा प्रशिक्षण के सम्बन्ध में विचार करना था।

सन् १९२६ के बाद कौंसिल-मोर्चा अत्यधिक शिथिल हो गया। हिन्दू-मुसलमान दगों के कारण भी दल की एकता को ठेस पहुँची। पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा लाला लाजपतराय ने कांग्रेसियों का एक पृथक् इण्डिपेण्डेन्ट दल संगठित करके उत्तर भारत के हिन्दुओं को उसकी पताका के नीचे संगठित होने का आग्रह किया। इनका विचार था कि प्रत्येक बात में सरकार का विरोध करने की रीति हिन्दुओं के लिए अहितकर सिद्ध हो रही थी। स्वराज्य दल भी शनैः शनैः दो दलों में विभक्त होता दिखायी पड़ रहा था। इसमें एक पक्ष तो प्रतियोगी सहयोग करने को कह रहा था तथा दूसरा असहयोग करने को। बम्बई में स्वराज्यवादियों ने प्रतियोगी सहयोग के पक्ष में प्रत्यक्ष रूप से विचार प्रकट किये तथा मध्य प्रान्त की विधान-सभा के स्वराज्यवादी अध्यक्ष श्री एस० बी० ताम्बे ने गवर्नर की कार्यकारिणी का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया। डा० बी० एस० मुंजे ने भी पद-ग्रहण के पक्ष में अपने विचार प्रकट किये। मि० एम० आर० जयकर ने एक बयान में कहा कि श्री ताम्बे के कार्य में तथा श्री पटेल के व्यवस्थापिका-सभा के अध्यक्ष निर्वाचित होने में कोई अन्तर न था तथा अब समय आ गया कि दल अपनी नीतियों पर पुनः विचार करे : श्री एन० सी० केलकर ने आरोप लगाया कि दल किस प्रकार अपनी 'अड़ंगा' लगाने की नीति से विरत हो रहा था। अनेक प्रमुख स्वराज्यवादी धीरे-धीरे प्रतियोगी सहयोग के पक्ष में हो रहे थे।[2] मोतीलालजी के इस बयान ने कि 'दल का जो अंग विषाक्त हो रहा था, उसे काट देना चाहिए, लोगों को और भी उत्तेजित कर दिया।'

दल के भीतर मतभेद

इसी बीच स्वराज्य दल से लोग धीरे-धीरे अलग होने लगे। बहुत-से लोगों

1 "The Swarajists are often described as critics—destructive critics, and it has therefore become their duty, whenever an honourable opportunity offers to show not only to this House but to the whole that, if they know how to destroy, they know also how to construct." —*V. J. Patel* (*Ref. India in 1925-26 Appendix* V. p, 367.)

2 India in 1925-26, pp. 67-69,

ने यह भी अनुभव किया कि उदारवादी (Liberals) इण्डिपेन्डेन्ट, प्रतियोगी सहयोगियों के विचारों में कोई मौलिक भेद न था। जो सुधारों के पक्ष में थे, उन्होंने अप्रैल में सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक नये दल की स्थापना की। इसमें श्रीमती ऐनी बीसेन्ट, पं० मदन-मोहन मालवीय, विपिनचन्द्र पाल, श्री जिन्ना, श्री जयकर, श्री चिन्तामणि आदि उपस्थित थे। इस दल का उद्देश्य स्वराज्य या पूर्णतया उत्तरदायी शासन की शीघ्र स्थापना के लिए तैयारी करना था, जैसा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य उपनिवेशों को प्राप्त था। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया कि सभी शांतिपूर्ण तथा वैधानिक उपाय (सामूहिक सविनय अवज्ञा तथा कर न देने के विचार को छोड़कर) इसको सफल बनाने के लिए व्यवहार में लाये जायें तथा विधान-मण्डलों के अन्दर सहयोग की नीति अपनायी जाय। अन्तिम बात उन लोगों को प्रसन्न करने के लिए कही गयी जो सहयोग के पक्ष में थे।

एक नया दल

मोतीलालजी ने इस दल की निन्दा की, परन्तु वह स्वराज्य दल की वास्तविक स्थिति थी, उससे भी अनभिज्ञ न थे। अप्रैल, सन् १६२६ मे पण्डित मोतीलाल नेहरू ने दोनों दलों के मध्य समझौता कराने का प्रयत्न किया जो 'साबरमती समझौते' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें लाला लाजपतराय, श्री केलकर, डॉ० मुंजे, श्री एम० एन० अणे, श्रीमती सरोजनी नायडू आदि ने भाग लिया। इस अवसर पर महात्मा गांधी भी उपस्थित थे। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि स्वराज्यवादी मन्त्रि-पद ग्रहण कर सकते हैं, यदि सरकार प्रान्तों में मन्त्रियों के हाथ में उत्तरदायित्व सौंपे, जो पूर्णतया विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी हों तथा सरकार के नियन्त्रण से मुक्त हों तथा देश की आय का एक उचित भाग राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विभागों पर व्यय किया जावे। कांग्रेस की कार्यसमिति ने भी इस 'समझौते' को स्वीकार किया। टी० प्रकाशम जैसे प्रमुख असहयोगियों ने यह आरोप लगाया कि कांग्रेस इस प्रकार अपने उद्देश्य से हट गई थी। सन् १६२६ के निर्वाचनों में असहयोगियों की विजय हुई तथा कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से कौंसिलों के भीतर असहयोग की नीति अपनाई। इससे प्रतियोगी सहयोग के समर्थक जयकर, मुंजे, केलकर आदि कांग्रेस से पृथक् हो गये। सन् १६२६ के अन्त होने तक स्वराज्य दल की सारी शक्ति क्षीण हो चुकी थी।

स्वराज्य दल का मूल्यांकन

स्वराज्य दल यद्यपि अपनी अड़ंगा-नीति में अधिक सफल नहीं हो सका, फिर भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसका योगदान अमूल्य है। जिस वक्त देश के राजनैतिक क्षितिज पर निराशा छायी हुई थी, असहयोग आन्दोलन असफल हो चुका था। कांग्रेस का रचनात्मक कार्यक्रम जनता को आकृष्ट करने में सफलता प्राप्त नहीं कर रहा था, स्वराज्य दल ने जनता में राष्ट्रीयता की ज्योति को अक्षुण्ण रखा। सरकार का विरोध करके तथा उसके मार्ग में

बाधाएँ उपस्थित करके राष्ट्र में चेतना को जागृत रखने का श्रेय स्वराज्य दल को ही है। इसने (स्वराज्य दल) सरकार को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि द्वैध शासन-प्रणाली असफल तथा दोषपूर्ण है। इसने व्यवस्थापिका-सभा में शासन की तानाशाही तथा उत्तरदायित्वहीनता सिद्ध की तथा समय-समय पर सरकार के प्रस्तावों तथा सरकारी बजटों को अस्वीकृत कर एक विरोधी दल के कर्तव्यों को पूर्ण रूप से निभाया। साइमन कमीशन ने भी स्वराज्य दल को एक सुसंगठित तथा अनुशासनप्रिय राजनैतिक दल कहा था जिसके पास एक सुनिश्चित कार्यक्रम था।[1] स्वराज्य दल की सफलता के सम्बन्ध में ब्रेल्सफोर्ड का कहना है, "मेरे विचार से अड़ंगा लगाने की नीति बिल्कुल उचित ही थी क्योंकि उसने ब्रिटिश अनुदार दल को इस बात का कायल कर दिया कि द्वैध शासन-प्रणाली अव्यवहार्य थी।"[2] गोलमेज-परिषद् की माँग जिसे सरकार ने सन् १९३० में माना, सर्वप्रथम स्वराज्य दल ने ही की थी। मुडीमैन कमेटी तथा साइमन कमीशन की भी नियुक्ति सरकार ने स्वराज्य की माँगों के फलस्वरूप ही की थी।

इन सबके अतिरिक्त भी स्वराज्य दल की नीतियों में स्वभावतया परस्पर विरोध था। सरकार का विरोध कौन्सिलों में घुसकर अड़ंगा द्वारा करने की योजना तर्कविहीन थी। यदि सरकार का विरोध ही मुख्य लक्ष्य था तो वह कौंसिलों के बाहर भी रह कर हो सकता था। फिर सरकार के हाथों में इतने अधिक विशेषाधिकार थे कि स्वराज्य दल का विरोध कोई मूल्य ही नहीं रखता था। इनके समर्थक उन कष्टों से बचना चाहते थे जो 'नागरिक अवज्ञा आन्दोलन' करने में सहने पड़ते। यदि स्वराज्यवादी निर्वाचनों मे भाग लेने के लिए इस कारण तत्पर थे कि अवाँछनीय व्यक्ति कौंसिलों में न घुस पावें तो यह ठीक था पर स्वराज्य दल वालों का सरकार से सहयोग कर मन्त्रि-पद आदि ग्रहण करना अनुचित था। इस सम्बन्ध में हम ज़कारिया की पूर्वोद्धृत उक्ति से सहमत हो सकते हैं कि वे ऐसे व्यक्ति थे जो अपनी रोटी खाना भी चाहते थे तो बचाना भी। जनता में लोकप्रिय होने के लिए वे उग्रतापूर्ण बातें करते थे परन्तु वास्तव में वे संसदवाद के समर्थक थे।

———

1 "The only really well-organised and disciplined party with a definite programme (though, it is true, a negative one) is that of the Swarajists. Only in Bengal and the central provinces did they, even temporarily achieve their initial object of making dyarchy unworkable, and in the provinces they have tended everywhere, in varying degrees, to be transformed into an opposition of a more constitutional kind, and have not infrequently played a useful part as keen and vigilant critics."
(*Report of the Indian Statutory Commission, Vol. I, p. 209.*)

2 Quoted by *Polok* : Mahatma Gandhi, p. 165.

९

साइमन कमीशन व नेहरू रिपोर्ट

सन् १९२८ के आरम्भ से ही भारतवर्ष का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण था। श्री जवाहरलाल नेहरू का मत है कि इस समय ऐसा प्रतीत होता था कि देश सन् १९१९-२२ के नैराश्यपूर्ण वातावरण से छुटकारा पा चुका था। ८ नवम्बर, सन् १९२७ को ही साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की जा चुकी थी तथा इस कारण भी जनता में सरकार के प्रति रोष विद्यमान था। इसी बीच नवयुवक-वर्ग मे भी देशप्रेम-भावना का संचार हो रहा था। कांग्रेस के भीतर भी नवयुवक-वर्ग सक्रिय हो उठा था तथा जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में राष्ट्रवादी एवं वामपक्षी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगी थीं।[1] इन्होंने सन् १९१७ में कलकत्ते में नवयुवक-सम्मेलन भी आयोजित किया था जिसमें भारतवर्ष की पूर्ण स्वाधीनता पर बल दिया गया तथा कृषकों व श्रमिकों को भी राष्ट्रीय संघर्ष में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया। इसी सम्मेलन में श्रमिकों व कृषकों को मताधिकार प्रदान करने एवं उनकी दशा में सुधार

राजनैतिक वातावरण में उत्तेजना

---

1 It is interesting to know what impression they made on the ruling class. Prof. Coatman, an ex-police officer, wrote about Jawaharlal Nehru. "as a fisher wherever the waters are troubled" and that he had "one secret ambition, which is to rival Lenin or Stalin in the history of communism." He compares him with Bose and says :

"It seems, the history will write him (Nehru) down as a pinch-back Lenin, and he has a younger and dangerous rival for the plaudits of the mob in a would be Mussolini in Bengal. Mr. Subhash Chandra Bose holds the Bengali extremists on his side. — *Coatman, J.* : Years of Destiny, pp. 95-96.

Quoted from *Raghuvanshi, V. P. S.* : Indian Nationalist Movement & Thought.

करने के लिए नये कानूनों के निर्माण की माँग की गयीं। देश के भीतर श्रमिक-वर्ग भी इस समय तक जागरूक हो चुका था। उनमें समाजवादी व साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रति आकर्षण जागृत हो चुका था। सन् १९२८-२९ के मध्य श्रमिकों की जो हड़ताल हुई, वह इस बात का प्रमाण है। उनमें वर्ग-चेतना का पर्याप्त विकास हो चुका था। कृषकों में भी जागृति बढ़ रही थी। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में गुजरात के किसान शासन के विरुद्ध सफलतापूर्वक सत्याग्रह कर चुके थे। कौंसिलों में प्रवेश करके अड़ंगा लगाने की नीति से मध्यम-वर्ग भी ऊब चुका था तथा वह कोई सक्रिय आन्दोलन करने की दिशा में सोच रहा था। इन परिस्थितियों में साइमन कमीशन की नियुक्ति ने देश के राजनीतिक वातावरण में एक गर्मी पैदा कर दी।

साइमन कमीशन की नियुक्ति

साइमन की नियुक्ति सन् १९१९ के भारतीय शासन अधिनियम द्वारा व्यवस्था की गयी कि अधिनियम के लागू होने के दस वर्ष उपरान्त इसके व्यावहारिक पक्ष की जाँच करने के हेतु सरकार एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति करेगी, परन्तु सरकार ने इस अवधि के समाप्त होने के दो वर्ष पूर्व ही, अर्थात् नवम्बर, सन् १९२७ में ही सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की घोषणा कर दी। इस कमीशन के सातों सदस्य भी अंग्रेज ही थे। इस कमीशन को सरकार के अनुसार यह काम सौंपा गया कि "यह ब्रिटिश भारत के शासन-कार्य, शिक्षा वृद्धि, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के विकास एवं तत्सम्बन्धी तथ्यों की जांच करे तथा इस बात की रिपोर्ट प्रस्तुत करे कि उत्तरदायी शासन का सिद्धान्त लागू करना उचित है अथवा नहीं? यदि है तो किस स्तर तक? अभी उत्तरदायी शासन जिस मात्रा में स्थापित किया गया था, उसमें वृद्धि अथवा कमी की जाय अथवा अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाय? इन प्रश्नों के साथ ही इस बात पर भी रिपोर्ट प्रस्तुत की जाय कि प्रान्तों में दो-दो कौंसिलों की स्थापना करना वांछनीय है अथवा नहीं?"

साइमन कमीशन क्यों?

इस कमीशन की नियुक्ति से भारतीय अत्यन्त क्षुब्ध हुए क्योंकि इसके सभी सदस्य अंग्रेज थे।[1] इस आपत्ति के प्रत्युत्तर में यह तर्क दिया गया कि क्योंकि संसद के सदस्य ही संसद को रिपोर्ट दे सकते थे, अतः भारतीयों को इस कमीशन की सदस्यता से वंचित रखा गया। इस तर्क में लोगों को कुछ भी सचाई न दीखी क्योंकि उस समय हाउस ऑफ कॉमन्स में दो भारतीय—लॉर्ड सिन्हा तथा

साइमन कमीशन से भारतीय क्षुब्ध

1 साइमन कमीशन के सभी ७ सदस्य अंग्रेज थे, परन्तु ये इंगलैंड के सभी राजनीतिक दलों से लिए गये थे। इसमें दो श्रमिक दल के, एक उदार दल का और चार अनुदार दल के सदस्य थे। सर जान साइमन उदारवादी दल के थे।

मिस्टर शकलातवाला सदस्य थे। लॉर्ड बर्किनहेड, जो इस समय भारत-मंत्री थे, उनके संसद, में दिये भाषण से यह स्पष्ट था कि उनका रुख इस सम्बन्ध में भारतीयों के लिए बहुत अपमानजनक था। इसके पूर्व सन् १९२७ में ये आक्सफोर्ड में कह चुके थे, "भारत हमारे लिए अमूल्य सम्पत्ति है, यह हमारी जीविका है।.... ....भारत को अपने अधीन बनाये रखना तथा इसके लिए खून की अन्तिम बूंद बहा देना आपका कर्त्तव्य है।[1] एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया गया कि क्योंकि भारतवर्ष अनेक वर्गों एवं सम्प्रदायों का देश है, अतः किसी भी वर्ग को बिना असन्तुष्ट किये किसी भी भारतीय की नियुक्ति सम्भव न थी तथा यदि सब वर्गों के प्रतिनिधियों को कमीशन में स्थान दिया जाता तो उनके कलेवर में बहुत वृद्धि हो जाती।

घोर अपमान का सूचक

कांग्रेस तथा सभी राजनीतिक दलों ने कमीशन की नियुक्ति को घोर अपमान समझा। श्रीमती ऐनी बीसेन्ट ने इसे जले पर नमक छिड़कना कहा तथा दीनशॉ वाचा जैसे अखिल भारतीय नरम नेता ने कमीशन के विरोध में एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जिसमें कांग्रेस के अतिरिक्त सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये थे: मिस विल्किन्सन ने यहाँ तक कह डाला कि अमृतसर-काण्ड के पश्चात् ब्रिटिश शासन के किसी भी कार्य की भारतवर्ष में इतनी निन्दा नहीं की गयी थी, जितनी साइमन कमीशन की नियुक्ति की। मद्रास में कांग्रेस के सभापति डाक्टर अन्सारी ने भी कमीशन की नियुक्ति की निन्दा करते हुए कर्नल वेजवुड के विचारों का हवाला दिया कि कमीशन के बहिष्कार से भारत के पक्ष को कोई हानि नहीं पहुँचेगी। फरवरी, सन् १९२८ में ही केन्द्रीय व्यवस्थापिका ने भी लाला लाजपतराय का एक प्रस्ताव पारित कर दिया जिसमें कहा गया कि कमीशन की योजना सर्वथा अमान्य थी तथा किसी भी सदस्य को "इसके किसी भी स्तर अथवा किसी भी रूप में" कोई सरोकार नहीं था।[2] इस प्रस्ताव को पारित करके व्यवस्थापिका के सदस्यों ने सरकार के प्रति इस कारण रोष प्रकट किया कि उसने सितम्बर, सन् १९२५ में केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रस्ताव किसी एक गोलमेज-सम्मेलन बुलाया जाय, जिसमें भारतीय नेता ब्रिटिश नेताओं से मिलकर भारतवर्ष के लिए एक उत्तरदायी वैधानिक योजना पर विचार कर सकें, कोई भी ध्यान नहीं दिया था।[3] मिस्टर जिन्ना ने भी कहा कि किसी भी स्वाभिमानी भारतीय के लिए कमीशन का बहिष्कार करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं था क्योंकि वह सर जॉन साइमन के साथ बराबर की हैसियत से बैठने के योग्य न थे। मोतीलाल नेहरू ने घोषणा की कि सरकार भारतीयों से सहयोग की तभी

1 India in 1927-28, Appendix I (*d*).
2 *Moti Lal Nehru* : Voice of Freedom, p. 385,
3 *Ibid*. p. 340,

आशा कर सकती थी, जब कमीशन में समान संख्या में भारतीय भी सदस्य बनाये जाते। उनका कहना था कि जब सभी दल विरोध के पक्ष में हैं तो फिर अन्य कोई महत्वपूर्ण बात ही नहीं रह जाती। "हम तो इस मुख्य सिद्धान्त पर अड़े हैं कि ब्रिटिश जनता को अपने शासन को हमारे ऊपर हमारी इच्छा के विरुद्ध संविधान द्वारा लादने का कोई अधिकार ही नहीं है।"

यह कमीशन ३ फरवरी, सन् १९२८ को बम्बई में आकर उतरा। इसी दिन सम्पूर्ण भारत में हड़ताल मनायी गयी तथा कमीशन के बहिष्कार का श्रीगणेश कर दिया गया। स्थान-स्थान पर कमीशन का विरोध काले झण्डों व "साइमन कमीशन वापस जाओ" आदि नारों से किया गया। अनेक स्थानों पर पुलिस तथा जनता के मध्य संघर्ष भी हुए। लाहौर में लाला लाजपतराय के नेतृत्व में कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करने के लिए एक विशाल जन-समूह एकत्रित हुआ। लालाजी उस समय हृदय-रोग से पीड़ित थे। पुलिस ने भीड़ पर हमला किया तथा कई प्रतिष्ठित नेताओं को लाठी से पीटा। लाला लाजपतराय का इन्हीं चोटों के कारण कुछ सप्ताह बाद देहान्त हो गया। मरते समय लालाजी ने कहा, "यह लाठियों के प्रहार जो मेरे ऊपर किये गये हैं, एक दिन ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की कील होंगे।" इस घटना से कमीशन के प्रति और अधिक विरोध प्रदर्शित किया गया तथा बंगाल व पंजाब में आतंकवादी कार्यों को प्रोत्साहन मिला। भगतसिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में बम फेंका तथा जिस अधिकारी ने लालाजी को पिटवाया था, लाहौर में उसकी हत्या कर दी गयी। लखनऊ में पुलिस ने जवाहरलाल नेहरू व गोविन्दबल्लभ पन्त पर भी लाठियों का प्रहार किया था।

'साइमन कमीशन वापिस जाओ'

सर्वदलीय सम्मेलन

जिस समय साइमन कमीशन की नियुक्ति की जा रही थी, अनुदार दल के भारत सचिव लॉर्ड बर्कनहैड[1] ने यह कहा था कि भारतवासियों में परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेष इतना अधिक है कि वह अपने लिए किसी भी संविधान का निर्माण करने में असमर्थ हैं। भारतीयों ने इस धृष्ट चुनौती को स्वीकार किया तथा फलस्वरूप कांग्रेस ने फरवरी, सन् १९२८ में सर्वदलीय सम्मेलन का संयोजन किया। सम्मेलन में उपस्थित संस्थाएँ तथा कांग्रेस इस बात पर एकमत हो गयी कि भारत की वैधानिक समस्या पर विचार 'पूर्ण उत्तरदायी शासन' को आधार मानकर होना चाहिए। फरवरी तथा मार्च में समेलन की कुल पच्चीस बैठकें हुईं तथा लगभग तीन-चौथाई समस्याएँ शान्तिपूर्वक सुलझ गयीं। १९ मई, सन् १९२८ को सर्वदलीय सम्मेलन की पुनः एक बैठक हुई जिसमें भारतीय संविधान के सिद्धान्तों का प्रारूप तैयार करने के लिए पण्डित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नौ सदस्यों की एक

1 Ibid., p p. 335-36,

समिति नियुक्त की गयी जो १ जुलाई, सन् १९२८ तक रिपोर्ट दे दे। यह भी निश्चय किया गया कि इसमें एक सिक्ख तथा दो मुसलमान हों।

नेहरू रिपोर्ट

सर्वदलीय सम्मेलन द्वारा नियुक्त समिति ने लगभग तीन मास के कठिन परिश्रम उपरान्त अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली तथा अगस्त, सन् १९२८ में लखनऊ, में कांग्रेस, उदारवादी संघ, सिक्ख लीग, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, भारतीय ईसाई एवं रियासती जनता के प्रतिनिधियों की बैठक हुई जिसमें इस रिपोर्ट पर विचार किया गया। इस रिपोर्ट को कांग्रेस तथा अन्य संस्थाओं ने पूर्णतया स्वीकार कर लिया परन्तु कुछ सम्प्रदायवादियों के विरोध के कारण मुस्लिम लीग ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :

(१) ब्रिटिश साम्राज्य में भारत की स्थिति वैसी ही होगी जो अन्य उपनिवेशों की है। भारत का नाम 'कॉमनवैल्थ ऑफ इण्डिया" होगा, जिसकी अपनी संसद होगी। रिपोर्ट में कहा गया कि औपनिवेशिक पद (Dominion Status) की उपलब्धि "हमारे विकास की दूरस्थ अवस्था नहीं अपितु अगला तात्कालिक कदम है।"

(२) रिपोर्ट में जनता को कुछ मूलभूत अधिकार प्रदान करने की सिफारिश की गयी। इसमें यह कहा गया कि शासन की सभी शक्तियाँ जनता से प्राप्त हैं तथा भारत कॉमनवैल्थ में इनका प्रयोग संविधानान्तर्गत स्थापित निकायों द्वारा किया जाय। यह भी कहा गया कि प्रत्येक को धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता होगी तथा राज्य किसी भी धर्म को प्रधानता नहीं देगा; स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त होंगे। प्रत्येक को वैध उपायों द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार होगा; प्रारम्भिक विद्यालयों में शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य व्यवस्था करेगा: भूमि पर उचित लगान की प्रत्याभूति हो जायगी तथा कृषकों को स्थायी जोत के अधिकार होंगे।

नेहरू रिपोर्ट की सिफारिशें

(३) भारतीय कॉमनवैल्थ की विधायी-शक्ति संसद में निहित होगी जिसे शान्ति, व्यवस्था तथा सुख के लिए विधि-निर्माण की शक्ति प्राप्त होगी तथा कार्यपालिका इसके प्रति उत्तरदायी होगी। विदेशी मामलों में देशी रियासतों को छोड़कर इस संसद की वही शक्तियाँ होंगी जो अन्य स्वशासित उपनिवेशों की हैं। संसद के दो सदन होंगे—सीनेट तथा प्रतिनिधि-सदन। सीनेट में सदस्य संख्या २०० होनी थी जिनका निर्वाचन प्रान्तीय कौंसिलों द्वारा होता। प्रतिनिधि-सदन की सदस्य-संख्या ५०० निश्चित की गयी जिनका निर्वाचन वयस्क मताधिकार पर होता।

(४) कॉमनवैल्थ की कार्यपालिका-शक्ति सम्राट् में निहित होगी जिसका प्रयोग संवैधानिक उपबन्धों के अधीन उसके द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल करेगा।

इसके अतिरिक्त एक कार्यकारिणी-परिषद् होगी जिसमें प्रधानमन्त्री तथा ६ मंत्री रहेंगे। प्रधानमंत्री की नियुक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा तथा मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्रियों के परामर्श पर होनी थी यह कार्यकारिणी-परिषद् सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होगी।

(५) प्रान्त की विधायी-शक्ति सम्राट् व प्रान्तीय विधान-मण्डल में निहित होगी। अपने प्रतिनिधि के रूप में, प्रत्येक प्रान्त में सम्राट् एक गवर्नर नियुक्त करेगा। प्रत्येक प्रान्त में वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित एक विधान-मण्डल रहेगा जिसमें प्रति एक लाख की जनसंख्या के पीछे एक सदस्य निर्वाचित होगा। प्रत्येक प्रान्त में एक कार्यकारिणी-परिषद् होगी जिसमें गवर्नर द्वारा नियुक्त अधिक से अधिक पांच सदस्य होंगे। मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर मुख्य-मन्त्री के परामर्शानुसार करेगा तथा अपने कार्य में गवर्नर कार्यकारिणी-परिषद् का परामर्श लेगा।

(६) भारतीय राज्यों के सम्बन्ध में यह सिफारिश की गयी कि उनके अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा की जाय। इसके अतिरिक्त नवनिर्मित केन्द्रीय शासन में, भारतीय राज्यों के सम्बन्ध में वह सब शक्तियाँ स्वतः निहित होंगी जिनका प्रयोग ब्रिटिश शासन करता आया था तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से यह तर्क अमान्य समझा जायेगा कि उन्होंने संधियाँ ब्रिटिश क्राउन के साथ की थीं; अतः नये केन्द्रीय शासन के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

(७) एक सर्वोच्च न्यायालय की भी व्यवस्था की गयी जिसका अधिकार-क्षेत्र संसद द्वारा निर्धारित होना था।

(८) साम्प्रदायिक या पृथक निर्वाचनों के सम्बन्ध में रिपोर्ट ने कहा कि साम्प्रदायिक मतभेद राजनीति पर दूषित प्रभाव डालते हैं। इसने लखनऊ-समझौते की शर्तों को मान्यता नहीं प्रदान की तथा स्पष्ट घोषित किया कि यह साम्प्रदायिक विभेद फैलाते हैं तथा अल्पसंख्यक-वर्गों को भी सुरक्षा देने में असफल रहते हैं। रिपोर्ट में संयुक्त निर्वाचनों की सिफारिश की गयी तथा अल्प-संख्यकों के लिए भी स्थान सुरक्षित कर लिए गए।

नेहरू रिपोर्ट के सम्बन्ध में डॉक्टर जकारिया का मत है इस रिपोर्ट का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना चाहिए क्योंकि इसमें जिन विषयों पर विचार किया गया है, उनमें से प्रत्येक पर प्रकाश डाला गया है तथा व्यावहारिक सामान्य बुद्धि का परिचय मिलता है, जो कभी भी काल्पनिक सिद्धान्तों में नहीं खो जाता तथा अपने को साधारण वाक्यांशों की घोषणा की पृष्ठभूमि में छिपाने से घृणा करता है। जी. आर. प्रधान ने भी नेहरू रिपोर्ट को सर्वोत्तम योजना स्वीकार करते हुए कहा कि इसने शक्तिशाली अल्पसंख्यकों तथा बहुसंख्यकों के दावों में सामंजस्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। संक्षेप में, इस रिपोर्ट के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसने भारतवर्ष की संवैधानिक स्थिति के प्रश्न पर तत्कालीन परिस्थितियों में

अत्यन्त व्यावहरिक योजना प्रस्तुत की तथा साम्प्रदायिक-सिद्धान्त के आधार पर अत्यन्त व्यावहारिक हल प्रस्तुत किया।

जिन्ना की चौदह शर्तें

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यद्यपि अन्य सभी दलों ने इस रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया परन्तु इसके सम्वन्ध में मुसलमानों में मतभेद थे। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने तो इसे स्वीकार कर लिया था, परन्तु पृथकतावादी मुस्लिम तत्वों ने इसे स्वीकार नहीं किया तथा एक सर्वदलीय मुस्लिम सम्मेलन का ३१ दिसम्बर, सन् १९२८ को दिल्ली में आयोजन किया गया। इस सम्मेलन के सभापति आगाखां थे तथा मौलना मोहम्मदअली भी इसमें सम्मिलित हुए थे। मिस्टर जिन्ना ने मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए अपनी चौदह शर्तें प्रस्तुत कीं जिनके आधार पर यदि रिपोर्ट में संशोधन किया जाता तो उसके आधारभूत सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ता। डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी कृति 'इण्डिया डिवाइडेड' में इन शर्तों का संक्षिप्त निम्नलिखित रूप प्रस्तुत किया है :

जिन्ना की चौदह शर्तें

(१) भावी संविधान का ढांचा संघीय हो तथा अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों में निहित हों;

(२) सभी प्रान्तों को समान स्वायत्त-शासनाधिकार प्राप्त हों;

(३) सभी प्रान्तीय विधान-मण्डलों तथा लोक-प्रतिनिधि-संस्थाओं में अल्पसंख्यक सम्प्रदायों को निश्चित रूप से उचित एवं पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जावे। जहां वह बहुमत में हों, वहां घटाकर समान अथवा अल्पमत न कर दिया जावे ;

(४) मुसलमानों को केन्द्रीय विधान-मण्डल में कम से कम एक-तिहाई प्रतिनिधित्व अवश्य मिले ;

(५) साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक-निर्वाचन-पद्धति से हो परन्तु कोई भी सम्प्रदाय को, जब उसकी इच्छा हो, संयुक्त-निर्वाचन-पद्धति स्वीकार करने में स्वतन्त्रता रहे ;

(६) किसी भी प्रादेशिक पुनर्विभाजन द्वारा पंजाब, बंगाल तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में मुसलमानों के बहुमत पर कोई भी प्रभाव न पड़े ;

(७) प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने धार्मिक विश्वास, उपासना, प्रचार, सम्मेलन तथा शिक्षा की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए ;

(८) किसी भी विधान-मण्डल अथवा लोक-प्रतिनिधि-संस्था में ऐसा कोई विधेयक अथवा प्रस्ताव पारित नहीं होना चाहिए जिसका किसी भी सम्प्रदाय के तीन-चौथाई सदस्य अपने सम्प्रदाय के समंतव्यों के विपरीत समझते हुए उसका विरोध करें ;

(९) सिन्ध बम्बई प्रेसीडेन्सी से पृथक कर दिया जावे ;

(१०) सीमाप्रान्त तथा बिलोचिस्तान में भी उसी प्रकार के सुधार किए जावें जैसे अन्य प्रान्तों में किए जावें ;

(११) संविधान में सभी नौकरियों में योग्यता की आवश्यकता के अनुरूप मुसलमानों को उचित भाग मिले ;

(१२) मुस्लिम शिक्षा, संस्कृत, शिक्षा, भाषा, धर्म, वैयक्तिक विधियों एवं धार्मिक संस्थाओं की रक्षा तथा उन्नति के हेतु उचित संरक्षण एवं पर्याप्त सरकारी सहायता मिले ;

(१३) केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों में कम से कम एक-तिहाई मुसलमान अवश्य रहें ; तथा

(१४) केन्द्रीय विधान-मण्डल को संविधान में कोई संशोधन करने का तब ही अधिकार हो जब भारतीय संघ में सम्मिलित सभी एकक उसे स्वीकार कर लें।[1]

संघर्ष की ओर

कलकत्ता कांग्रेस

सन् १९२८ के अन्त तक देश की राजनीतिक स्थिति में उबाल आ गया। लोग अंग्रेजी सरकार से तो असंतुष्ट थे ही, परन्तु वह अपने नेताओं से भी सन्तुष्ट न थे, जो उन्हें धीरे चलने को कहते थे। जनता की इस मानसिक दशा का परिणाम यह हुआ कि लिबरल अथवा मॉडरेट दल का निशान मिट गया तथा दूसरी ओर कांग्रेस के भीतर ही एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया जो औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना लक्ष्य मानने को तत्पर नहीं था। इस दल के नेता थे—श्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्र बोस जो पूर्ण स्वराज्य चाहते थे। कांग्रेस के भीतर बढ़ता हुआ मतभेद कलकत्ता कांग्रेस, दिसम्बर सन् १९२८ में उग्र रूप से प्रकट हो गया। इस कांग्रेस के सभापति थे पं० मोतीलाल नेहरू। इसी कांग्रेस के साथ एक सर्वदलीय सम्मेलन भी हुआ था जिसमें नेहरू-रिपोर्ट के आधार पर यह घोषित किया गया कि भारत का राजनीतिक ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना था। सर्वदलीय सम्मेलन का यह प्रस्ताव जब कांग्रेस के सामने संपुष्टि के लिए आया तो विषम परिस्थिति उठ खड़ी हुई। श्री जवाहरलाल नेहरू व श्री सुभाषचन्द्र बोस ने संशोधन करने की सूचना दी। गांधीजी इस समय कांग्रेस की सदस्यता से पृथक हो बैठे थे। पंडित मोतीलाल ने उनसे हस्तक्षेप करने को कहा तथा गांधीजी ने कलकत्ते आकर स्वयं सर्वदलीय सम्मेलन का प्रस्ताव पेश करना स्वीकार किया। यदि स्वयं गांधीजी कांग्रेस अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव न करते तो इसमें सन्देह नहीं कि जवाहर-सुभाष की युगल मूर्ति के सामने पुराने महारथियों को हार खानी पड़ती क्योंकि वह पूर्ण स्वराज्य के समर्थक थे। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपना प्रस्ताव पेश नहीं किया तथा श्री सुभाषचन्द्र बोस का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। इसका कारण गांधीजी की अनुपम सूझ-बूझ थी।

---

1 *Rajendra Prasad*: India Divided, pp. 131-32.

इसलिए उनके जोर देने पर औपनिवेशिक स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत हो गया था, क्योंकि गांधीजी ने इसमें निम्न चेतावनी भी साथ लगवा दी थी :

"लेकिन यदि यह विधान ३१ दिसम्बर, सन् १६३० या इससे पहले नहीं माना गया तो कांग्रेस उससे बाध्य नहीं होगी, तथा यदि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट उस तारीख तक इस विधान को मंजूर न करेगी तो कांग्रेस देश को यह सलाह देगी कि वह सरकार को कर तथा हर प्रकार की सहायता देना बन्द कर दे तथा अहिंसात्मक असहयोग को फिर से जारी कर देगी।"

श्री जवाहरलाल नेहरू तथा नवयुवक-वर्ग इस चुनौती से इसलिए सन्तुष्ट हो गया था कि उनको विश्वास था कि सरकार कांग्रेस द्वारा स्वीकृत संविधान को कभी भी स्वीकार नहीं करेगी तथा कुछ साल बाद कांग्रेस को पूर्ण स्वाधीनता के लिए सत्याग्रह शुरू कर देना होगा।

इंगलैण्ड में मई, सन् १६२६ के सार्वजनिक निर्वाचनों में अनुदार दल की पराजय के बाद रेमजे मेक्डॉनल्ड के नेतृत्व में मजदूर सरकार सत्तारूढ़ हुई। इससे भारतवासियों के हृदयों में नवीन आशा का संचार हुआ क्योंकि निर्वाचनों के उपरान्त ही रेमजे मेक्डॉनल्ड ने यह घोषणा की थी :

इंगलैण्ड में मजदूर सरकार का सत्तारूढ़ होना

"मुझे आशा है कि वर्षों की तो कौन कहे, कुछ महीनों में ही राष्ट्रमण्डल में एक अन्य डोमिनियन, एक अन्य प्रजाति का डोमिनियन, वह डोमिनियन जो राष्ट्रमण्डल में एक समकक्ष के रूप में आदर पायेगा, सम्मिलित हो जायगा।" भारत के वायसराय लॉर्ड इरविन को जून मास में इंगलैण्ड बुलाया गया तथा कई मासों के विचार-विमर्श के बाद वह २६ अक्टूबर, सन् १६२६ को भारत वापिस लौटे तथा उन्होंने ३१ अक्टूबर को भारतवासियों के लिए एक घोषणा प्रकाशित की।

इरविन घोषणा

इस घोषणा का आधार ब्रिटिश सरकार द्वारा सन् १६१७ में उद्घोषित नीति बतलायी गयी जिसके अनुसार भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रखते हुए शनैः शनैः उत्तरदायित्व शासन के योग्य बनाना था। घोषणा में यह भी कहा गया कि ब्रिटिश सरकार का ध्येय अन्त में भारत को उपनिवेश का दर्जा प्रदान करना था। वायसराय ने यह भी कहा कि रियासतों तथा अन्य विभागों की कठिनाइयों पर विचार करने के लिए एक गोलमेज-परिषद् बुलायी जायगी जिसमें भारत के शासन-सुधार की समस्या पर विचार किया जायगा, यद्यपि तत्सम्बन्धी अन्तिम निर्णय ब्रिटिश पार्लियामेण्ट करेगी।

उपर्युक्त घोषणा जारी करने से वायसराय तथा ब्रिटिश सरकार यह समझती थी कि भारतीय सन्तुष्ट हो जायेंगे तथा यह मान लेंगे कि औपनिवेशिक स्वराज्य मिलने में देर नहीं परन्तु भारतीय अब अंग्रेजों की कूटनीति समझ गये थे तथा इस घोषणा से वह समझ गये कि सरकार न तो उस समय औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान

कर रही थी तथा न ही नियत समय में उसे देने का कोई वायदा कर रही थी। इन्द्र विद्यावाचस्पति के मत में यह घोषणा केवल "औपनिवेशिक स्वराज्य से सम्बन्ध रखने वाली समस्या पर विचार करने के लिए एक परिषद् तथा एक पार्लियामेण्ट्री सब-कमेटी के होने की सम्भावना की सूचना थी। कुँआ खोदने के विषय में विचार करने की सम्भावना की सूचना से देश की स्वाधीनता के लिए उत्कट प्यास कैसे बुझ सकती थी।"[1]

कोई विशेष आशा न रखते हुए भी देश के नेताओं ने सहिष्णुता से काम लिया। दिल्ली में कांग्रेस की महासमिति की बैठक में सरकार की सद्इच्छाओं का स्वागत करते हुए यह माँग की गयी कि वह राजनीतिक बन्दियों को छोड़ दे। एक वक्तव्य में नेताओं ने कहा, "हम समझते हैं कि प्रस्तावित परिषद् औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का समय निश्चित करने को नहीं वरन् ऐसे स्वराज्य का संविधान निर्मित करने को बुलायी जायगी।" यह भी अपील की गयी कि "शासन में उदारवादी भावनाओं का संचार होना चाहिए।" पण्डित जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बोष इससे असन्तुष्ट हुए तथा उन्होंने कांग्रेस कार्य-समिति से त्यागपत्र दे दिया।

इंगलैण्ड में टोरी दल का विरोध

वायसराय की घोषणा पर इंगलैण्ड में तूफान खड़ा हो गया। हाउस ऑफ लॉर्ड्स में उस पर जो बहस हुई, उससे "ब्रिटिश राजनीति का चेहरा उघाड़ कर रख दिया।" टोरियों ने औपनिवेशिक स्वराज्य की चर्चा का विरोध किया तथा यह कहा कि मजदूर सरकार की भारत-नीति, अब तक अपनायी गयी नीति के प्रतिकूल हो। मजदूर सरकार ने विरोधी दल की खुशामद करने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी। भारतमन्त्री ने अपने उत्तर द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वस्तुतः घोषणा के शब्दों में भेद था, तथापि नीति पुरानी ही थी। इस प्रकार मजदूर सरकार एक ओर तो भारतीयों को झूठी आशा बँधा रही थी ती तथा इंगलैण्ड में वह आश्वासन दे रही थी कि भारत-नीति में किसी प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया जायगा।

इरविन की भारतीय नेताओं से भेंट

लॉर्ड-सभा के वाद-विवाद का महात्मा गांधी तथा अन्य भारतीय नेताओं पर बुरा प्रभाव पड़ा। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने यह उचित समझा कि वायसराय से मिलकर वह सब बातें साफ कर लें। २३ दिसम्बर को बातचीत के लिए जाते हुए वायसराय की गाड़ी के नीचे बम फट गया परन्तु वह बच गये। इस बातचीत में सर तेजबहादुर सप्रू, पण्डित मोतीलाल नेहरू; सरदार बल्लभभाई पटेल तथा मिस्टर जिन्ना भी उपस्थित थे तथा इसका कोई फल नहीं निकला क्योंकि लॉर्ड इरविन इस बात का आश्वासन देने को तैयार नहीं हुए

1 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० २७१।

कि भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के प्रश्न को दृष्टि में रखते हुए ही गोलमेज-परिषद् में विचार-विमर्श होगा।

लाहौर कांग्रेस, १९२९

दिसम्बर के अन्तिम दिनों में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में रावी के तट पर होने वाला था। इसके अध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू हुए। इसमें कांग्रेस ने यह घोषणा की कि कांग्रेस का अन्तिम ध्येय अब पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना था। ३१ दिसम्बर की रात्रि को १२ बजकर १ मिनट पर स्वतन्त्र भारत के तिरंगे झण्डे को फहराया गया तथा महासमिति को यह अधिकार दिया गया कि वह जब चाहे तथा जहाँ चाहे, सविनय अवज्ञा तथा कर-बन्दी का कार्यक्रम चालू कर दे। २ जनवरी को कार्यसमिति ने निश्चय किया कि २६ जनवरी 'स्वतन्त्रता दिवस' निश्चित किया गया तथा इस दिन पढ़े जाने के लिए एक घोषणा-पत्र अंगीकार किया। इस घोषणा-पत्र ने ब्रिटिश सरकार को भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दुरावस्था के लिए दोषी ठहराते हुए स्वतन्त्रता को भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया। इस घोषणा-पत्र का प्रारम्भिक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है, जो भारत की तत्कालीन मनोवृत्ति का परिचायक है :

२६ जनवरी घोषणा-पत्र

"हम भारत के प्रजाजन अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल स्वयं भोगें तथा हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों, जिससे हमें भी विकास का पूरा अवसर मिले। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार यह अधिकार छीन लेती है तो प्रजा को उसे बदल देने या नष्ट कर देने का पूरा अधिकार है। भारत की अंग्रेजी सरकार ने केवल देश की प्रजा को ही पराधीन नहीं बनाया है, इस सरकार का आधार ही गरीब भारत के शोषण पर है, और इसने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भारत का नाश कर दिया है, अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूरी स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए।"[1]

---

1 "We believe that it is the inalienable right of the Indian people as of any other people, to have freedom and to enjoy the fruits of their toil and have the neccessities of life so that they may have full opportunities of growth. We believe also that if any Government deprives the people of these rights and oppresses them, the people have a further right to alert it or to abolish it. The British Government in India has not only deprived the Indian people of their freedom but has based itself on the exploitation of the masses, and has ruined India economically, politically, culturally and spiritually. We believe, therefore, that India must severe the British connection and attain Purna Swaraj or complete independence."

इस प्रस्ताव के अन्त मे कहा गया :

"जिस शासन ने हमारे देश का सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी दृष्टि में मनुष्य तथा भगवान दोनों के प्रति अपराध है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, अतः हम ब्रिटिश सरकार से यथा-सम्भव स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे तथा सविनय अवज्ञा एवं कर-बन्दी तक के साज सजावेंगे। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि हम राजी-राजी सहायता देना तथा उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बिना कर देना बन्द कर सकें तो इस तो इस अमानुषी राज्य का विनाश निश्चित है; अतः हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के हेतु कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाएँ देगी, उनका हम पालन करेंगे।"

देश की आन्तरिक स्थिति

सन् १९२९ में देश में आन्तरिक उथल-पुथल में वृद्धि हो गयी। नवयुवक-वर्ग अब अत्यधिक सक्रिय था। स्थान-स्थान पर युवक संघ, नौजवान भारत सभा, आदि सभाओं का संगठन होने लगा। विद्यार्थी तथा मजदूर आन्दोलन भी अब जोर पकड़ने लगा था। ऐसी संस्थाओं के उत्सवों की अध्यक्षता या तो श्री जवाहरलाल जी करते, अथवा सुभाष बाबू। इन दोनों युवक-नेताओं के वैयक्तिक प्रभाव तथा आवेषपूर्ण भाषणों से समस्त देश का वातावरण गरम हो गया। जनता में राजनीतिक दृष्टि से तो विक्षोभ था ही परन्तु भाग्यवश उसे बढ़ाने के अन्य कारण भी उत्पन्न हो गये।

मिस मेयो की 'मदर इण्डिया'

इसी बीच एक अमरीकी महिला मिस मेयो भारत आयीं तथा यहाँ रहकर उन्होंने भारतीय अफसरों आदि से मिलकर भारत-विरोधी मसाला इकट्ठा कर एक पुस्तक 'मदर इण्डिया' प्रकाशित की। इसमें भारतीयों के सम्बन्ध में असत्य एवं अत्युक्तिपूर्ण बातें दी गयीं थीं।[1] गांधीजी ने इस पुस्तक 'गटर-निरीक्षक

1 Miss Katherine Mayo's book, 'Mother India' published in the summer of 1927 also caused considerable excitement. It was supposed to be a government inspired publication, since the government had afforded the author during her stay in India all possible facilities. It was understood as a malicious effort to defame India and Hinduism in particular at a time when a parliamentary enquiry into her fitness to rule was impending. All condemned the book as scurrilous and rubbish. In the Legislative Assembly the Home Member had to make a statement that his government or the India Office had no connection with the book.

India in 1927-1928, pp. 192-194 (Quoted from Raghuvanshi, V. P. S. : The Indian Nationalist Movement & Thought, p. 197.

की रिपोर्ट' कहा। इस पुस्तक ने भारतीयों के हृदयों को गहरी ठेस पहुँचायी तथा उनके मन में पश्चिम के निवासियों के प्रति विद्रोह तीव्र होने लगा।

आर्थिक स्थिति तथा मजदूर हड़तालें

इस समय जनता की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब थी। विश्वव्यापी मंदी के प्रभाव से भारत भी अछूता न रहा कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के मूल्य ५०% से अधिक गिर गये तथा किसानों की स्थिति ऐसी नहीं रह गयी कि वह कर, लगान तथा अपने ऋण अदा कर सकें तथा अपनी जीविका की आवश्यक वस्तुएँ खरीद सकें।[1] औद्योगिक तथा व्यापारी-वर्ग में भी रुपये की नयी विनिमय-दर के निर्धारण से असन्तोष पैदा होगया। सरकार ने इंगलैण्ड के हित में रुपये की कीमत १६ पैंस से बढ़ाकर १८ पैंस करदी। इससे व्यापारी-वर्ग ने कांग्रेस का साथ दिया तथा मुक्तहस्त होकर उसके कोष में दान दिया। इसी बीच मजदूरों के मध्य भी वर्ग-चेतना बढ़ती जा रही थी। वस्तुओं के दाम कम होते जा रहे थे तथा रुपये के महँगे होने पर उनके वेतन में कोई वृद्धि नहीं हुई थी। बंगाल की जूट मिलों, जमशेदपुर के लोहे के कारखानों तथा बम्बई की सूत-कपास की मिलों में भारी हड़तालें हुईं।[2] श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि इस समय श्रमिक आन्दोलन, विचारधारा तथा संगठन, दोनों में वर्ग-चेतना उग्र तथा भयावनी होती जा रही थी।[3] मजदूर आन्दोलन को संघर्षशील रूप धारण करते देखकर सरकार ने दमन-नीति का सहारा लिया। मार्च, सन् १९२९ में मजदूर आन्दोलन के प्रमुख ३१ नेताओं पर सरकार के उखाड़ फेंकने के अपराध में मेरठ में मुकद्मा चलाया गया। यह मुकद्मा ४ वर्ष तक चला तथा न तो अभियुक्तों की जमानत की गई, न जूरी-फैसले की सुविधा प्रदान की गई। जनवरी सन् १९३३ में उनमें से २७ को कठोर सजाएँ दी गयीं। इस मुकद्मे में लगभग १६,००,००० रु० सरकार ने यह सिद्ध करने में खर्च किए कि मजदूर नेता अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिष्ट आन्दोलन के साथ मिलकर भारत में भी रूस के समान सरकार की स्थापना करना चाहते थे।

सरकार अपनी सेना तथा पुलिस पर अभिमान करती थी तथा समझती थी कि वह दमन-नीति अपनाकर जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को कुचल देगी। इस

---

1 *Polak* : Mahatma Gandhi, p. 173.

2 सन् १९२८ में हड़तालों की संख्या २०३ तथा सन् १९२९ में १४१ थी।

3 "And so there was industrial unrest and labour troubles and the gigantic strikes in Bombay which impressed everybody and frightened both the employers, and Government. The Labour Movement was becoming class-conscious. militant and dangerous both in ideology and in organisation."

—*Jawahar Lal Nethru* : Autobiography, p. 188

आतंकवाद का पुनर्जन्म

बीच सन् १९२८-२९ में अतंकवाद गहरे तथा व्यापक रूप में भड़क उठा। भगतसिंह के नेतृत्व में पंजाब में तथा चन्द्रशेखर 'आजाद' के नेतृत्व मे संयुक्त प्रान्त में क्रान्तिकारी अपना संगठन बना रहे थे। बिहार व बंगाल में भी क्रान्तिकारी सक्रिय हो रहे थे। इसके पूर्व सन् १९२५ में काकोरी काण्ड हो चुका था तथा अब सितम्बर, सन् १९२८ में चारों प्रान्तों के प्रमुख क्रान्तिकारी दिल्ली के फीरोजशाह के मेले में एकत्रित हुए तथा उन्होंने 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी' बनाने का निश्चय कर यथासम्भव शीघ्र कार्यवाही करने का निश्चय किया। इन लोगों ने बहुत से शस्त्रास्त्रों का संग्रह किया तथा बम बनाने के कारखाने स्थापित किये। इन्होंने आवश्यकता के लिए डकैतियों द्वारा धन भी संग्रह किया। उत्तरी भारत में कोई भी क्रान्तिकारी बम बनाने में कुशल नहीं था; अतः यतीन्द्रनाथदास को कलकत्ते से विशेषतया बुलाया गया। इसी दल ने लाला लाजपतराय को लाठियों का आघात पहुँचाने वाले अधिकारी को भी मारने की योजना बनाई परन्तु पहचानने की गलती से दूसरा अधिकारी मारा गया।

सरकार आतंकवाद का पुनर्जन्म देखकर घबड़ा गयी तथा उसने एक नया अस्त्र 'पब्लिक सेफ्टी बिल' के रूप में बनाया। इस बिल का लगभग वही उद्देश्य था, जो

पब्लिक सेफ्टी बिल

रौलट बिलों का था। यह बिल पहली बार सन् १९२८ के सितम्बर मास में पेश किया गया। इस बिल का व्यवस्थापिका में बहुत विरोध किया गया। सरकार अपनी जिद पर जमी रही तथा अन्त में मत-विभाजन होने पर पक्ष तथा विपक्ष मे समान मत आये। असेम्बली के सदस्य विट्ठलभाई पटेल ने अपने निर्णायक मत से बिल को अस्वीकृत करा दिया। सरकार इससे तिलमिला गई। २९ जनवरी सन् १९२९ को पुनः बिल असेम्बली में पेश किया गया। २ अप्रैल को जब बिल पर विचार होने लगा तो अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने एक महत्वपूर्ण वक्तव्य द्वारा सरकार को परामर्श दिया कि वह बिल को वापस ले ले, या मेरठ षड्यन्त्र में ३१ आदमियों पर चलाये गये मुकद्दमे को उठाले। उनकी सम्मति में सेफ्टी बिल तथा मेरठ का अभियोग लगभग एक ही विषय था तथा जो बात सरकार के विचाराधीन हो, उस पर संसद में विचार नहीं होना चाहिए। ८ अप्रैल को इस बिल के विरोध करने के हेतु भगतसिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने असेम्बली हॉल में सरकारी बैंचों के बीच एक बम फेंका। वह दोनों भागे नहीं तथा किसी को मारना भी नहीं चाहते थे वरन् बम के धड़ाकों द्वारा अँग्रेजी सरकार के कानों तक भारतवासियों की उमंग का संदेश पहुँचाना चाहते थे।[1] इन दोनों को १६ जून, सन् १९२९ को आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। इस बीच लाहौर षड्यन्त्र के मामले में बहुत सी

---

1 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० २६६।

गिरफ्तारियाँ की गयीं तथा मुखबिरों के बयान पर भगतसिंह भी शामिल कर लिये गये। जेल में राजनीतिक वन्दियों के साथ बहुत खराब व्यवहार होता था। भगतसिंह तथा यतीन्द्रनाथदास ने भूख-हड़ताल कर दी तथा बाद में १४ सितम्बर को यतीन्द्रनाथदास ६२ दिनों के उपवास के बाद वीरगति को प्राप्त हुए। इस बलिदान के उपलक्ष में देश भर में हड़तालें हुईं।

संक्षेप में देश में राजनीतिक परिस्थिति अत्यन्त खराब होती जा रही थी। आर्थिक परिस्थिति पहले से ही खराब थी ही। अतः सन् १९२९ के अन्त तक देश के वातावरण में एक भयंकर तूफान उठने के काफी स्पष्ट प्रमाण दीखने लगे थे।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट

साइमन कमीशन जिस समय भारत आया तथा जिस प्रकार विरोध किया गया, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। भारतीयों के मन में इस कमीशन के प्रति कोई रुचि नहीं थी। थोड़े से मुस्लिम संगठनों तथा दक्षिण की जस्टिस पार्टी को छोड़कर देश के सभी राजनीतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया था परन्तु कमीशन के सदस्य बहिष्कार के बाद भी अपने काम में लगे रहे। इसके द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट मई १९३० में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में भारत की राजनीति की सभी कठिनाइयों तथा समस्याओं पर प्रकाश डाला गया, परन्तु इसने असहयोग आन्दोलन के कारण भारत में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की ओर तथा जनता की आकांक्षाओं की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया तथा उसकी पूर्ण उपेक्षा की। एन्ड्रूज का कहना है, "इसने अपने सामने उस भारतवर्ष को रखा जो उन्होंने असहयोग आन्दोलन के शुरू होने के ३० वर्ष पूर्व देखा था तथा वर्तमान राष्ट्रीय जागृति के परिणाम-स्वरूप उदीयमान भारत का इससे परिचय नहीं प्राप्त होता"[1] इसकी रिपोर्ट की निन्दा करते हुए सर शिवास्वामी अय्यर ने, जो अत्यन्त उदारवादी विचारों के थे, कहा, "इसे रद्दी के ढेर में फाड़कर फेंक देना चाहिये।" सर शफात अहमदखाँ ने कहा कि इसने केन्द्र में उत्तरदायित्व के मुख्य तथा महत्वपूर्ण प्रश्न की उपेक्षा की। इसके विपरीत इसने केन्द्र की कार्यकारिणी को अत्यन्त निरंकुश तथा अनुत्तरदायी बनाने का सुझाव रखा। सर शफात ने यह भी लिखा है कि यदि इसकी सिफारिशों को मान लिया गया होता तो "गवर्नर-जनरल शाहजहाँ से भी अधिक शक्तिशाली तथा शाहआलम से भी अधिक अनुत्तरदायी बन गया होता।"[2] संक्षेप में, भारतीय लोकमत ने इस रिपोर्ट को अस्वीकार किया। इस रिपोर्ट के पक्ष में प्रोफेसर

1 "It deals more with that old India which I knew when I first went out nearly thirty years ago, before the national movement had started ; it showed little understanding of the young India which we see rising today on the tide of national upheaval."
—*Andrews* : India and the Simon Commission, p. 39.

2 *Chintamani* : Indian Politics Since the Mutiny, p. 172.

कूपलैण्ड का कहना है कि इसने 'राज्य-विज्ञान के पुस्तकालय में एक और श्रेष्ठ कृति की वृद्धि की।"[1] पी० ई० राबर्ट्स ने अपनी पुस्तक ब्रिटिश इण्डिया में इस रिपोर्ट की प्रशंसा की।[2] इस रिपोर्ट की सिफारिशों पर ब्रिटिश सरकार ने भी कोई कार्यवाही नहीं की। इस रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य की भी कोई चर्चा नहीं की गयी तथा इसके विपरीत भारत में जातिगत तथा सम्प्रदायगत द्वेषों की चर्चा करते हुए कहा गया कि भारत में संसदात्मक अथवा उत्तरदायी शासन के प्रयोग ने सफलता नहीं प्राप्त की थी, परन्तु इसने इसका अन्त करने की सिफारिश नहीं की। इस रिपोर्ट में कहा गया कि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाय तथा प्रान्तीय प्रशासन के सब विभाग व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के हाथ में हों। इसके साथ ही यह भी सिफारिश की गयी कि प्रान्तीय गवर्नर को कुछ विशेषाधिकार अवश्य प्रदान किये जायें जिससे वह कतिपय महत्वपूर्ण मामलों में आवश्यकतानुसार मन्त्रियों के निर्णय की उपेक्षा न कर सकें।

प्रान्तों में रक्षा-कवचों के साथ उत्तरदायी शासन

केन्द्र में संघात्मक शासन

रिपोर्ट में केन्द्र में संघात्मक-शासन की व्यवस्था की गयी। ऐसे संघ में प्रत्येक प्रान्त यथासम्भव अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होना था। इसने यह सिफारिश की कि केन्द्रीय विधान-मण्डल का पुनर्गठन संघीय आदर्श पर किया जाय तथा निम्न सदन का नाम 'फेडरल असेम्बली' रखा जाय जिससे सदस्य प्रान्तीय विधान-मण्डलों द्वारा परोक्षतः निर्वाचित हों परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इसने केन्द्र में किसी भी प्रकार के उत्तरदायी शासन की व्यवस्था नहीं की अर्थात् कार्यपालिका का विधान-मण्डल के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं रखा गया। इसने केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना की सिफारिश ही नहीं की वरन् केन्द्रीय कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका के नियंत्रण से मुक्त रखने की सिफारिश की। साइमन कमीशन ने यद्यपि साम्प्रदायिकता की बुराई की थी, फिर भी इसने साम्प्रदायिक प्रतिधिनित्व की सिफारिश की। प्रान्तों की धारासभाओं के विस्तार करने तथा उसके सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्षरूप से करने की भी कमीशन ने सिफारिश की। कमीशन ने यह सिफारिश की कि संघ की स्थापना से पूर्व भारत में एक वृहत्तर भारत-परिषद् की स्थापना की जाय जिसमें भारतीय प्रान्तों तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों तथा इसके द्वारा वह अपनी सामान्य समस्याओं का

केन्द्र में उत्तरदायी शासन नहीं

वृहत्तर भारत परिषद्

1 *Coupland* : The Indian Problem—1833-1935, p. 100.

2 The Simon Commission Report "will always stand out as one of the greatest of India State Papers."
—*Roberts, P. E.* : British India, p. 598.

निराकरण करें। रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि शनैः शनैः सेना का भारतीयकरण किया जाय तथा ऊँची नौकरियों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाय।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि साइमन कमीशन तथा इसकी रिपोर्ट का भारत के करीब-करीब सभी राजनीतिक दलों ने विरोध किया। यदि हम सन् १६३५ में निर्मित होने वाले भारत शस्त्र अधिनियम का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि

मूल्यांकन

उसके उपबन्धों की तुलना में रिपोर्ट की सिफारिशें खराब नहीं थीं तथा इनमें बहुतों ने नवीन शासन अधिनियम में स्थान भी पाया। द्वैध शासन को समाप्त करने की सिफारिश वास्तव में उत्साहवर्द्धक थी[1] तथा प्रान्तों में स्वायत्त-शासन स्थापित करने की योजना तो अच्छी थी, परन्तु कमीशन ने गवर्नरों को इतने अधिक विशेषाधिकार प्रदान करने का सुझाव दिया था कि वह लोगों को रुचिकर न लगा। इससे गवर्नर बिल्कुल तानाशाह हो सकता था। साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने देश में संसदीय शासन की स्थापना को ठुकरा दिया तथा केन्द्र में भी उत्तरदायी शासन की स्थापना का इसने विरोध किया। इसका कारण रिपोर्ट में यह दिया गया कि "भारतीय स्वशासन के विकास पर एक व्यापक दृष्टिपात करना अत्यन्त आवश्यक है।.......उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन की स्थापना की अपरिपक्वावस्था में ही केन्द्र में उत्तरदायित्व पूर्ण सिद्धान्त को लागू कर देने से उसका परिणाम विकास के स्थान पर अवनति ही अधिक होगा। ....भारतवर्ष के लिए अंग्रेजी संसद एक अनुकरणमात्र होगा तथा यह अनुकरण चाहे कितना ही अच्छा हो, फिर भी उसके वास्तविक अर्थ में अवश्य ही विकृति आ जायगी।.......अंग्रेजी विधान ऐसा नहीं है कि उसे हर समय तथा हर स्थान पर लागू किया जा सके।" यही कारण है कि भारत ने भी इन सिफारिशों को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि जनता तो औपनिवेशिक स्वराज्य की कामना कर रही थी। केन्द्र में बिल्कुल अनुत्तरदायी शासन तथा केन्द्री व्यवस्थापिका के अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था भी भारतीय राजनीतिज्ञों को रुचिकर न लगी। फिर भी संघ तथा देशी राज्यों के मध्य संघ स्थापित करने की योजना दूरदर्शितापूर्ण थी। इसके पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि यदि भारतीय लोकमत ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया होता तो प्रान्तीय स्तर पर पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना सन् १६३७ से पहले हो गयी होती।

---

1 "It was probably foolish of Indian opinion to repudiate the Report out and out. If it had been accepted, the British Government could hardly have failed to work on it, and responsible government in provinces would have achieved much earlier than it could be under any latter scheme."

(*Keith, A. B.*: Constitutional History of India, pp. 293-294)

१०

सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा गोलमेज-सम्मेलन

आर्थिक दुरावस्था, नौकरशाही के दमन-चक्र आदि से देश के राजनीतिक वातावरण का तापमान ऊंचा उठ रहा था तथा आतंकवादी दृष्टिकोणों का पुनर्जन्म हो रहा था। ब्रिटिश सरकार उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना के प्रश्न की उपेक्षा कर रही थी। २६ जनवरी, सन् १९३० को समस्त देश में स्वाधीनता दिवस मनाया जा चुका था तथा लोगों ने जोश से शपथें ली थीं। डा० पट्टाभि सीतारमैय्या ने लिखा है कि देश में "स्वाधीनता दिवस जिस ढंग से मनाया गया, उससे प्रकट हुआ कि ऊपर से दीखने वाली शिथिलता तथा निराशा की तह में असीम भावना, उत्साह तथा स्वार्थ-त्याग की तैयारी दबी पड़ी थी। स्वदेश-भक्ति तथा आत्म-बलिदान के अंगारे राज्य-भक्ति अथवा कानून तथा व्यवस्था की गुलामी की राख से ढँके मात्र थे। आवश्यकता इतनी ही थी कि भावना और उत्साह के लाल अंगारों पर जमी हुई राख को फूँक मारकर हटा दिया जाय।" चारों ओर ऐसे चिन्ह दिखाई दे रहे थे कि शीघ्र ही देश में किसी हिंसात्मक क्रान्ति का सूत्रपात न हो जाय। गांधीजी ने परिस्थिति का अध्ययन कर २ मार्च, सन् १९३० को वायसराय को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने यह मत प्रकट किया कि देश में चारों ओर हिंसा का जोर बढ़ता जा रहा था तथा वे एक अहिंसक आन्दोलन द्वारा, जिनके प्रारम्भ करने का वे निश्चय कर चुके थे, न केवल ब्रिटिश शासन के हिंसक बल का ही, अपितु बढ़ते हुए हिंसक दल की संगठित हिंसा का भी सामना करेंगे। इससे पूर्व कांग्रेस १४-१६ फरवरी को साबरमती में होने वाली कांग्रेस की बैठक में गांधीजी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का अधिकार दे चुकी थी तथा

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि

गांधीजी की ग्यारह शर्तें

गांधीजी भी 'यंग इण्डिया' के माध्यम से सरकार के समक्ष ग्यारह शर्तों का प्रस्ताव रख चुके थे तथा गांधीजी ने स्पष्ट कर दिया था कि यदि सरकार इन शर्तों को मान लेगी तो सत्याग्रह की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी।[1]

गांधीजी ने वायसराय को भेजे जाने वाले उपर्युक्त पत्र (जो लॉर्ड इरविन को एक अंग्रेज व्यक्ति रेजीनॉल्ड रेनाल्ड्स द्वारा भेजा गया था) के अन्त में यह भी लिखा :

"यदि मेरा बस चले तो मैं आपको अनावश्यक तो क्या जरा-सी भी कठिनाई में भी नहीं डालना चाहता। यदि आपको मेरे पत्र में कुछ सार दीखे और मुझसे बातचीत करना चाहें और इस कारण इस पत्र को प्रकाशित होने से रोकना चाहें तो इसके पहुँचते ही मुझे तार दे दीजिये। मैं खुशी से रुक जाऊँगा परन्तु इतनी कृपा अवश्य कीजिये कि यदि आप इस पत्र के अभिप्राय से भी सहमत न हों तो मुझे अपने इरादे से रोकने का यत्न न करें। इस पत्र का हेतु धमकी देना नहीं है। यह तो सत्याग्रही का साधारण तथा पवित्र कर्तव्यमात्र है।"

उपर्युक्त पत्र के उत्तर में वायसराय ने अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर देते हुए लिखा कि आप ऐसा कार्य करने जा रहे हैं जिससे कुव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी तथा देश

---

1 गांधीजी द्वारा प्रस्तावित ग्यारह शर्तें निम्नलिलिखित थीं :

१—पूर्णरूप से मद्यनिषेध ;

२—विनिमय की दर घटाकर १ शिलिंग ४ पेंस कर दी जावे ;

३—जमीन का लगान आधा कर दिया जावे ;

४—नमक-कर हटा दिया जाय ;

५—सैनिक-व्यय में आरम्भ से ही कम से कम ५०% की कमी की जाय ;

६—लगान की कमी देखते हुए उच्च पदों के वेतन आधे कर दिये जावें ;

७—विदेशी कपड़े के आयत पर निषेध-कर लगा दिया जाय ;

८- भारतीय समुद्रतट केवल भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित रखने का प्रस्तावित विधेयक स्वीकृत किया जावे ;

९—हत्या तथा हत्या के प्रयत्न में साधारण ट्रिब्यूनलों द्वारा सजा प्राप्त राजनीतिक बन्दियों के अलावा समस्त राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये जावें, समस्त राजनीतिक मुकद्दमे समाप्त किये जावें तथा १२४ (अ) धारा, १८१८ का तीसरा रेग्यूलेशन हटा लिया जावे तथा निर्वासित भारतवासियों को देश वापिस आने की आज्ञा दी जावे ;

१०—खुफिया पुलिस उठा दी जाये अथवा उस पर जनता का नियन्त्रण कर दिया जावे ; तथा

११—आत्मरक्षार्थ हथियार रखने के परवाने दिये जावें तथा उस पर जनता का नियन्त्रण रहे।

पत्रोत्तर और प्रतिक्रिया

में शान्तिपूर्ण वातावरण का अन्त हो जायगा। इस उत्तर के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा, "मैंने रोटी मांगी थी तथा मुझे मिला पत्थर। अंग्रेज जाति केवल शक्ति द्वारा ही दब सकती है; अतः मुझे वायसराय महोदय के उत्तर पर कोई आश्चर्य नहीं है। हमारे राष्ट्र के भाग्य में तो जेलखाने की शान्ति ही एकमात्र शान्ति है। समस्त भारतवर्ष एक विशाल कारागार है। मैं इस अंग्रेजी कानून को मानने से इन्कार करता हूँ तथा इस जबरदस्ती की शान्ति की मनहूस एकरसता को भंग करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ। इस शान्ति से राष्ट्र का गला रुँधा हुआ है। अब उसके हृदय का चीत्कार प्रकट होना चाहिए।"[1]

गांधीजी के सामने सिवाय इसके कि वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दें, अन्य कोई चारा न रह गया। यह निश्चय हुआ कि गांधीजी अपने चुने हुए

डांडी-कूच

७९ कार्यकर्त्ताओं के साथ १२ मार्च, सन् १९३० को डांडी के लिए कूच कर दें तथा वहाँ नमक-कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश करें। साबरमती से डांडी तक की यात्रा, जो लगभग २०० मील थी, उन्होंने २४ दिन में पूरी की। सरदार वल्लभभाई पटेल आगे-आगे जनता में नवीन ज्योति जगाते चले तथा लोगों को गांधीजी के सत्याग्रह के सम्बन्ध बताते चले। समस्त रास्ते ग्रामीण जनता सत्याग्रहियों का अभूतपूर्व स्वागत किया करती थी। इसी बीच सरदार पटेल गिरफ्तार कर लिये गये। इससे गुजरात में भी उत्तेजना फैल गयी। डांडी-यात्रा का दृश्य ऐसा अद्भुत था कि समस्त संसार की दृष्टि उसकी ओर खिंच गयी। देश-विदेश के अनेक पत्र-प्रतिनिधि सारी यात्रा निरन्तर गांधीजी के साथ रहे। ५ अप्रैल को गांधीजी डांडी पहुँचे। वहाँ जो कुछ हुआ, उसका लुई फिशर ने निम्न प्रकार वर्णन किया है :

"५ अप्रैल की रात भर आश्रमवासियों ने प्रार्थना की तथा प्रातः सब लोग गाँधीजी के साथ समुद्रतट पर गये। गांधीजी ने समुद्र में गोता लगाया, किनारों पर लौटे तथा लहरों का छोड़ा हुआ कुछ नमक उठाया। इस प्रकार गांधीजी ने ब्रिटिश सरकार के उस कानून को तोड़ दिया जिसके अनुसार सरकारी ठेके के अतिरिक्त लिया हुआ नमक रखना गुनाह था।...... ...

"नमक उठाने के उपरान्त गांधीजी वहाँ से हट गये। इससे भारत भर को इशारा मिल गया। इसके पश्चात् तो मानो बिना हथियारों का बलवा हो गया।

---

1 "On banded knees, I asked for bread and received a stone instead......India is a vast prison-house. I repudiate this (British) law and regard it as my sacred duty to break the mournful monotony of compulsory peace that is choking the heart of the Nation for want of free vent."

—*Pattabhi*, vol. 1, p. 377.

भारत के लम्बे समुद्रतट पर प्रत्येक ग्रामवासी तसला लेकर नमक लेने के लिए समुद्र में उतर पड़ा। पुलिस ने सामूहिक रूप से गिरफ्तारियाँ शुरू कर दीं तथा बल-प्रयोग भी किया। सत्याग्रही लोग गिरफ्तारी का विरोध नहीं करते थे ; हाँ, अपने बनाये हुए नमक की जब्ती का विरोध अवश्य करते थे"

४ मई की रात को पौन बजे सूरत के अंग्रेज जिला मजिस्ट्रेट ने कराडी में गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया तथा गवर्नर,जनरल के आदेश के अनुसार उन्हें यरवदा जेल पहुँचा दिया गया।[1]

६ अप्रैल को डांडी में नमक-कानून तोड़ना समस्त देश में सविनय अवज्ञा के सूत्रपात का संकेत था। गांधीजी ने आन्दोलन के लिए निम्न कार्यक्रम निर्धारित किया—"गाँव-गाँव को नमक बीनने को निकल पड़ना चाहिए। बहिनों को शराब, अफीम तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देना चाहिए। विदेशी वस्त्रों को जला देना चाहिए। हिन्दुओं को अस्पृश्यता त्याग देनी चाहिए। विद्यार्थी सरकारी विद्यालय छोड़ दें तथा सरकारी नौकर अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दें।" गांधीजी की गिरफ्तारी के उपरान्त कर-बन्दी को भी इस आन्दोलन में शामिल कर लिया गया।

कार्यक्रम

सरकार ने कानून भंग करने वालों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करनी शुरू कर दी, परन्तु ज्यों-ज्यों दमन तीव्र होता जाता, त्यों-त्यों जनता में जोश बढ़ता जाता। अनेक स्थानों पर सरकारी नौकरों ने अपनी नौकरियाँ छोड़ दीं तथा विधान-मण्डल के सदस्यों ने अपनी सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया। गांधीजी की गिरफ्तारी ने जनता में और उत्तेजना भर दी तथा उसका न केवल देश में ही वरन् विश्वव्यापी प्रभाव हुआ। बम्बई, कलकत्ता तथा अनेक स्थानों पर हड़तालें की गयीं तथा बम्बई में लगभग आधी मिलों के ५०,००० मजदूरों ने अपना काम बन्द रखा। समय-समय पर लोगों द्वारा सरकारी पद तथा पदवियों के छोड़ने की खबरें आने लगीं। समस्त देश में प्रदर्शन हुए तथा सरकारी पुलिस ने अत्याचार किये। शोलापुर में गोली चलने के फलस्वरूप २५ व्यक्ति मरे तथा लगभग १००० घायल हुए। कलकत्ता में भी प्रदर्शनकारियों पर पुलिस ने गोली चलायी। देश के बाहर पनामा के भारतीयों ने गांधीजी की गिरफ्तारी पर २४ घण्टे हड़ताल रखी। सुमात्रा के पूर्वी समुद्रतटवासियों ने हड़तालें कीं तथा वायसराय को तार भेजा जिसमें गांधीजी

सरकार द्वारा दमन

---

1 गांधीजी को गिरफ्तार करने का हुक्मनामा इस प्रकार था :
"क्योंकि गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल मोहनदास करमचन्द गांधी की कार्यवाहियों को खतरनाक समझता है, इसलिए उसका आदेश है कि उक्त मोहनदास करम-चन्द गांधी को सन् १८२७ के रेगुलेशन २५ के मातहत प्रतिबन्ध में रखा जाय —और जब तक सरकार की मर्जी हो तब तक वह कैद में रहे तथा उसे तुरन्त यरवदा जेल पहुँचाया जाय।"

की गिरफ्तारी पर खेद प्रकट किया गया। फ्रान्स के पत्रों में भी गांधीजी की गिरफ्तारी का विवरण छपा तथा जर्मनी में वहिष्कार आन्दोलन का प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। वहाँ कपड़े के भारतीय आढ़तियों ने भारत में माल भेजने की मनाही करदी। रूटर के संवाददाता के अनुसार सैक्सनी की सस्ती छींटों के उद्योग को भी धक्का पहुँचा तथा नैरोवी में भारतीयों ने पूर्ण हड़तालें कीं।

देश के भीतर स्थान-स्थान पर नमक-कानून तोड़ने के साथ लोगों ने विदेशी कपड़ों तथा शराब की दुकानों पर धरना दिया। बम्बई में विदेशी कपड़ों को गदहों पर लाद कर एक जुलूस निकाला गया तथा सत्याग्रहियों ने समस्त रास्ते लोगों से याचना की कि वह विदेशी कपड़े तथा सामग्रियों का वहिष्कार करें। ब्रेल्सफोर्ड के अनुसार सन् १९३० की शरद तक विदेशी कपड़ों का आयात पिछले वर्ष के इन्हीं मासों की तुलना में एक-तिहाई अथवा चौथाई रह गया था तथा बम्बई में अंग्रेज व्यवसायियों की १६ मिलें बन्द हो गयीं।[1] २१ मई को धरसाना में जनता ने नमक-गोदाम पर हमला कर दिया। इसमें पुलिस के पाशविक लाठीप्रहार से जनता को बहुत चोटें आयीं। सड़कें पीड़ा से कराहते तथा खून से सने लोगों से पट गयीं। 'न्यू फ्रीमेन' के संवाददाता वेब मिलर ने इस काण्ड के सम्बन्ध में लिखा। "मैं बीस देशों में अट्ठारह वर्षों से सम्वाददाता का कार्य कर रहा हूँ। इस काल में मैंने असंख्य उपद्रव, मारपीट तथा विद्रोह देखे हैं परन्तु धरसाना के समान पीड़ाजनक दृश्य कभी देखने में नहीं आये। कभी-कभी तो यह इतने दुःखद हो जाते थे कि क्षण भर के लिए आँख फेर लेनी पड़ती थी। स्वयंसेवकों का अनुशासन अद्भुत चीज थी। मालूम होता था कि इन लोगों ने गांधीजी के अहिंसा धर्म को घोलकर पी लिया था।"[2]

२३ अप्रैल को पेशावर में सरकार ने अत्यन्त निर्दयतापूर्वक आन्दोलन का दमन किया। वहाँ जनता के जुलूस पर कहा जाता है कि तीन घण्टों तक बीच-बीच में थोड़ा व्यवधान देकर गोलियाँ चलायी गयीं। ज्योंही सैनिकों ने गोली बन्द की, पुलिस ने लाठी चलानी शुरू कर दी। सरकार का कहना था कि मृतकों की संख्या केवल ३० थी परन्तु घटनास्थल पर मौजूद लोगों का कहना था कि ३०० से अधिक लोग मरे थे तथा १५०० से अधिक घायल हुए थे। इसके बाद भी पेशावर में एक सप्ताह तक शायद ही कोई ऐसा दिन गया हो जब गोलियाँ न चली हों। पेशावर के दमन की पुनरावृत्ति समस्त देश में हुई। बम्बई में १ अगस्त को लोकमान्य तिलक की बरसी पर निकले जुलूस पर सरकार ने अत्याचार किया। कलकत्ता में

---

1 *Brailsford* : Rebel India, p. 36.

2 "In eighteen years of my reporting in twenty countries, during which I have witnessed innumerable civil disturbances, riots, street fights and rebellions, I have never witnessed such narrowing scenes as at Dharsana."

(Quoted by *Tendulkar* : Mahatma, vol. III, p. 48)

देशबन्धुदास की बरसी पर पुलिस ने जुलूस पर घोड़े दौड़ा दिये तथा महिलाओं को भी नहीं छोड़ा गया। गुजरात में किसानों पर भी इतने अधिक अत्याचार किये गये गये कि लगभग एक लाख व्यक्ति अपने घरों को छोड़कर निकटस्थ बड़ौदा रियासत में चले गये। रैवरेन्ड वैरियर एल्विन्स ने अपनी पुस्तक 'डेजर्टेड विलेजेज ऑफ गुजरात' में लिखा है कि हजारों किसानों के गांव पुलिस के अत्याचारों से उजड़ गये थे। उन्होंने जो तथ्य अपने ग्रन्थ में दिये हैं, उनसे भारत की जनता का अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के दृढ़ निश्चयों तथा उन अत्याचारों का पता चलता है जो एक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर बलपूर्वक स्थापित किये हुए आधिपत्य को बनाये रखने के लिए किये। अनेक स्थानों पर विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को पुलिस ने स्कूलों में घुसकर मारा था। सरकार ने कांग्रेस को अवैध घोषित करके १३ अध्यादेशों को जारी करके जनता पर अत्याचार किया। सरकार की दमनात्मक कार्यवाहियों का बाहरी जनता को पता न चले, इस कारण समाचार-पत्रों पर भी कठोर प्रतिबन्ध लगाया गया था। सन् १९३० के जुलाई मास में एक सरकारी प्रवक्ता ने असेम्बली में बताया था कि देश के १५१ विभिन्न पत्रों से २ लाख ४० हजार रुपये जमानत स्वरूप माँगे गये थे तथा ९ पत्र जमानत न दे सकने के कारण बन्द हो गये। एक वर्ष से अधिक समय में अनुमानतः ९०,००० से अधिक सत्याग्रही गिरफ्तार किये गये थे। करबन्दी-आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात् हरण तथा नीलाम का भी आसरा लिया था।

आन्दोलन तथा स्त्रियाँ

गांधीजी के आन्दोलन का ऐसा व्यापक प्रभाव था कि स्त्रियाँ भी पीछे नहीं रहीं। अनेक स्थानों पर उन्होंने विदेशी कपड़ों तथा शराब की दूकानों पर धरना दिया। गांधीजी के पकड़े जाने पर नमक-कानून का उल्लंघन करने के काम का नेतृत्व श्रीमती सरोजिनी नायडू ने किया था तथा वह १९ अप्रैल को वडाला के नमक-कारखाने पर धावा करते गिरफ्तार हुईं। अकेले दिल्ली नगर में १६०० स्त्रियां दूकानों पर धरना देने के कारण गिरफ्तार हुई थीं। वह अपने ऊपर पुलिस द्वारा किये गये अमानुषिक अत्याचारों से भी विचलित नहीं हुई थीं। स्त्रियों पर

पुलिस के अत्याचार

घोड़े दौड़ा देना या उन पर लाठियां बरसाना साधारण कार्य रहता था। २१ जनवरी, सन् १९३१ को बोरसद में एक उत्सव के मनाने के लिए उन्होंने जुलूस निकाला। पुलिस ने उसे भी प्रदर्शन माना तथा स्थान-स्थान पर स्त्रियों ने पानी पिलाने के लिए मटकों की व्यवस्था की थी। पहले तो पुलिस ने मटकों को फोड़ कर अपनी वीरता का प्रदर्शन किया तथा फिर जुलूस को तितर-बितर करने की चेष्टा की। उसमें सफलता न पाने पर पुलिस ने स्त्रियों को पीटा तथा उनकी छाती पर अपने बूट रखकर शूरता का पदक प्राप्त किया।[1]

---

1 इन्द्र विद्यावाचस्पति : स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० २८९।

अधिकांश भारतीय मुसलमानों ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लिया। गांधीजी के वे साथी भी, जिनके साथ उन्होंने खिलाफत आन्दोलन चलाया था, अब उनकी नीति के विरोधी थे। मिस्टर जिन्ना का कहना था कि मुसलमान गांधीजी के आन्दोलन में सहयोग इसलिए नहीं दे रहे थे कि वह आन्दोलन भारत की स्वतन्त्रता के लिए नहीं था, अपितु भारत के नौ करोड़ मुसलमानों को बलात् हिन्दुओं के आश्रित बना देने के लिए था। मुस्लिम लीग तथा सरकार के गठनबन्धन होने के बावजूद भी कुछ देशभक्त ऐसे थे जिन्होंने आन्दोलन में भाग लिया। पश्चिमोत्तर प्रान्त में खुदाई खिदमतगारों ने आन्दोलन में भाग लिया तथा उसके लिए अनेक नृशंसताएँ सहीं। पेशावर में उन्हें मशीनों से भून डाला गया था।

भारतीय मुसलमान तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन

समझौते के असफल प्रयत्न

जैसे-जैसे आन्दोलन बढ़ता गया, वैसे-वैसे ही सरकार का दमनचक्र भी तेजी से चलता गया। इसके प्रतिकार में देश में आतंकवाद में भी वृद्धि होती गयी। जून मास में इंगलैण्ड के मजदूरदलीय अखबार 'डेली हैरल्ड' के प्रतिनिधि ने पंडित मोतीलाल नेहरू से मिलकर इस प्रश्न पर बातचीत की कि कांग्रेस किन शर्तों पर गोलमेज-सम्मेलन में भाग ले सकती है। इसी प्रतिनिधि ने इस युग के सन्धि के दूत-युगल श्री जयकर तथा सर सप्रू से भी बातचीत की। सरकार की अनुमति से यह दोनों सरकार तथा कांग्रेस के मध्य समझौता कराने के लिए गांधीजी से यरवदा जेल में मिले तथा बाद में नैनी सेंट्रल जेल में पंडित मोतीलाल नेहरू व जवाहरलालजी से मिले। जुलाई, सन् १९३० में दोनों नेहरू (मोतीलालजी तथा जवाहरलालजी), वल्लभभाई पटेल, जयरामदास दौलतराम, सैयद महमूद आदि यरवदा जेल में ले जाये गये। बहुत विचार-विमर्श के उपरान्त कांग्रेस ने निम्न शर्तें रखीं :

सप्रू-जयकर शान्ति-प्रयास

(१) भारतवासियों का यह अधिकार स्वीकार कर लिया जाय कि यदि वह चाहें तो ब्रिटिश साम्राज्य से इच्छानुसार पृथक् हो सकेंगे।

(२) भारत में जनता के प्रति एक उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जिसे अर्थ तथा प्रतिरक्षा सम्बन्धी भी सभी अधिकार प्राप्त हों।

(३) भारत को यह अधिकार दिया जाय कि वह अपने तथाकथित सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में निष्पक्ष जाँच करा सके।

इसके साथ यह भी माँग रखी गयी कि राजनीतिक बन्दियों को छोड़ दिया जाय।

वायसराय ने इन माँगों के आधार पर वार्तालाप करने में असमर्थता प्रकट की। राजनीतिक बन्दियों को छोड़ने के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि यह विषय प्रान्तों

का है, इस कारण मैं कोई आश्वासन नहीं दे सकता।" उन्होंने कांग्रेस को देश में गड़बड़ मचाने के लिए उत्तरदायी ठहराया तथा उसके कार्यों की भी निन्दा की। परिणामतः सुलह की बातचीत भंग हो गयी।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन छह मास तक और चलता रहा। १२ नवम्बर, १६३० को पहला गोलमेज-सम्मेलन प्रारम्भ हो गया जिसका कांग्रेस ने बहिष्कार किया। २५ जनवरी को कांग्रेस के सभी उच्च नेता जेलों से छोड़ दिये गये। ६ फरवरी को मोतीलालजी का निधन हो जाना भी देश की तत्कालीन संकटकालीन परिस्थिति के लिए गम्भीर क्षति थी। ५ मार्च, सन् १६३१ को गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। इसी बीच कमीशन की भी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। जैसा कहा जा चुका है, देश के सभी राजनीतिक दलों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। ब्रिटिश सरकार के पास अब केवल गोलमेल-सम्मेलन बुलाकर भारतीयों को संविधान-निर्माण में साझी किये जाने का अधिकार स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह गया था।

प्रथम गोलमेज-सम्मेलन

प्रथम गोलमेज-सम्मेलन का उद्घाटन सम्राट द्वारा १२ नवम्बर, सन् १६३० को हुआ। इसकी अध्यक्षता प्रधानमन्त्री रैमजे मेक्डॉनल्ड ने की। यह सम्मेलन उस समय शुरू हुआ था, जिस समय कांग्रेस द्वारा चलाया गया सविनय अवज्ञा आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था तथा ब्रिटिश सरकार का दमनचक्र तेजी से चल रहा था। यह सम्मेलन १६ फरवरी, सन् १६३१ तक चला। इस सम्मेलन में ८६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिसमें ५७ ब्रिटिश भारत के, १६ देशी राज्यों के तथा १६ ब्रिटिश संसद के तीनों प्रमुख दलों के प्रतिनिधि थे। वास्तव में इन्हें प्रतिनिधि कहना अनुचित होगा। यह तो मनोनीत ही हुए थे क्योंकि ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के सभी प्रतिनिधियों को गवर्नर-जनरल ने नियुक्त किया था। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों में से कांग्रेस का कोई भी नहीं था। यह सब उदारवादी संघ, भारतीय ईसाई, ऐंग्लो-इन्डियन, योरोपियन आदि का प्रतिनिधित्व करने वाले थे। इनमें से मुख्य थे—सर तेजबहादुर सप्रू, सर सी० वाई० चिन्तामणि, डॉ० जयकर, डॉ० अम्बेडकर, डॉ० मुंजे, श्री श्रीनिवास शास्त्री। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों में बीकानेर, कश्मीर, बड़ौदा, अलवर, भोपाल, पटियाला के राजा तथा ग्वालियर, मैसूर के प्रधानमन्त्री सम्मिलित थे। इस सम्मेलन के सम्बन्ध में प्रो० कूपलैण्ड का कहना है, "यह सम्मेलन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। इसके पहले ४० करोड़ जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले तथा एक सम्राट के प्रति श्रद्धा रखने वाले प्रतिनिधि समान हित के हेतु एक समान महत्व के विषय पर विचार-विमर्श करने के हेतु कभी भी एक स्थान पर एकत्रित नहीं हुए थे।" प्रोफेसर ब्रेल्सफोर्ड ने उपस्थित प्रतिनिधियों के ऊपर टिप्पणी करते हुए लिखा है: "सेंट जेम्स प्रासाद में राजा तथा

अछूत, सिख, मुसलमान, हिन्दू, ईसाई, जमींदारों, श्रमिक-संघों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, परन्तु भारतमाता वहाँ उपस्थित न थी।"[1]

सम्मेलन में कांग्रेस के प्रतिनिधियों ने भाग नहीं लिया। इसके सभी नेता इस समय जेल में बन्द थे। इसके अलावा समझौते की शर्तों को भी सरकार ने अस्वीकार कर दिया था। कांग्रेस की अनुपस्थिति में यह सम्मेलन साम्प्रदायिक तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों का तमाशामात्र ही बन कर रह गया। ऐसा लगता था कि यह सम्मेलन 'दूल्हे के बिना सम्पन्न होने वाला विवाह था।[2]

कांग्रेस की अनुपस्थिति

लार्ड जेटलैण्ड ने कांग्रेस द्वारा गोलमेज-सम्मेलन का विरोध करना 'राजनीतिक व चातुर्यरहित' कार्य कहा है। उनका कहना था कि गांधीजी ने उन्हें एक राजनीतिक नेता की अपेक्षा एक देवता के रूप में अधिक प्रभावित किया था।[3]

प्रधानमन्त्री रेमजे मेकडॉनल्ड ने अपने प्रारम्भिक भाषण में इस सम्मेलन में उन सिद्धान्तों का निरूपण किया जिनके आधार पर विचार-विनिमय होना था। उनका कहना था :

सम्मेलन में निरूपित सिद्धान्त

(१) भारत का नवीन संविधान संघात्मक होगा तथा प्रान्त व देशी रियासतें इस संघ की इकाई होंगी।

(२) प्रान्तों तथा केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने पर विचार किया जा सकता है, परन्तु सुरक्षा तथा वैदेशिक विभाग गवर्नर-जनरल के अधीन रहेंगे; तथा

(३) अन्तरिम काल की आवश्यकता को विचार में रखते हुए कुछ रक्षात्मक विधान (Statutory Safeguards) रचे जावेंगे।

सम्मेलन में उदारवादी नेताओं ने पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना की माँग की। सर तेजबहादुर सप्रू ने औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना पर बल दिया। उनका कहना था, "भारत चाहता है तथा इस बात पर दृढ़ है कि उसे समानता का स्तर प्राप्त हो—अंग्रेजी राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यों की समानता का स्तर। आप उस समय तक चाहे जितने भी रक्षात्मक विधानों का निर्माण कर लें, जब तक वह व्यापक तथा महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का हनन नहीं करते, तब तक पूर्ण विश्वास तथा साहस के साथ आगे पग उठाया जायगा।" डॉ० जयकर ने कहा, "यदि आप आज भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान कर दें तो स्वतन्त्रता की आवाज

1 In St. James Palace these did assemble, Princes and Untouchables, Sikhs, Muslims Hindus and Christians, spokesmen of Landowners, Trade Unions and Chambers of Commerce, but Mother India was not there. (*Brailsford* : Subject India, p. 46)

2 *Dr. Rajendra Prasad* : At the Feet of Mahatma Gandhi, p. 216.

3 *Zetland* ; Steps Towards Indian Home Rule, pp. 92-93.

अपने आप समाप्त हो जायगी।"[1] महाराजा बीकानेर ने भी ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों द्वारा स्वशासन की स्थापना की मांग के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा कि 'स्वशासन देशी नरेशों का भी निकटतम लक्ष्य है।' उनका कहना था कि यदि राजाओं के अधिकार सुरक्षित रहें तो उन्हें भी संघ में सम्मिलित होने से कोई इन्कार न होगा। सर तेजबहादुर सप्रू ने भारतीय नरेशों की इस मनोवृत्ति का स्वागत किया तथा कहा, "वह हमारे संविधान को सुस्थिरता प्रदान करने वाले तत्व सिद्ध होंगे।" मिस्टर जिन्ना तथा मुहम्मद शफी ने, जो मुस्लिम लीग के दो पक्षों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, इस सम्बन्ध में अपनी सहमति प्रकट की। किसी भी अल्पसंख्यक-वर्ग ने स्वशासन की माँग का विरोध नहीं किया।

संविधान के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं हुई परन्तु साम्प्रदायिकता की समस्या के सम्बन्ध में सम्मेलन किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँच सका तथा यही इसकी असफलता का कारण हुआ। इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श करने के हेतु प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक उप-समिति का भी निर्माण किया गया था। इसमें हिन्दुओं ने इस बात पर बल दिया कि भारत की सभी जातियों को देश की सेवा करने का साथ-साथ मौका दिया जावे, परन्तु मुसलमानों ने पृथक् निर्वाचक-मण्डलों की माँग की। उनका कहना था कि हिन्दुओं की अधीनता से उन्हें पूर्णतया मुक्त रखा जावे तथा उन प्रान्तों में जहाँ वह अल्पसंख्यक थे, विशेष तथा अधिक प्रतिनिधित्व की माँग की। मौलाना मुहम्मदअली ने इस माँग पर बल देते हुए कहा कि इस्लाम केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। "मैं समान आकार के दो दायरों से सम्बन्ध रखता हूँ परन्तु उनका केन्द्र एक नहीं है। एक भारत है तथा दूसरा मुस्लिम जगत है। हम राष्ट्रवादी नहीं अपितु अतिराष्ट्रवादी हैं।" डाक्टर अम्बेडकर ने दलित वर्गों के लिए भी पृथक् निर्वाचन की माँग की। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री रैम्जे मेक्डॉनल्ड ने अपने अन्तिम भाषण में कहा कि ब्रिटिश सरकार भारत में संघात्मक शासन की योजना—प्रान्तों में पूर्णतया उत्तरदायी शासन तथा केन्द्र में उचित रक्षा-कवचों सहित उसकी आंशिक स्थापना को मानने के लिए तत्पर है। साम्प्रदायिकता के प्रश्न को उन्होंने विभिन्न जातियों द्वारा परस्पर समझौते के लिए छोड़ दिया। उन्होंने कांग्रेस से भी इन सुझावों पर विचार करने की प्रार्थना की तथा सर तेजबहादुर सप्रू को यह आश्वासन दिया कि जब भारत के राजनीतिक वातावरण में शान्ति उत्पन्न हो जायगी तो राजनीतिक बन्दियों को छोड़ने पर सरकार विचार करेगी।

---

1 Quoted by *Coupland* in India, A Restatement, p. 136.

2 "I belong to two circles of equal size but which are not concentric. One is India and the other is the Muslim world.……we are not nationalists but super-nationalists."

(Quoted by *Coupland* in The Indian Problem, p. 121)

सुभाषचन्द्र बोस ने अत्यन्त उत्तमता से इस सम्मेलन की कार्यवाहियों को संक्षेप में निम्न प्रकार व्यक्त किया है : परिषद् ने भारत को दो कड़वी गोलियाँ —रक्षा-कवच तथा संघ प्रदान की, तथा इन्हें भक्षणीय बनाने के हेतु, उन्हें उत्तरदायित्व रूपी शक्कर में लपेट दिया गया।"[1]

गांधी-इरविन समझौता

प्रथम गोलमेज-सम्मेलन में कांग्रेस के भाग न लेने से ब्रिटिश सरकार कुछ अंशों में चिन्तित भी थी, तथा इस सम्मेलन की समस्त कार्यवाही अतिशयोक्ति-पूर्ण तथा वास्तविकताओं से परे थी। लॉर्ड इरविन ने इससे पूर्व ही व्यवस्थापिका-सभा में अपने दिये भाषण में गांधीजी से अपील की थी कि वह देश में आतंकवादी वातावरण को दृष्टि में रखते हुए सरकार से सहयोग करें। गोलमेज-सम्मेलन में अन्तिम भाषण में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने यह भी भावना प्रकट की थी, "यदि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के संचालकों की ओर से वायसराय की अपील के प्रति कोई शुभ प्रतिक्रिया होती है तो उनकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए कदम उठाये जायेंगे।"[2] पण्डित मोतीलाल नेहरू को सरकार ने उनके बुरे स्वास्थ्य को दृष्टि में रखते हुए छोड़ दिया था। प्रधानमन्त्री के भाषण के पढ़ने के बाद उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक अपने स्वराज्य-भवन में आमन्त्रित की। ऐसा प्रतीत होता था कि कांग्रेस ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की योजना को अस्वीकृत कर देगी परन्तु मोतीलालजी को लन्दन से श्रीनिवास शास्त्री तथा सर तेजबहादुर सप्रू का एक केबिल मिला जिसमें उन्होंने यह सूचित किया था कि सम्मेलन को स्थगित कर दिया गया था क्योंकि कांग्रेस के नेताओं से बातचीत नहीं की गयी थी। इसका कारण यह था कि कांग्रेस के अभाव में भारतीय प्रतिनिधि समस्त भारतवर्ष की ओर से कुछ भी नहीं कह सकते थे तथा वह यह भी आश्वासन नहीं दे सकते थे कि उनके द्वारा लिये निर्णय समस्त भारत को स्वीकार होंगे। सभी को यह डर था कि यदि कहीं कांग्रेस की अनुपस्थिति में कोई निर्णय किया गया तो वह देश की जनता द्वारा अस्वीकृत न कर दिया जाय।

गांधीजी की जेल से मुक्ति

२५ जनवरी; सन् १९३१ को लॉर्ड इरविन ने गांधीजी व कांग्रेस की पुरानी कार्यसमिति के १९ सदस्यों को बिना किसी शर्त के जेल से छोड़ दिया। कांग्रेस के साथ समझौता करने हेतु गांधीजी के साथ लॉर्ड इरविन की बातचीत १७ फरवरी को

---

1 The Conference offered India "two bitter pills······safeguards and federation. To make the pills eatable they were sugar-coated with "Responsibility." (The Indian Struggle, p. 275).

2 The Britsh Prime Minister also expressed. "if in the meantime there is response to the Viceroy's appeal from those engaged at present in Civil Disobedience, steps will be taken to enlist their services." (*Pattabhi*, vol. I, pp, 423-424).

गांधी-इरविन बातचीत

शुरू हुई। पहिले दिन लगभग चार घण्टे तथा दूसरे दिन लगभग तीन घण्टे तक परस्पर विचार-विमर्श जारी रहा। यह बातचीत ५ मार्च तक चली तथा इसी दिन दोनों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस समझौते के अनुसार सरकार ने यह माना कि :

समझौता

(१) सभी अध्यादेश तथा चालू मुक़द्दमे वापिस ले लिए जायेंगे ;

(२) उन सभी राजनैतिक बन्दियों को, जिन्होंने हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया, मुक्त कर दिया जायगा ;

(३) सत्याग्रहियों की जब्त सम्पत्ति वापिस कर दी जायगी ;

(४) मादक-द्रव्यों तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों पर शान्तिपूर्ण धरना देने पर कोई रोक नहीं होगी ; तथा

(५) समुद्रतट से एक निर्दिष्ट दूरी में रहने वालों को बिना किसी कर के नमक इकट्ठा करने तथा बनाने का अधिकार होगा।

दूसरी ओर इस समझौते द्वारा कांग्रेस ने माना कि :

(१) गांधीजी पुलिस द्वारा किये गये अत्याचारों की जाँच करने की मांग पर जोर नहीं देंगे ;

(२) सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त कर दिया जायगा ;

(३) कांग्रेस द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन में भाग लेगी ; और

(४) वह समस्त बहिष्कार बन्द कर देगी, परन्तु स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देगी।

जहाँ तक संवैधानिक प्रश्नों का संबंध था, यह निश्चय किया गया कि गोलमेज सम्मेलन में मुख्यतः संघीय शासनिक रूपरेखा पर विचार किया जाय जिसके अन्तर्गत भारतीयों को उत्तरदायित्व प्राप्त हो तथा भारत की सुरक्षा, वैदेशिक विषयों अल्पमतों स्थिति एवं वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की जाये। यह सब कार्य भारत के हित को दृष्टिगत रखते हुये किए जाएँ। यह भी निश्चय हुआ कि संवैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में होने वाले गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेसी प्रतिनिधियों को शामिल करने का यत्न किया जायेगा।[1]

अभी समझौते की स्याही सूखने भी नहीं पायी थी कि सरकार की एक दुरंगी चाल सामने आयी। एक ओर तो वह कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करना चाहती थी तथा देश की जनता भी सुलह के स्वर्णिम स्वप्न देख रही थी कि यह समाचार सुना गया कि २३ मार्च को सरकार ने भगतसिंह, सुखदेव तथा राजगुरू को फाँसी पर चढ़ा दिया

भगतसिंह आदि को फांसी

1 *Pattabhi Sitaramayya* : History of the Indian National Congress, Vol. I, pp. 437-442.

और उनके शवों को चुपचाप सतलज के किनारे जला दिया। जनता इस बात पर भी क्रुद्ध हुई कि देशभक्तों का अंत्येष्टि-संस्कार विधि के अनुसार भी नहीं किया गया। बम्बई, मद्रास, लाहौर में हड़तालें हुईं जिन्हें दबाने के लिए सरकार को शहरों में सेनाएँ घुमानी पड़ीं। कानपुर में भी २४ मार्च को हड़ताल हुई। प्राय: वहाँ सभी हिन्दुओं ने दुकानें बन्द रखीं। कुछ मुसलमानों की दुकानें खुली थीं तथा इस बात को लेकर स्वयंसेवकों व दूकानदारों के मध्य कहा-सुनी हो गयी, जिसने साम्प्रदायिक दंगे का रूप धारण कर लिया। 'हिन्दी प्रताप' के यशस्वी सम्पादक इस दंगे को शान्त करने गली-कूचे में घूमते-फिरे तथा इसी बीच किसी दंगाई ने उनके ऊपर घातक प्रहार किया। गणेशशंकर विद्यार्थी देश में एकता स्थापित करने के प्रयत्नों में कुर्बान हो गये।

गणेशशंकर विद्यार्थी का बलिदान

गांधी-इरविन समझौते का देश में मिश्रित स्वागत हुआ। कांग्रेस में वाम-पक्षी नेताओं, श्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्र बोस ने इसकी आलोचना की। दक्षिण-पक्ष ने इसे अपनी विजय समझी। श्री के० एम० मुन्शी के मतानुसार इस समझौते का होना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। हिंसात्मक कार्यों के लिए दण्डित अपराधियों को छोड़ने का फैसला न होने के कारण बंगाल के लोगों ने इसके प्रति कोई रुचि न दिखायी। श्री एच० मुकर्जी का कहना है, "इस समझौते के द्वारा साम्राज्यवाद ने भारतीय राष्ट्रीयवाद के साथ सन्धि तो अवश्य की परन्तु अपनी शर्तों पर।" महात्मा गांधी ने समझौते को दोनों पक्षों की विजय कहा क्योंकि इसके द्वारा न तो कांग्रेस ने अपने किसी सिद्धान्त को त्यागा तथा इसके द्वारा कांग्रेस की रक्षा उन कष्टों तथा दुःखों से हुई जो समझौता न होने की अवस्था में उसे उठाने पड़े थे। गांधी जी का यह भी विचार था कि जब शत्रु बात सुनने को तैयार हो तो व्यर्थ में ही क्यों झगड़ा मोल लेने का कष्ट उठाया जाय? उनका विचार था कि इस समझौते द्वारा भारत की संवैधानिक समस्या को सुलझाने का मार्ग प्रशस्त हो गया था तथा वह व्यक्तिगत रूप से इस समझौते को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्न भी करने के इच्छुक थे। उनका कहना था कि जो वस्तु अस्थायी है उसे पूर्ण रूप से स्थायी बताया जाय अर्थात कांग्रेस तथा सरकार के मध्य हुए इस समझौते को स्थायी बताते हुए इसे ध्येय प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी समझा जाय। वायसराय लार्ड इरविन ने दिल्ली के चेम्सफोर्ड क्लब में अपने विचार व्यक्त करते हुए आशा प्रकट की कि दोनों पक्ष इस अच्छी योजना में सहयोग देंगे जिससे कि पूर्व तथा पश्चिम में मित्रता दृढ़ होगी तथा सभी विरोधों का सामना करने में वह समर्थ होंगे। डॉ जकारिया के मतानुसार यह समझौता "दोनों पक्षों की उच्च देशभक्ति तथा उत्तम बुद्धि का स्मारक है।[1]

समझौते पर प्रतिक्रिया

1 Renascent India, p. 274.

श्री रजनी पामदत्त के मतानुसार इस समझौते द्वारा "कांग्रेस की कोई माँग पूर्ण न हुई ; यहाँ तक कि नमक-कानून भी न हटाया गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। कांग्रेस ने उस गोलमेज-सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार किया जिसका बहिष्कार करने के लिए उसने शपथ ली थी। स्वराज्य की दिशा में भी कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया।" इस कथन में सत्य का बहुत अधिक अंश प्रतीत होता है। टाइम्स पत्र में यह टिप्पणी प्रकाशित हुई कि "इस प्रकार की विजय किसी भी वायसराय को बहुत कम मिलती है।" कह कहना गलत नहीं होगा कि यह समझौता सरकार के लिए निश्चित रूप में एक विजय थी क्योंकि इसके द्वारा कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त कर दिया, जो दिन-प्रति-दिन उग्र रूप धारण करता जा रहा था तथा सरकार की स्थिति डाँवाडोल होती जा रही थी। डॉ० जकारिया का भी मत है कि इस समझौते ने देश में क्रांति को रोककर अल्पकाल के लिए शांति की स्थापना की। इस समझौते से केवल इतना लाभ अवश्य हुआ कि इसने उन बहुत-से लोगों को कांग्रेस के प्रति आकृष्ट किया जो उससे दूर भागते थे। श्री जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में लिखा है : "इस समझौते के उपरान्त अनेक व्यक्ति जो तूफानी दिनों में कष्टों से डर कर कांग्रेस से बच रहे थे, कांग्रेस की ओर आकर्षित होने लगे तथा उन्होंने अपने पूर्व व्यवहार को सुधारने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि साम्प्रदायिकतावादियों ने भी इसके समीप आने का प्रयत्न किया। कष्टों तथा दुःखों के मध्य गुजरने से इसकी (कांग्रेस) मान तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई तथा राष्ट्र का नैतिक स्तर उच्च हुआ।"

करांची कांग्रेस

मार्च मास में करांची में कांग्रेस का एक अधिवेशन हुआ जिसमें गांधी इरविन समझौते पर विचार किया गया। नवयुवक-वर्ग इससे असन्तुष्ट था क्योंकि उनके अनुसार गांधीजी भगतसिंह आदि की सजा माफ कराना तो दूर रहा, उनकी मृत्यु दण्ड की सजा आजीवन कारावास की सजा में भी नहीं बदलवा पाये थे। अपने दुःख को प्रकट करने के लिए लोगों ने अपने सीने पर मातम के चिन्ह वाले फूल लगा रखे थे। गांधीजी को काले झण्डे भी दिखाये गये। एक प्रतिनिधि ने तो यहाँ तक कह दिया कि यदि इस समझौते के लिए महात्मा गांधी के अलावा अन्य कोई व्यक्ति उत्तरदायी होता तो उसे समुद्र में उठाकर फेंक दिया गया होता। गांधीजी ने अपने वक्तव्य द्वारा सबको सांत्वना देने का प्रयत्न किया तथा कहा, "हिंसा द्वारा स्वराज्य की स्थापना होना असम्भव है वरन् सर्वनाश ही हो सकता है। इस कांग्रेस ने अन्त में समझौते को स्वीकार कर लिया। यह गांधीजी की अभूतपूर्व विजय थी गांधीजी को कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन में भाग लेने के लिए नियुक्त किया गया। सरदार पटेल ने जो इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे, ये कहा कि यदि कांग्रेस समझौता न स्वीकार करती तो एक गलत मार्ग की ओर पग उठाती।

१७ अप्रैल, सन् १९३१ को लॉर्ड इरविन के स्थान पर लॉर्ड विलिंगडन वायसराय नियुक्त हुए। वह पहले बम्बई तथा मद्रास के गवर्नर रह चुके थे तथा वायसराय पद पर नियुक्ति होने के समय वह कनाडा के गवर्नर जनरल पद पर कार्य कर रहे थे। लार्ड इरविन के समान वह उदारवादी भी न थे। उन्हें इस समझौते से कोई रुचि नहीं थी। इंगलैण्ड में आर्थिक संकटों के कारण मजदूर सरकार अपदस्थ हो चुकी थी। एक राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ था। यद्यपि रैमजे मेक्डॉनल्ड अब भी प्रधानमन्त्री रहे, परन्तु भारतमन्त्री वेजवुड वेन के स्थान पर सर सेम्युअल होर नियुक्त हुए। इस परिवर्तन से सरकार की नीति में भी परिवर्तन हो गया। भारत में नौकरशाही ने भी समझौते के अनुसार कार्य न किया। यद्यपि राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये जाने थे, लोगों की सम्पत्ति वापस कर दी जानी थी, कांग्रेस समितियों पर से प्रतिवन्ध उठा लिया जाना था तथा मादक द्रव्यों तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों पर शान्तिपूर्ण धरना देने दिया जाना था, परन्तु देश के कोने-कोने से यह शिकायतें आयीं कि अधिकारीगण समझौते की शर्तों को खुलेआम तोड़ रहे थे। गांधीजी ने इन परिस्थितियों में गोलमेज-सम्मेलन में भाग लेना व्यर्थ समझा। जून में कांग्रेस की कार्यसमिति की बैठक में भी उन्होंने ऐसे ही विचार प्रकट किये। देश में राजनीतिक वातावरण में फिर हलचल मचने लगी। ऐसे समय वायसराय चेते तथा उन्होंने गांधीजी से आग्रह किया कि वह समझौते को न तोड़ें क्योंकि अन्य मामले तो सुलझ सकते थे, परन्तु यदि गोलमेज परिषद् का मौका निकल गया तो शान्ति का दूसरा रास्ता निकलना कठिन होगा। अन्त में गांधीजी ने २९ अगस्त को लन्दन के लिए प्रस्थान किया। वह अकेले कांग्रेस का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। सरकार ने पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू को व्यक्तिगत रूप से सम्मेलन में भाग लेने के लिए मनोनीत किया।

लॉर्ड विलिंगडन का वायसराय बनना

द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन ७ सितम्बर १९३१ को शुरू हुआ। इस बीच इंगलैण्ड की सरकार में जो परिवर्तन हो चुका था, उसकी चर्चा की जा चुकी है। मन्त्रिमण्डल में अनुदारवादियों की प्रधानता थी। लोकसभा में भी अनुदारवादियों का प्रभुत्व था; अतः यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह भारत के लिए किसी सुधार-योजना का स्वागत करेगी। डॉक्टर जकारिया का कहना है कि यदि महात्मा गांधी प्रथम गोलमेज-सम्मेलन में, जब मजदूर सरकार सत्तारूढ़ थी, सम्मिलित हुए होते तो अधिक लाभप्रद होता क्योंकि इस समय कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता था।[1]

इन्द्र विद्यावाचस्पति ने द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन को 'कई शक्तियों की

---

1 *H. C. E. Zacharias* : Renascent India. p. 281.

सम्मेलन—कई शक्तियों की दिमागी कुश्ती

दिमागी कुश्ती' कहा है। इसमें प्रथम शक्ति तो अंग्रेज सरकार थी जो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के प्रश्न को भारतवासियों के साम्प्रदायिक तथा सामाजिक भेदों की भुलभुलैया में डालकर समस्त समस्या इस प्रकार हल करना चाहती थी कि उसे भारतीयों को न्यून से न्यून अधिकार देने पड़ें तथा दिखावा बहुत अधिक हो। दूसरी शक्ति कांग्रेस थी, जिसके एकमात्र प्रतिनिधि महात्मा गांधी थे। इनका लक्ष्य था कि वह अंग्रेज सरकार से भारत के लिए स्वाधीनता रूपी उपहार अधिक से अधिक प्राप्त करें। तीसरी शक्ति 'मॉडरेट' नेता थे जो केवल इसी बात के इच्छुक थे कि किसी न किसी प्रकार कांग्रेस तथा सरकार के मध्य फैसला करा कर वर्तमान उलझन को सुलझाया जाय। उन्हें इस बात की अधिक चिन्ता नहीं थी कि अन्तिम निर्णय क्या हो तथा वे औपनिवेशिक स्वराज्य से भी सन्तुष्ट थे। वह तो भारतमन्त्री तथा गांधीजी के मध्य एक प्रकार से शान्तिदूत का काम कर रहे थे। चौथी शक्ति के अन्तर्गत वह लोग आते हैं जिनके लिए भारत की स्वाधीनता गौण थी। अर्थात देशी राजे महाराजे तथा साम्प्रदायिक नेता जो अपने वर्ग या सम्प्रदाय के हितों को प्रमुखता देते थे। सरकार की चाल यह थी कि वह अल्पसंख्यकों को आगे बढ़ा कर कांग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता की मांग को कमजोर कर दे। सर सैम्युअल होर की अध्यक्षता में हुआ यह सम्मेलन केवल एक वाद-विवाद का स्थल ही बना रह गया तथा कोई अन्तिम निश्चय नहीं हो सका।[1] इस सम्मेलन का कार्य दो उप-समितियों द्वारा हुआ था। इन्होंने 'संघीय ढाँचे' तथा 'अल्पसंख्यकों की समस्या' पर प्रथम गोलमेज-सम्मेलन की रिपोर्टों पर पुनर्विचार किया तथा उन्हें परिवर्द्धित किया। प्रथम सम्मेलन में अन्तरिम काल के लिए केन्द्र में अभिरक्षणों के साथ उत्तरदायित्व देना निश्चित किया गया था। इस प्रश्न पर जब विचार शुरू हुआ तो गांधीजी ने केन्द्र तथा प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायित्व के लिए आग्रह किया। गांधी-इरविन समझौते में भी उत्तरदायित्व का प्रश्न निश्चित हो चुका था तथा यह अभिरक्षण भारत के हित में होने थे परन्तु गांधीजी ने देखा कि जो भी अभिरक्षण रखे गये, वह भारत के अहित में थे तथा सभी उत्तरदायित्व के मार्ग में बाधक थे। अल्पसंख्यक उप-समिति की कार्यवाही से भी गांधीजी को धक्का लगा क्योंकि सभी प्रतिनिधि अपने-अपने वर्ग के हितों में अधिक रुचि रख रहे थे। सम्प्रदायों के पृथक् राजनीतिक अधिकारों को उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने यह भी घोषणा की कि यदि अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् करने की चेष्टा की गयी तो उसका वह प्राणपण से विरोध करेंगे। जर्मन राष्ट्रपति एडोल्फ हिटलर ने कहा है कि मेरी यह धारणा थी कि भारतवासी स्वराज्य के योग्य हैं, परन्तु मुझे प्रतीत

---

1 "यह सम्मेलन एक शोभनीय वाद-विवाद समिति के थके रूप में रह गया जिसका कि अन्त निकट था।

(Zacharia's : Ibid p. 281)

होता है कि वह भी अन्य एशियावासियों के समान हैं। डॉक्टर जकारिया ने इस सम्मेलन के सम्बन्ध में लिखा है : "इस सम्मेलन ने अंग्रेजी जनता के सम्मुख एक विचित्र दयनीय दृश्य प्रस्तुत किया। एक ओर तो उनके सम्मुख वह महात्मा था जो मानवता के महान् सन्त को भाँति उच्च आदर्शों की व्याख्या कर रहा था तथा दूसरी ओर साम्प्रदायवादी तथा संकुचित विचारों के लोगों का गुट था जो अपनी जाति अथवा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों तथा लाभ की बात करता था।" १ दिसम्बर सन् १९३१ को सम्मेलन को स्थगित करते हुए प्रधानमन्त्री ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि साम्प्रदायिक समस्या को प्रतिनिधिगण सुलझाने में असमर्थ रहे थे। जवाहरलाल नेहरू ने द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के सम्बन्ध में लिखा है कि इसमें प्रत्येक सदस्य चाहे वह हिंदू, मुसलमान अथवा सिक्ख हो अपनी जातियों के लिए पद एवं नौकरियाँ प्राप्त करने का इच्छुक था। इसमें अवसरवादियों का बोलबाला था तथा विभिन्न वर्ग भूखे भेड़ियों के समान अपने शिकार पर तुले थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति की ओर किसी सदस्य का ध्यान न था तथा न ही आर्थिक समस्याओं को सुलझाने की ओर किसी का ध्यान था।[1] गांधीजी ने परिषद के स्थगित होते समय कहा, "मैं नहीं जानता कि मेरा रास्ता किस दिशा में होगा, लेकिन इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। यदि मुझे आपसे (सरकार तथा अन्य सदस्यों से) सर्वथा भिन्न भी जाना पड़े तो भी आप मेरे धन्यवाद के अधिकारी तो हैं ही।"

सक्षेप में, द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन के कार्य निम्नलिखित थे :

(१) नवीन संघीय न्यायपालिका का ढाँचा निश्चित किया गया।

(२) संघीय व्यवस्थापिका का निर्माण निश्चित किया गया।

(३) केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच आर्थिक साधनों के बँटवारे का निश्चय किया गया। तथा

(४) देशी राज्यों के भारतीय संघ में सम्मिलित होने का आधार निश्चित किया गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः शुरू हुआ (सन् १९३२-३४)

सरकार का समझौते से पीछे हटना

जिस समय गांधीजी इंगलैण्ड में थे उन्हें भारत के सम्बन्ध में अनेक चिन्ता-जनक समाचार मिल चुके थे। लॉर्ड विलिंगडन की इच्छा यह थी कि कठोर नीति का सहारा लेकर राष्ट्रीय चेतना कुचल दी जाय। उन्होंने कांग्रेस को, जो उनके ही अनुसार "वैकल्पिक सरकार होने का दावा भरती थी," कुचल देने का भी निश्चय किया। महात्मा गांधी जब लन्दन के लिए प्रस्थान कर रहे थे तो सरकार ने उन्हें आश्वासन दिया था कि बारदोली के मामले में सहानुभूति-पूर्ण जाँच करायी जायगी, जिसमें यह निश्चय किया जायगा कि किसानों में लगान

---

1 *Jawahar Lal Nehru* : An Autobiography pp. 293-94,

बारदोली की जाँच

देने की कितनी क्षमता है, तथा जिन्हें गत आन्दोलन में नुकसान पहुँचा है, उन्हें मुआवजा भी दिया जायगा। जाँच-कमेटी में सरदार पटेल तथा भूलाभाई देसाई भी भाग ले रहे थे परन्तु सरकारी सदस्यों का रुख ठीक नहीं था तथा सरकार किसानों के साथ दिन-दिन कठोर व्यवहार करती जा रही थी। सरदार पटेल ने अन्त में जाँच से हाथ खींच लिया। संयुक्त प्रान्त में किसान-समस्या भी गम्भीर रूप धारण कर रही थी। पं० जवाहरलाल नेहरू, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन तथा श्री शेरवानी के नेतृत्व में किसानों को लगान के अनुचित बोझ से छुटकारा दिलाने का आन्दोलन चल रहा था। सरकार ने इसको रोकने का निश्चय किया तथा महात्मा गांधी के भारत लौटने से पूर्व ही इन तीनों को जेल में बन्द कर दिया। बंगाल में भी पुलिस ने दमन शुरू कर दिया था। सीमाप्रान्त में खान अब्दुलगफ्फारखाँ के नेतृत्व में संगठित खुदाई खिदमतगारों पर भी सरकार अत्याचार कर रही थी जिन्होंने गांधीजी के सिद्धान्तों को मानकर सत्याग्रही सेना का अंग बनना स्वीकार किया था। सरकार ने खान अब्दुल-गफ्फारखाँ तथा उनके भाई डाक्टर खान साहब को भी जेल में बन्द कर दिया। सरकार द्वारा इन आतंकवादी कार्यों को करने का मुख्य उद्देश्य गांधीजी के भारत पहुँचने के पहले ही जनता की हिम्मत तोड़ देना था कि पुनः वह कहीं कोई नया आन्दोलन न प्रारम्भ कर दें।

संयुक्त प्रान्त में किसान-समस्या

बंगाल तथा सीमाप्रान्त

गांधीजी लन्दन में स्वास्थ्य-लाभ के लिए रहना चाहते थे परन्तु भारत की घटनाओं को सुनकर उन्होंने फौरन वापिस लौटना निश्चित किया। वह ६ सितम्बर को चल पड़े तथा मार्ग में उन्होंने रोम्यांरोला तथा मुसोलिनी से भी भेंट की। २१ दिसम्बर को वह बम्बई पहुँच गये। इस अवसर पर गांधीजी का स्वागत करने देश भर के प्रतिनिधि इकट्ठा हुए। अभिनन्दन के उत्तर में गांधीजी ने कहा, "मैं खाली हाथ लौटा हूं पर मैंने अपने देश की इज्जत पर बट्टा नहीं लगने दिया।" उन्होंने २६ दिसम्बर को वायसराय को निम्न तार भेजा :

गांधीजी की वापिसी

"कल जहाज से उतरने पर मुझे ज्ञात हुआ कि सीमाप्रान्त तथा संयुक्त प्रान्त में ऑर्डिनेंस जारी कर दिये गये हैं। सीमाप्रान्त में गोली चलायी गयी है। मेरे अनमोल साथी गिरफ्तार कर लिए गये हैं, तथा सबसे बढ़कर बंगाल-आर्डिनेंस मेरी राह देख रहा है। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या हमारी पारस्परिक मैत्री समाप्त हो गयी, अथवा आप अब भी मुझसे आशा रखते हैं कि मैं आपसे मिलूँ तथा इस परिस्थिति में मैं कांग्रेस को क्या सलाह दूँ। क्या इस पर आपसे परामर्श करूँ ?"

३१ दिसम्बर को वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी का निम्न तार गांधीजी को मिला जिसमें सरकार के दमन-कार्यों की पुष्टि की गयी थी :

"सम्राट् की सरकार की पूरी अनुमति से जो ऑर्डिनेंस जारी किये गये हैं, वायसराय उनके बारे में किसी प्रकार की बहस को तैयार नहीं। जिस उद्देश्य से, अर्थात् सुशासन के लिए आवश्यक कानून तथा व्यवस्था की सुरक्षा के निमित्त वह ऑर्डिनेंस प्रचारित हुए हैं, इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाने तक वह जारी रहेंगे।"

कुछ दिनों तक वायसराय तथा गांधीजी के बीच तार चलते रहे तथा अन्त में उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः शुरू कर देने की घोषणा की। महात्मा गांधी को सरकार ने ४ जनवरी को गिरफ्तार कर लिया। इससे पहले ही कुछ प्रमुख नेता भी गिरफ्तार कर लिये गये थे। सरकार समझती थी कि नेताओं को गिरफ्तार कर लेने मात्र से आन्दोलन ठण्डा पड़ जायगा, परन्तु यह केवल भ्रम निकला। कांग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया तथा अनेक ऑर्डिनेंस जारी किये गये। १४ दिसम्बर को संयुक्त प्रान्त में 'एमर्जेन्सी आर्डिनेंस' तथा २१ दिसम्बर को सीमाप्रान्त में तीन ऑर्डिनेंस जारी किये गये थे। ४ जनवरी को नये चार ऑर्डिनेंस जारी किये गये। पहले 'एमर्जेन्सी पावर्स ऑर्डिनेन्स' द्वारा स्थानीय छोटे अधिकारियों को लोगों को बन्दी बनाने, इमारतों पर इच्छानुसार कब्जा करने, स्पेशल पुलिस नियुक्त करने के व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। दूसरा, 'अनलॉफुल एसोसियेशन आर्डिनेंस' था। इसका उद्देश्य कांग्रेस तथा अन्य देशभक्त-संस्थाओं को बन्द करना तथा उनके कागज-पत्र और नकदी पर अधिकार कर लेना था। तीसरा, 'प्रिवेन्शन ऑफ मोलेस्टेशन एण्ड बायकॉट आर्डिनेंस' था। यह विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने को रोकने के लिए जारी किया गया था। चौथा, 'अनलॉफुल इन्स्टिगेशन' ऑर्डिनेंस' था। इसका उद्देश्य सरकार के विरुद्ध लेखों तथा वाणी द्वारा हर प्रकार के विचारों को रोकना था। इन ऑर्डिनेंसों को ६ मास की अवधि पूरी हो जाने पर एक बड़े ऑर्डिनेंस के रूप में जारी कर दिया गया अन्त में कांग्रेसी सदस्यों रहित सरकारी बहुमत वाली असेम्बली में उसे स्वीकार करा लिया गया। लॉर्ड विलिंगडन को आशा थी कि वह १५ दिन के भीतर ही सब आन्दोलन कुचल देंगे परन्तु वह भूल गये कि जब कोई जाति स्वाधीन होने का संकल्प कर लेती है तो दमन धरा रह जाता है। 'प्रेस ऑर्डिनेंस' द्वारा सरकार ने समाचार-पत्रों पर भी प्रहार किया। सम्पादकों तथा मुद्रकों को गिरफ्तार करना, सरकार ने देखा काफी नहीं था, बड़ी राशि की जमानतें माँग कर समाचार-पत्रों को बन्द करने का यत्न किया। इससे जब सफलता नहीं मिली तो अन्त में सरकार ने प्रेस जब्त करने भी शुरू कर दिये। जेलों में कैदियों के साथ बड़ा ही अमानुषिक व्यवहार किया जाता था तथा उन्हें बहुत खराब भोजन दिया जाता था। सरकारी

गांधीजी की गिरफ्तारी

दमन-नीति के सम्बन्ध में चर्चिल ने भी कहा कि सरकार की दमन-नीति गदर के उपरान्त ही इस बार सबसे कठोर रही थी। सरकारी नीतियों ने बम्बई तथा अन्य नगरों में हिन्दू मुस्लिम दंगों को भी प्रोत्साहन दिया। १४ मई को बम्बई में एक दंगा शुरू हुआ तथा कई सप्ताहों तक नगर में 'गुण्डा राज्य' रहा। सरकार ने अछूतों को भी कांग्रेस का विरोध करने के लिए भड़काया। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रारम्भिक छह महीनों में लगभग १ लाख २० हजार भारतीय नागरिकों ने कारावास दण्ड स्वीकार किया।

'मैक्डॉनल्ड अवॉर्ड' तथा 'पूना पैक्ट'

द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन साम्प्रदायिकता की समस्या का हल करने में असमर्थ रहा था। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने इसी अवसर पर यह भी कहा था कि यदि सम्मेलन किसी सर्वमान्य समाधान को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहेगा तो ब्रिटिश सरकार अपनी कामचलाऊ योजना लागू करेगी तथा यदि उसे विश्वास हो जायगा कि भारत सरकार के विभिन्न सम्प्रदायों को एक वैकल्पिक योजना स्वीकार है तो वह ब्रिटिश संसद से सिफारिश करेगी कि साम्प्रदायिक निर्णय में रखी योजना के बदले नवीन योजना स्वीकार कर ली जाय। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने १७ अगस्त, १९३२ को साम्प्रदायिक समस्या पर अपना निर्णय घोषित किया जो 'मैक्डॉनल्ड अवॉर्ड' के नाम से विख्यात है।

इस निर्णय की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(१) प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं की संख्या में वृद्धि कर उसे दुगना कर दिया गया।

(२) मुसलमान, सिख तथा भारतीय ईसाइयों के लिए अल्प-मत-पृथक्-निर्वाचन की व्यवस्था की गयी।

(३) अछूतों को भी अल्प मत मानते हुए उन्हें भी पृथक्-निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान किया गया।

(४) सीमाप्रान्त को छोड़कर, शेष अन्य प्रान्तों की व्यवस्थापिका-सभाओं में स्त्रियों के लिए ५ प्रतिशत सीटें सुरक्षित रखी गयीं।

(५) उन प्रान्तों में जहाँ मुसलमान अल्प मत में थे तथा हिन्दुओं व सिक्खों के लिए पंजाब में प्रभावयुक्त प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी।

गांधीजी का आमरण अनशन

गांधीजी ने द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन में ही घोषित कर दिया था कि यदि अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् करने की चेष्टा की गयी तो वह इसे रोकने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देंगे। मैक्डॉनल्ड निर्णय में अछूतों के लिए पृथक्-निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था से गांधीजी को ठेस पहुँची। १८ अगस्त सन् १९३२ को उन्होंने यह निश्चय किया कि वह इस उपबन्ध के विरुद्ध आमरण अनशन करेंगे। उनका कहना था, "हम नहीं चाहते कि अछूतों को एक पृथक् वर्ग की

स्थिति प्रदान की जाय। सिक्ख इस स्थिति में रह सकते हैं और उसी तरह मुसलमान तथा योरोपियन भी, परन्तु क्या अछूत सदैव अछूत रहेंगे ? मैं चाहूँगा कि अछूतपन रहने की अपेक्षा तो हिन्दुत्व ही समाप्त हो जाय तो अच्छा है।"[1] गांधीजी ने अपना अनशन २० सितम्बर को यरवदा जेल में शुरू कर दिया तथा उन्होंने कहा कि यह अनशन तोड़ने का निर्णय तभी होगा जब सरकार अछूतों के पृथक्-निर्वाचन-सम्बन्धी निर्णय को वापस ले लेगी। प्रारम्भ में इस 'भीष्म-प्रतिज्ञा का अर्थ बहुत-से राजनीतिज्ञों की समझ में नहीं आया। श्री जवाहरलाजी ने 'आत्मकथा' में लिखा है :

"मुझे एक राजनीतिक ध्येय के सम्बन्ध में उनकी धार्मिक तथा भावनापूर्ण मनोवृत्ति तथा बार-बार ईश्वर का नाम लेने पर क्रोध आया। दो दिन तक मैं अँधेरे में भटकता रहा परन्तु फिर मुझे एक अजीब अनुभव हुआ। मैं एक अच्छे-खासे भावोद्रेक में से गुजरा तथा उसके पश्चात् मैंने कुछ शान्ति अनुभव की। तब भविष्य मेरे सामने वैसा अन्धकारमय नहीं प्रतीत हुआ। ठीक समय पर सही बात कहने का बापू का ढंग निराला ही है। हो सकता है, उनका यह कार्य जो मेरी दृष्टि में असम्भव है, महान् परिणामों को उत्पन्न कर दे। इसके पश्चात् देश भर में प्रबल हलचल के समाचार मिले..............यरवदा जेल में बैठा हुआ यह नन्हा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है और लोगों के दिलों को प्रभावित करने वाली डोरियाँ खींचना वह कितनी अच्छी तरह जानता है।" उपवास के साथ ही देश भर के सार्वजनिक जीवन में एक बार फिर जान आ गयी। मदनमोहन मालवीय के प्रयत्नों से २० सितम्बर को बहुत-से हिन्दू नेता बम्बई में एकत्रित हुए जिसमें प्रमुख थे—सर तेजबहादुर सप्रू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, डॉ० जयकर, श्री पुरुषोत्तमदास; श्री घनश्यामदास बिड़ला, श्री राजगोपालाचार्य, अछूतों के नेता श्री अम्बेडकर तथा सोलंकी भी इसमें सम्मिलित हुए। यह लोग गांधीजी की जीवन-रक्षा के लिए कोई हल निकालने के लिए प्रयत्नशील थे। सरकार की विशेष आज्ञा लेकर नेता लोग यरवदा जेल में गांधीजी से मिले। बातचीत कई दिनों तक चलती रही तथा २४ सितम्बर को एक हल निकल आया जिसे गांधीजी ने स्वीकार कर लिया। इसे 'पूना पैक्ट' कहा जाता है जिसे बाद में हिन्दू महासभा तथा ब्रिटिश सरकार ने भी स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि अछूत-उम्मीदवार सम्मिलित निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा चुने जायेंगे। इसके द्वारा अछूतों को

---

1 "We do not want the untouchables to be classified as a separate class. Sikhs my remain such in perpetuity and so may the Muslims and Europeans. Will the untouchables remain untouchables in perpetuity ? I would wish far rather that Hinduism died than untouchability lived."

—*Pattabhi* : History of Congress, vol. I, p. 538.

अधिक सीटें भी मिलीं। मैक्डॉनल्ड-निर्णय ने व्यवस्थापिका-सभाओं में अछूतों को केवल ७१ स्थान दिये थे, अब १४८ सीटें दी गयीं। २६ सितम्बर, सन् १९३२ को सायंकाल गांधीजी ने उपवास तोड़ दिया। इस क्रान्तिकारी उपवास से बहुत लाभ हुआ। अछूतों के ऊपर हिन्दुओं द्वारा जो घोर अन्याय किये जा रहे थे, उन्हें एक धक्का लगा तथा देश के अनेक स्थानों पर हरिजनों के लिए मन्दिर खुल गये तथा उन्हें कुओं पर पानी भरने का अधिकार मिला। देश में अछूतोद्धार-संस्थाओं जैसे हरिजन सेवक संघ तथा इलाहाबाद में हरिजन आश्रम की स्थापना की गयी।

उपवास से लाभ

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अन्त

उपवास की समाप्ति पर गांधीजी का मन अछूतोद्धार-समस्या की ओर केन्द्रित हो गया। अब गांधीजी ने इसका नवीन नामकरण-संस्कार कर इसे 'हरिजन-समस्या' का रूप दे दिया। उपवास के तुरन्त बाद ही तीसरा गोलमेज-सम्मेलन भी शुरू हो गया था। उन्होंने सन् १९३३ में हरिजन सेवक संघ की स्थापना की तथा 'यंग इण्डिया' के बदले 'हरिजन' पत्र निकाला। ८ मई को गांधीजी जेल से छोड़ दिये गये। गांधीजी ने आन्दोलन को छह सप्ताह के लिए स्थगित कर देने की सलाह दी क्योंकि सरकार के दमन से जनता भयभीत हो चुकी थी। सुभाषचन्द्र बोस ने एक वक्तव्य में आन्दोलन के स्थगन की आलोचना की। सुभाषचन्द्र बोस ने अपने सन्देश में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगन पर कहा कि यह हमारी असफलताओं की स्वीकारोक्ति है और महात्मा गांधी राजनैतिक नेता के रूप में असफल हुए हैं। कांग्रेस-कार्यकारिणी-समिति के सदस्य के० एफ० नरीमेन ने भी इनकी आलोचना की।[1] सविनय अवज्ञा का जन-आन्दोलन तो गांधीजी ने स्थगित कर दिया था परन्तु व्यक्तिगत आन्दोलन मार्च, सन् १९३४ तक चलता रहा। इस समय तक जनता में घोर निराशा फैल चुकी थी। लोग अब फिर संसद्वाद की ओर झुकने लगे थे। मई, सन् १९३४ में कांग्रेस की कार्य-समिति की बैठक ने, जो पटना में हुई, गांधीजी की सिफारिश पर सत्याग्रह को स्थगित करने का निश्चय तथा स्वराज्य दल की कौंसिल-प्रवेश-नीति को स्वीकार कर डॉक्टर अन्सारी तथा मदनमोहन मालवीय को एक ऐसा पार्लियामेंट्री बोर्ड बनाने का अधिकार दिया निर्वाचन सम्बन्धी नियमोपनियमों का निर्माण कर चुनाव सम्बन्धी व्यवस्था करे। २८ अक्टूबर सन् १९३४ को गांधीजी कांग्रेस से पृथक् हो गये। वह अपना समस्त समय रचनात्मक कार्यों में लगाना चाहते थे।

---

1 "How can we induce Gandhiji to rid himself of his almost incorrigible habit......this perpetual blundering—blending of religion and politics?

तृतीय गोलमेज-सम्मेलन

यह सम्मेलन १७ नवम्बर, सन् १९३२ को शुरू हुआ। इस समय भारत के सभी राष्ट्रीय नेता जेल में थे। इसमें केवल ३६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इंगलैण्ड के श्रमिक-दल ने भी इसमें सम्मिलित होने से मना कर दिया था। इस सम्मेलन में केवल पूर्व सम्मेलनों के ही निश्चयों में परिवर्तन या परिवर्द्धन किया गया। इसमें सरकार ने अत्यन्त प्रतिक्रियावादी नीति अपनायी तथा कूपलैण्ड का कहना है, "इसने भारतीय राष्ट्रीयता की समस्त आशाओं एवं उद्‌भावनाओं को व्यावहारिक राजनीति की कसौटी पर रख दिया।" भारतीय उदारवादी भी, जो केवल यह चाहते थे कि केन्द्र में गवर्नर-जनरल उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्श से रक्षित विभागों का कार्य संचालन करे, इस सम्मेलन के निश्चयों से सन्तुष्ट नहीं हुए। नवीन संविधान में नागरिकों के अधिकार-पत्र के समावेश पर भी भारतीय प्रतिनिधियों ने बल दिया परन्तु यह भी अनेक युक्तियों से अस्वीकृत कर दी गयी।

श्वेत-पत्र का प्रकाशन

मार्च, सन् १९३३ में सरकार ने एक श्वेत-पत्र का प्रकाशन किया जिसमें भारत के भावी संविधान के सम्बन्ध में प्रस्ताव किये गये। यह प्रस्ताव इतने अधिक प्रतिगामी थे कि भारत के प्रत्येक प्रगतिशील लोकमत के लिए सर्वथा अस्वीकार्य थे।[1] भारत में इनका विरोध किया गया; परन्तु सरकार ने इस पर ध्यान नहीं दिया। संसद के दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समिति ने भी इस पर विचार कर इस पर अपनी सम्मति दी तथा फलस्वरूप इसमें जो संशोधन किये गये, उन्होंने इसे और भी बिगाड़ दिया। इसी के आधार पर एक विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया, जो स्वीकृत होकर सन् १९३५ का 'भारतीय शासन अधिनियम' कहलाया।

कांग्रेस संसदवाद की ओर

असहयोग आन्दोलन की शिथिलता के उपरान्त कांग्रेस की रुचि पुनः संसदवाद की ओर हो गयी। कांग्रेस ने सन् १९३४ में निर्वाचनों में भाग लिया और उसे आशातीत सफलता मिली। केवल पंजाब को छोड़कर सभी स्थानों में इसने बहुमत प्राप्त किया तथा यह सिद्ध कर दिया कि जनता का अब कांग्रेस में विश्वास था। कांग्रेस ने सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत फरवरी सन् १९३७ में होने वाले निर्वाचनों में भी भाग लिया।

---

1 *Chintamani* : Indian Politics Since the Mutiny, p. 185.

११

सन् १९३५ का भारतीय शासन अधिनियम

सन् १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम को २ अगस्त, सन् १९३५ को सम्राट की अनुमति प्राप्त हो गयी। यह अधिनियम भारत के वैधानिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसने सर्वप्रथम भारतीय शासन को संघात्मक रूप दिया। यद्यपि इस संविधान का सभी राजनीति दलों ने विरोध किया तथा भारतीय नरेशों ने भी इसे सफल बनाने में विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की, परन्तु फिर भी इसे रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक सफलता माना जाता है जिसने भारतवर्ष के भाग्य का हस्तान्तरण अंग्रेजों के हाथों से भारतीय हाथों में सम्भव कर दिखाया।"[1] कूपलैण्ड के इस मत का समर्थन करना अत्यन्त कठिन दीखता है क्योंकि न केवल भारतीय नेताओं ने ही, अपितु निष्पक्ष अंग्रेजों ने इस अधिनियम की इस आधार पर आलोचना की है कि इसमें औपनिवेशिक पद की प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गयी है। मिस्टर एटली (तत्पश्चात्, लॉर्ड) ने कॉमन्स सभा में इसी आधार पर इसका विरोध किया था।[2] वास्तविकता तो यह है कि यह एक ऐसा विधेयक था जिसने भारतीयों को अधिकार देने के बदले सम्पूर्ण शक्ति अंग्रेजों के हाथों में ही रखी थी। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस अधिनियम को 'दासता का घोषणा-पत्र' कहा तथा उनके मत में प्रस्तावित भारतीय संघ की रूपरेखा ऐसी निर्मित की गयी कि 'किसी भी प्रकार का वास्तविक विकास असम्भव हो जाय तथा भारतीय जनता के प्रतिनिधियों के लिए भी ब्रिटिश नियन्त्रित शासन-प्रणाली में परिवर्तन तथा हस्तक्षेप कर सकने के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं छोड़ी गयी।…… ··यह एक प्रतिक्रियावादी रूपरेखा थी, जिसमें बिना किसी प्रकार की क्रान्तिकारी क्रिया के स्वयं विकसित हो सकने के दायरे का अभाव था। इस अधि-

1 *Coupland* : India : A Restatement. p. 145 ; and also The Indian Problem, 1833-1935, p. 147.

2 *Keith* : A Constitutional History of India, p. 470.

नियम में ब्रिटिश सरकार की नरेशों, जमींदारों तथा भारत के अन्य प्रतिक्रियावादी-तत्वों से मित्रता और भी अधिक मजबूत हो गयी। इससे पृथक्-निर्वाचन-पद्धति को बढ़ावा दिया गया तथा इस प्रकार पृथकतावादी-प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। इस अधिनियम ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग तथा जहाजी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अब और अधिक सुदृढ़ किया। इस अधिनियम में ऐसे अनुच्छेद स्पष्टतया रख दिये गये कि उनकी इस स्थिति पर किसी भी प्रकार की रोक या पाबन्दियाँ नहीं लगायी जा सकतीं। इस विधान के अनुसार भारत के राजस्व, सेना तथा वैदेशिक-नीति सम्बन्धी सब मामलों में पूर्ण नियन्त्रण पूर्ववत् ब्रिटिश हाथों में ही बना रहा। इस विधान ने वायसराय को पहले से भी अधिक शक्तियाँ सौंप दीं।"[1] संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि यह एक प्रतिगामी कानून था जिसने गवर्नर-जनरल अथवा प्रान्तीय गवर्नरों को स्वेच्छाचारी शक्तियों मे कोई परिवर्तन नहीं किया था तथा सम्राट के इन प्रतिनिधियों में निहित स्वविवेकी शक्तियों एवं विशेष उत्तरदायित्वों ने भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की स्थापना के प्रश्न को बिना किसी संविधान के छोड़ दिया था।

सन् १९३५ का शासन अधिनियम भूमिका (Preamble) रहित था। भूमिका (प्रस्तावना) पर विचार करते वक्त सर सैमुअल होर ने लोकसभा में कहा था: "इस विषय में किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं है क्योंकि किसी नवीन प्रकार की नीति अथवा अभिप्राय की घोषणा नहीं की जा रही। सन् १९१९ के एक्ट की भूमिका में ज्वाइन्ट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि उसमें भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन के अन्तिम उद्देश्यों को निश्चित तथा निर्णयात्मक रूप से रख दिया गया है।" अतः इससे यह स्पष्ट है कि सन् १९३५ का भारतीय शासन अधिनियम सम्राट को ब्रिटिश

1 Nehru writes, "The Federal Structure was so envisaged as to make any real advance impossible, and no loophole was left for representation of Indian people to interfere or modify the system of British controlled administration.........Reactionary as this structure was, there were not any seeds in it of self-growth, short of some kind of revolutionary action. The Act strengthened the alliance between the British Government and the Princes, landlords and the other reactionary elements in India. It added to the separate electorates, thus increasing the separatist tendencies; it consolidated the predominant position of British trade, industry, banking and shipping and laid down statutory prohibitions against any interference with this position—any discrimination, it was called, if retained in British hands for complete control over Indian finance, military and foreign affairs; it made the Viceroy even more powerful than he had been." (*Jawahar Lal Nehru* : Discovery of India, p. 310).

नीति सम्बन्धी घोषणा (जिसका लक्ष्य शनैः शनैः उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति करना था) का दूसरा चरण था। जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि यह कोई नवीन क्रान्ति लेकर नहीं आया अपितु उत्तरदायी सरकार की स्थापना के क्रमिक विकास का 'दृश्य मात्र था।' इस अधिनियम ने प्रान्तों में द्वैध शासन के स्थान पर प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की अर्थात् जिस कार्य का श्रीगणेश सन् १९१९ में किया गया था, वह सन् १९३५ में पूर्ण कर दिया गया। केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व की स्थापना, एकात्मक शासन के स्थान पर संघात्मक-शासन की स्थापना इत्यादि कुछ नवीन बातें इस अधिनियम में थीं, परन्तु जहाँ तक इसके आधार में निहित ब्रिटिश दृष्टिकोणों का सवाल है, सन् १९१९ से उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मिस्टर एटली का निम्नलिखित कथन उपरोक्त तथ्य को उपयुक्त तरीके से प्रकट करता है :

"इस प्रस्ताव का प्रमुख तथ्य है अविश्वास। इसमें विश्वास का नाम तक नहीं। भारतवर्ष को अपनी विदेश-नीति तथा आय पर कोई नियन्त्रण प्रदान नहीं किया गया है। प्रान्तों के भारतीय निवासी भयत्रस्त राज्य की स्थापना करने योग्य नहीं हैं। प्रस्ताव में प्रत्येक स्थान पर जो बात प्रस्तावित की गयी है, वह यह नहीं कि हम एक ऐसा विधान प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका शासन भारतीय करेंगे बल्कि प्रत्येक स्थान पर सब प्रकार के प्रतिबन्ध उपस्थित हैं। वास्तव में इस प्रस्ताव में एक बात छोड़ी गई प्रतीत होती है और वह है भारतीय जन।"[1]

सन् १९३५ के अधिनियम की विशेषताएँ

संघीय आधार—इस अधिनियम ने भारतवर्ष के लिए एक संघीय शासन-व्यवस्था प्रस्तावित की। यह भारतीय संघ ब्रिटिश भारत के प्रान्तों तथा देशी राज्यों की एक निश्चित संख्या को मिलाकर बनना था। इस अधिनियम में एक उपबन्ध यह भी था कि प्रस्तावित संघ में देशी राज्य स्वेच्छा से सम्मिलित होंगे परन्तु यदि कोई देशी नरेश एक बार प्रवेश सम्बन्धी लेख-पत्र (Instruments of Accession) पर हस्ताक्षर करके सम्मिलित हो जाता तो उसे संघ से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि जिस प्रकार की शासन-व्यवस्था भारत में लागू करने का प्रस्ताव किया गया था, वह ब्रिटेन की एकात्मक शासन-

संघात्मक शासन

1. "The keynote of this Bill is mistrust. There is no trust at all, India is not to have control of foreign affairs and of her finances. Indians in the Provinces are not fit to deal with terrorism. The whole note struck by the bill throughout is not that here we start a constitution which is going to be worked by Indians, but some kind of a constitution with restrictions of every kind all the time. In fact, the one-thing which seems to be left of the Bill is the Indian people." —*Mr. Atlee.*

व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत था तथा यह ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों को एक सामान्य प्रशासन के अन्तर्गत लाने का सराहनीय प्रयास था परन्तु संघात्मक शासन में भी एकात्मकता का पुट था। प्रान्त पूर्ण स्वतन्त्र नहीं थे। युद्ध अथवा असाधारण परिस्थिति में संघीय व्यवस्थापिका सभा प्रान्तीय क्षेत्र में आदेश लागू कर सकती थी। गवर्नर के विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत आने वाले विषयों के सम्बन्ध में वह (गवर्नर) गवर्नर-जनरल के नियंत्रण में था। कूपलैण्ड ने इस सम्बन्ध में कहा था: यह संघात्मक शासन एकात्मक शासन का भार लिए हुए अथवा उसका पक्षपाती है.........।" क्योंकि देश के विभिन्न राजनीतिक दलों तथा देशी राज्यों ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया, अतः यह कभी भी कार्यरूप में परिणित नहीं हुई।[1]

केन्द्र में द्वैध शासन-प्रणाली—सन् १९१९ के अधिनियम के अनुसार केन्द्र में किसी भी प्रकार के उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं हुई थी परन्तु इस नवीन अधिनियम ने केन्द्र मे आंशिक उत्तरदायित्व का सूत्रपात किया अर्थात् संघीय कार्यपालिका का एक अंश, संघीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी बनाया गया तथा उसे अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके विधान-मण्डल हटा भी सकता था। इस प्रकार अब संघीय शासन के प्रशासनिक क्षेत्र का संरक्षित एवं हस्तान्तरित भागों में बाँट दिया गया। अधिनियम के अनुसार संरक्षित विषयों का शासन गवर्नर-जनरल कार्यकारिणी-परिषदों की सहायता से स्वविवेकानुसार करता। संघीय कार्यपालिका का यह अंश संघीय विधान-मण्डल के नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त था।

प्रान्तीय स्वायत्तता—इस अधिनियम ने प्रान्तों में प्रचलित द्वैध शासन-प्रणाली को समाप्त कर दिया तथा प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की। अब प्रान्तों का सम्पूर्ण प्रशासन उत्तरदायी मन्त्रियों को सौंप दिया जाना था। इस प्रकार प्रान्तीय सरकारें अधिकांश मात्रा में केन्द्रीय शासन एवं गृह शासन के नियन्त्रण से

---

1 संघ की स्थापना के पूर्व एक निश्चित संख्या में देशी राज्यों का संघ में सम्मिलित होना आवश्यक था। इसके लिए उपबन्धित किया गया कि संघीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन में देशी राज्यों के लिए निर्धारित १०४ स्थानों में से कम से कम ५२ की पूर्ति तथा देशी राज्यों को सम्पूर्ण जनसंख्या के अर्द्धांश का संघ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट करना। इस शर्त के पूरा हो जाने तथा सम्राट् द्वारा देशी राज्यों के संघ में सम्मिलित होने के प्रवेश सम्बन्धी लेख-पत्र स्वीकृत हो जाने पर संसद के दोनों सदनों को सम्राट् के सम्मुख एक प्रस्ताव द्वारा भारतीय संघ की भी स्थापना सम्बन्धी घोषणा-पत्र निकालने की प्रार्थना की जानी थी। अन्त में सम्राट् एक निश्चित तिथि की घोषणा करते, जब संघ की स्थापना होती, परन्तु देशी राज्य संघ में नहीं सम्मिलित हुए तथा इस प्रकार प्रस्तावित संघ की स्थापना सम्बन्धी घोषणा-पत्र जारी करने का कोई अवसर ही नहीं आया।

मुक्त कर दी गयी। यद्यपि प्रान्तों को जो स्वायत्तता प्राप्त हुई, वह वास्तविक अथवा पूर्ण न थी, क्योंकि गवर्नरों को ऐसी विशेष शक्तियां प्रदान कर दी गयी थीं जिससे वह मन्त्रियों के परामर्श को ठुकरा सकते थे, परन्तु फिर भी सन् १९१९ के प्रान्तीय द्वैध शासन की तुलना में यह एक महत्वपूर्ण तथा प्रगतिशील कदम था।

रक्षा-कवच तथा संरक्षण (Safeguards and Reservations)—सन् १९३५ के अधिनियम में उपबंधित रक्षा-कवच तथा संरक्षण इसके सर्वाधिक विवादास्पद विषय थे तथा यह कहना असंगत न होगा कि अधिनियम जिस प्रकार की उत्तरदायी व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था, व्यवहार में वैसा सम्भव न था। यही कारण था कि भारत के प्रत्येक वर्ग ने उनका विरोध किया क्योंकि यह संरक्षण जनतन्त्रात्मक भावना के विरोधी थे।[1] गवर्नर-जनरल व प्रान्तीय गवर्नरों को इस अधिनियम ने इतने विस्तृत अधिकार प्रदान कर दिये थे, जिसका उपयोग वह स्वविवेकानुसार कर सकते थे। प्रान्तीय गवर्नर अनेक कार्य अपने उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्श के बिना ही कर सकते थे। विशेष उत्तरदायित्व से सम्बन्धित विषयों में यद्यपि गवर्नरों का मन्त्रियों से मन्त्रणा लेना आवश्यक था परन्तु वह तत्सम्बन्धी निर्णय स्वयं ही करते थे। गवर्नर-जनरल संरक्षित विषयों के सम्बन्ध में मन्त्रियों से मन्त्रणा लिए बिना ही काम कर सकते थे तथा अन्य विषयों में अपेक्षित था कि वह मन्त्रियों की मन्त्रणा पर काम करेंगे, परन्तु यदि उन्हें विश्वास हो जाता कि किसी विषय में उनका कोई विशेष उत्तरदायित्व सन्निहित है तो वह अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग कर सकते थे। यह उत्तरदायित्व संक्षेप में निम्नलिखित थे :

(१) भारतवर्ष (अथवा गवर्नर की स्थिति में उसके प्रान्त की शान्ति को भंग करने वाले खतरों का निवारण ;

(२) अल्प-संख्यकों के अधिकारों तथा हितों का संरक्षण ;

(३) सिविल सर्विस के सदस्यों के अधिकारों का रक्षण ;

(४) देशी राजाओं के अधिकारों एवं शासकों की मर्यादा की रक्षा ;

(५) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद दूर करना।

इन अधिकारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर अल्प-संख्यकों, देशी राजाओं, सिविल सर्विस के सदस्यों तथा ब्रिटिश अधिकारियों के हितों से सम्बन्धित विषयों में वह उत्तरदायी मन्त्रियों की मन्त्रणा को ठुकरा कर

---

1 "Hedged round with innumerable conditions and reservations, rich in countless safeguards for the vested interests of the alien exploiter of every shade and his local co-adjutor of every class breathing at every pore unmitigated distrust of the leaders of Indian people—there could be no hope of any real self-government.
Kunte and Setalore : Constitutional History of India, p. 78).

स्वविवेकानुसार निर्णय ले सकते थे; अतः यह कहा जा सकता है कि इन रक्षा-कवचों तथा संरक्षणों का एकमात्र उद्देश्य भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ मजबूत करना तथा न्यस्त स्वार्थों को संरक्षण प्रदान करना था। कूपलैण्ड ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "निश्चित रूप से यह सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार इस बात का फिर से स्मरण कराने वाले तत्व थे कि सन् १९३५ के एक्ट द्वारा भारतवर्ष को औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त नहीं होगा।"[1] गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों के विशेषाधिकारों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "नया संविधान अवरोधों का समूहमात्र था, उसमें संचालन की कोई व्यवस्था नहीं थी।"[2]

संघीय व्यवस्थापिका का संगठन—संघीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के संगठन के सम्बन्ध में, भारत में अन्य संघीय व्यवस्था वाले देशों से पृथक् पद्धति अपनायी गयी अर्थात् यहाँ निम्न सदन का संगठन अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से तथा उच्च सदन का प्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति द्वारा होना था। इसके अतिरिक्त इसमें देशी राज्यों को उनकी जनसंख्या से अधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया, अर्थात् लगभग २३ प्रतिशत जनता को ४० प्रतिशत स्थान दिये गये। यह प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं होते थे वरन् देशी राजाओं द्वारा मनोनीत होते थे।

शक्तियों का वितरण—इस अधिनियम में शक्तियों का विभाजन तीन तालिकाओं—संघीय, प्रान्तीय तथा समवर्ती में किया गया। संघ तथा प्रान्तों को अपने विषयों पर पूर्ण अधिकार था तथा समवर्ती के अन्तर्गत वह विषय रखे गये जिन पर संघ तथा प्रान्तों दोनों को समानाधिकार प्राप्त था। संघीय तालिका में ५९ विषय उल्लिखित थे तथा उनमें से मुख्य थे : जल, स्थल तथा वायुसेना, वैदेशिक विभाग, मुद्रा तथा टंकण, डाक व तार, संघीय लोक-सेवाएँ, संचार, बीमा तथा बैंक आदि। प्रान्तीय तालिका में ५४ विषय थे जिनमें शान्ति, न्याय, न्यायालय, प्रान्तीय लोक-सेवाएँ, स्थानीय स्वशासन, जन-स्वास्थ्य तथा अस्पताल, नहरें, कृषि, जंगल, शिक्षा एवं सड़क आदि मुख्य थीं। समवर्ती तालिका में ३६ विषयों का उल्लेख था जिसमें दीवानी तथा फौजदारी विधि, विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, ट्रस्ट, कारखाने, श्रम-कल्याण आदि मुख्य थीं : गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार था कि वह अवशिष्ट शक्तियाँ अपने विवेकानुसार संघ अथवा प्रान्त किसी को भी प्रदान कर सके।

संघीय न्यायपालिका—संविधान के निर्वाचन तथा क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवादों के निर्णयार्थ अधिनियम ने एक संघीय न्यायालय के स्थापना की भी व्यवस्था

---

1 "Unqestionably the 'safeguards' were the most obvious reminder that India would not attain Dominion Status by the Act of 1935."

—*Coupland*

2 "The new constitution was all brakes and no engines".

—*Jawahar Lal Nehru.*

की। इसे अधीनस्थ उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का भी अधिकार प्रदान किया गया, परन्तु विवादों में अन्तिम निर्णय का अधिकार लन्दन की प्रीवी कौंसिल में ही रहा।

जी० एन० जोशी ने अन्य संघीय विधानों की तुलना में सन् १९३५ के अधिनियम की यह भी विशेषता बतायी है कि इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के विपरीत उच्च सदन में अंगीभूत एककों को समान प्रतिनिधित्व नहीं प्रदान किया गया तथा सभी अंगीभूत एकक समान स्तर नहीं रखते थे। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि संघात्मक व्यवस्था में देश का संविधान जनता की सर्वोच्च शक्ति का प्रतीक होता है तथा इसमें जनता ही संशोधन कर सकती है, परन्तु भारतीय शासन अधिनियम, सन् १९३५ में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं था। इसके अतिरिक्त संघात्मक शासन में राष्ट्र का प्रमुख शासक या तो निर्वाचित होता है अथवा वंशानुगत, परन्तु इस संविधान में न तो गवर्नर-जनरल ही निर्वाचित था, न प्रान्तीय गवर्नर तथा वह केवल वैधानिक प्रमुख मात्र नहीं थे वरन् वास्तव में निरंकुश शासक की भाँति सभी शक्तियाँ उन्हीं में निहित थीं।

एक अनूठी, विचित्र संघीय प्रणाली

कुछ अन्य दृष्टिकोणों से भी इस अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघ-योजना अन्य संघों से नितान्त भिन्न थी अर्थात् प्रस्तावित संघ विभिन्न इकाइयों की स्वेच्छापूर्ण सहमति से निर्मित नहीं होना था, वरन् ब्रिटिश शासन द्वारा थोपा गया था। सामान्यतया संघ का निर्माण स्वतन्त्र एककों के सम्मिलन से होता है, परन्तु भारत में प्रचलित एकात्मक रचना को भंग करके नवीन स्वायत्तशासी एककों का निर्माण हुआ था। इसके अतिरिक्त न केवल संघ में सम्मिलित होने वाले प्रान्तों तथा देशी रियासतों के अधिकारों में अन्तर था वरन् देशी रियासतों की संघीय शक्तियों में पारस्परिक अन्तर था। संक्षेप में, अन्य संघों में तो संघ-शासन सभी एककों पर समानाधिकार रखता है, परन्तु प्रस्तावित संघ में ब्रिटिश प्रान्त व देशी रियासतों में संघीय शक्तियाँ भिन्न थीं क्योंकि वह देशी राज्यों के सम्बन्धों में उसके शासकों द्वारा प्रयुक्त प्रवेश-पत्रों पर निर्भर थीं। यद्यपि इस अधिनियम ने प्रान्तों को स्वायत्तता प्रदान कर दी थी परन्तु फिर भी संघ को प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकने के अनेक अवसर प्रदान किये गये। गवर्नर-जनरल आपात् की घोषणा करके संघीय ढाँचे को पूर्णरूप से नष्ट कर सकता था, अथवा कोई गवर्नर अपने प्रान्त में संविधान के असफल होने की घोषणा कर सकता था जिससे सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन संघीय शासन के क्षेत्राधिकार में आ सकता था। जब कभी भी प्रान्तीय गवर्नर स्वविवेकानुसार कार्य करते, वह गवर्नर-जनरल की सत्ता के अधीन होते। इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल प्रान्तीय शासनों

थोपी गयी संघीय प्रणाली

के हेतु ऐसे निर्देशन जारी कर सकता था, जिन्हें वह देश की शान्ति तथा सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता।

संघ के दोष (विचित्रताएँ)

यह आरम्भ में कहा जा चुका है कि सन् १९३५ का अधिनियम एक प्रतिगामी कानून था जिसका मुख्य ध्येय साम्राज्यवाद की जड़ें मजबूत करना था। विचारकों के मत में इसकी कुछ विशेषताएँ ही, जो इसे अन्य संघीय संविधानों में भिन्न दिग्दर्शित करती हैं, इसका दोष थीं। संक्षेप में, इसके मुख्य दोष निम्नलिखित थे :

जन-शक्ति का अभाव

(१) जनता के प्रतिनिधियों को इस अधिनियम के निर्माण अथवा संशोधन करने में कोई अधिकार नहीं प्रदान किया गया अर्थात् इस संविधान के पीछे जनशक्ति का अभाव था। यह इस संविधान की एक विचित्रता थी कि इसे ब्रिटिश संसद ने भारत पर थोपा था।

एककों में असमानता

(२) यह दो परस्पर-विरोधी एककों को एक सूत्र में आबद्ध करना चाहता था; अर्थात् ब्रिटिश भारत, जो उत्तरदायी शासन को अपनाने के पक्ष में था तथा देशी राज्य जिसमें शासकों का स्वेच्छाचारी शासन था।

संघीय शक्तियों में विभिन्नता

(३) संघीय शक्तियाँ विभिन्न एककों में भिन्न-भिन्न थीं। देशी राज्यों पर संघीय शक्तियों की सीमा का निर्धारण देशी राजाओं के 'प्रवेश-पत्रों' में हुआ करती थी। अतः ऐसे संघ के कार्यरूप में सफलता संदिग्ध थी।

देशी राज्यों को अधिक प्रतिनिधित्व

(४) संघीय विधान-मण्डल में देशी राज्यों को जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान दिये गये। यद्यपि उनकी कुल जनसंख्या ब्रिटिश भारत से लगभग चौथाई थी, परन्तु उन्हें निम्न सदन में ३७५ में से १२५ स्थान तथा उच्च सदन में २६० में से १०४ स्थान दिये गये।

प्रान्तों और राज्यों में प्रतिनिधियों के निर्वाचन में अन्तर

(५) जबकि ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि निर्वाचित होने थे, देशी राज्यों के प्रतिनिधि शासकों द्वारा मनोनीत होने थे। यह एक गम्भीर दोष था। ब्रिटिश प्रान्तों के लोगों को भय था कि देशी राज्यों के शासक संघीय विधान-मण्डल में ऐसे प्रतिनिधियों को मनोनीत करेंगे, जो प्रतिगामी होंगे तथा हमेशा ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों को सुदृढ़ करने में योगदान देंगे तथा ब्रेलसफोर्ड के अनुसार वह अपने उन स्वामियों के एजेन्टों के रूप में कार्य करते जो स्वयं वायसराय तथा ब्रिटिश सम्राट् के अनुशासित दास थे।[1] संक्षेप

1 *Brailsford* : Subject India, p. 50.

में, यह भी कहा जा सकता है कि प्रस्तावित संघीय शासन भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न न था वरन् यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितैषियों, देशी शासकों, साम्प्रदायवादियों एवं ब्रिटेन के व्यापारिक हितों को सुदृढ़ करने का प्रयत्न था। के० टी० शाह का मत है: 'ऐसी राजनीतिक प्रणाली से देश के राष्ट्रीय जीवन हेतु कोई आशा करना बिल्कुल निरर्थक था।" प्रोफेसर कीथ का भी मत है: "इस आरोप के औचित्य को अस्वीकार करना कठिन है कि प्रस्तावित संघ ब्रिटिश भारत के केन्द्रीय शासन में उत्तरदायी व्यवस्था की स्थापना करने के प्रश्न से बचकर निकल जाने की कामना से निर्मित किया जा रहा था। उनका यह भी कहना था कि राज्यों एवं ब्रिटिश भारत के प्रतिगामी-तत्वों द्वारा जो असीम नियन्त्रक-शक्ति गवर्नर-जनरल को प्रदान की गयी थी, उनके कारण प्रस्तावित संघ के सफल होने में भी सन्देह ही था।"

(६) निम्न सदन का निर्वाचन इस अधिनियम के अनुसार परोक्ष रूप से होना था। यह भी एक गम्भीर दोष था। ऐसे उपबन्ध का एकमात्र प्रयोजन भारतीयों की राजनैतिक चेतना को कुचलना था। व्यवस्थापिका के सदस्य ऐसा होने से जनता के सम्पर्क में कभी भी नहीं आ सकते थे जिनका वे प्रतिनिधित्व करते थे। सर सेमुअल होर ने ब्रिटिश संसद में इस बात की गर्वपूर्वक घोषणा की कि "उग्रवादियों" को सत्तारूढ़ होने से रोकने के लिए प्रत्येक चौकसी रखी गयी थी।

(७) इस अधिनियम द्वारा गवर्नर-जनरल व गवर्नरों को असीमित अभिरक्षण प्रदान किये गये। यह जनतन्त्रात्मक विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल थे।

(८) इस अधिनियम द्वारा केन्द्र में भी द्वैध शासन-व्यवस्था का आयोजन किया गया पर अनेक महत्वपूर्ण विषय; उदाहरणार्थ, वैदेशिक सम्बन्ध, सुरक्षा आदि उत्तरदायी मन्त्रियों ने नियन्त्रण से मुक्त रखे गये। सन् १९१९ के अधिनियम के अनुसार प्रान्तों में जिस द्वैध व्यवस्था का सूत्रपात हुआ था, व्यवहार में उसके कटु अनुभवों से लोग परिचित थे तथा इस कारण केन्द्र में ऐसी व्यवस्था को लागू करने का विरोध होना कुछ भी अस्वाभाविक न था।

(९) भारतवासियों को अत्यन्त आवश्यक परिस्थितियों में भी अपने संविधान में संशोधन करने का कोई अधिकार अधिनियम ने नहीं प्रदान किया। देश के भीतर प्रगतिवादी शक्तियों का यह भय भी निराधार नहीं था कि यदि एक बार ऐसा संविधान स्वीकार कर लिया जायगा तो सदैव के लिए उत्तरदायी शासन की स्थापना का स्वप्न भंग हो जायगा।

सन् १९३५ के संविधान के दोष इतने स्पष्ट थे कि किसी भी राजनैतिक दल ने इसे स्वीकार नहीं किया। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, लिबरल फेडरेशन आदि सभी ने किसी न किसी दृष्टिकोण से अधिनियम की आलोचना की। देशी राज्यों ने भी संघ में सम्मिलित होने की उत्सुकता प्रदर्शित नहीं की। ब्रिटिश शासन ने ऐसी

2 *A. B. Keith* : A Constitutional History of India, pp. 474-475.

परिस्थिति में सन् १९३७ में इस अधिनियम के केवल प्रान्तीय भाग को कार्यान्वित कर दिया परन्तु शीघ्र ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने से प्रान्तीय स्वायत्तता भी केवल कुछ ही दिन चली सकी तथा ११ दिसम्बर, सन् १९३९ को गवर्नर-जनरल द्वारा संघीय शासन के स्थगित करने की घोषणा कर दी गयी तथा यह अधिनियम भारत के संवैधानिक इतिहास के पृष्ठों में केवल चर्चा का ही विषय रह गया।

गृह सरकार (Home Government)

इस अधिनियम ने गृह सरकार में थोड़े-से औपचारिक परिवर्तन किये। इस अधिनियम का अभिप्राय प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार और केन्द्र में द्वैध शासन (आंशिक उत्तरदायी सरकार) की स्थापना करना था; अतः यह स्वाभाविक था कि गृह सरकार का नियन्त्रण भारतीय शासन पर ढीला हो; अतः भारतवर्ष के प्रशासन पर भारतमन्त्री की "निरीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण-शक्ति" का कोई उल्लेख नहीं किया गया तथा अब यह सम्राट् में निहित कर दी गयी। यह परिवर्तन केवल नाममात्र का था क्योंकि सम्राट् की भारतीय प्रशासन सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग भारतमन्त्री ही करता था और दूसरी ओर गवर्नर-जनरल, और गवर्नरों के हाथों में अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां सौंप दीं। इससे भी भारतमन्त्री की शक्तियों में वृद्धि ही हुई क्योंकि ये अधिकारी भारतमन्त्री के प्रतिनिधि मात्र ही थे। जब कभी गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर स्वविवेक के अनुसार आचरण करते अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार का प्रयोग करते, भारतमन्त्री ही उनका निरीक्षण एवं निर्देशन करता था। श्री० के० टी० शाह ने इस सम्बन्ध में कहा है : भारतीय विधान में भारतमन्त्री अब भी निस्सन्देह रूप से सर्वोच्च सत्ता के रूप में लक्षित होता है। गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के अधिकारों के समान उसके अधिकार प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते परन्तु ये सब अधिकारी उसी के अधीन हैं जो व्हाइट हॉल के इस देवराज की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते हैं, और चार्ल्स स्ट्रीट के मायावी के प्रत्येक संकेत के वश में हैं।"[1] इस अधिनियम ने 'इण्डिया कौंसिल' समाप्त कर दी तथा भारतमन्त्री की एक परामर्शदात्री समिति की स्थापना की गयी। इसमें कम से कम ३ तथा अधिक से अधिक ६ परामर्शदाता हो सकते थे तथा उनमें कम से कम

औपचारिक परिवर्तन

---

1 "......The Secretary of State still stands out unmistakably as the most dominant authority in the Indian constitution His powers may not be so imposing in appearance as those of the Governor-General or the Provincial Governors. But these are merely his creatures, obedient to every nod from the Jupiter of the White Hall, amenable to every hint from this juggler of Charles Street." *K. T. Shah.*

आधे ऐसे होने चाहिये थे जो अपनी नियुक्ति से पूर्व भारत में दस वर्ष तक नौकरी कर चुके हों तथा भारत छोड़े उन्हें दो वर्ष से अधिक न हुआ हो। यह ५ वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते थे तथा इनका वेतन १३५० पौंड वार्षिक था। जिन परामर्शदाताओं का घर भारतवर्ष था, उन्हें ६०० पौंड वार्षिक भत्ता अतिरिक्त दिया जाता था। भारतमन्त्री इन परामर्शदाताओं के परामर्श से बाध्य नहीं था।[1] सी० वाई० चिन्तामणि ने ठीक ही कहा है कि नवीन अधिनियम के अन्तर्गत भी "पुरानी व्यवस्था ही जीवित रही तथा अन्त में अंग्रेज ही भारतवर्ष के स्वामी बने रहे।"

भारतमन्त्री के परामर्शदाता

भारतमन्त्री

जैसा स्पष्ट किया जा चुका है कि सन् १९३५ के अधिनियम ने भारतमन्त्री के पद में औपचारिक परिवर्तन मात्र किये। वह ठीक उसी प्रकार शक्तिशाली सचिव बना रहा, जैसा वह सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत था।

जब प्रान्तीय गवर्नर और गवर्नर-जनरल अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करते थे तब उन पर भारतमन्त्री का 'निरीक्षण, आदेश और नियन्त्रण' का का अधिकार था। संघीय सरकार के सुरक्षित विषय तथा उनसे सम्बन्धित आय और व्यय तथा रक्षा, विदेश नीति, धार्मिक कार्य आदि विषय गवर्नर-जनरल के विवेक के अन्तर्गत आते थे, परन्तु भारतमन्त्री का नियन्त्रण था। प्रान्तों के गवर्नरों द्वारा किये गये कार्य जो विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत होते थे, भारतमन्त्री के अधीन थे। भारतमन्त्री की स्वीकृति से गवर्नर-जनरल और गवर्नर क्रमशः देश और प्रान्तों का संविधान भी स्थगित कर सकते थे।

निरीक्षण, आदेश और नियन्त्रण की शक्ति

इसके अतिरिक्त भारतमन्त्री के पास अखिल भारतीय सेवाओं की महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ करने का अधिकार पूर्ववत् बना रहा। इन सबके सम्बन्ध में नियम बनाने आदि का अधिकार भारतमन्त्री को ही था।

भारतीय सेवाओं पर उनका नियन्त्रण

यह अधिनियम भारतमन्त्री को परामर्श की भी अत्यधिक शक्ति देता है। अधिनियम में यह व्यवस्था थी कि संघीय और प्रान्तीय प्रस्तावों पर क्राउन को स्वीकृति और अस्वीकृति देने का

---

1 परामर्शदाताओं के सम्बन्ध में अधिनियम की धारा २७८ (६) इस प्रकार थी : "इस अधिनियम द्वारा प्रस्तावित कुछ निश्चित बातों के अतिरिक्त, यह भारतमन्त्री की इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी विषय के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करे अथवा न करे, और यदि वह ऐसा करे तो वह उनसे सामूहिक रूप से परामर्श करे अथवा व्यक्तिगत रूप से, तथा एक ही सलाहकार से सम्मति माँगे अथवा एक से अधिक से, और इस प्रकार दी गयी सम्मति के अनुसार वह कार्य करे अथवा न करे।"

अधिकार होगा परन्तु जैसा हमें मालूम है कि सम्राट अपने मन्त्रियों के परामर्श से ही कार्य कर सकता है, अतः यह भी शक्ति भारमन्त्री के पास ही थी। के० टी० शाह ने भारतमन्त्री की शक्तियों की व्याख्या का सारांश इन पंक्तियों में किया है, "वास्तव में भारतीय शासन में समस्त अधिकार तथा प्राधिकार उनके हैं परन्तु उत्तरदायित्वों में उसका भाग या तो बहुत थोड़ा या तनिक भी नहीं।"[1]

संघीय कार्यपालिका

सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के लिए द्वैध शासन-प्रणाली की स्थापना की गयी। साइमन कमीशन ने यह मत प्रकट किया था : "वास्तव में यह बात बड़ी विचित्र-सी प्रतीत होगी कि प्रान्तों में द्वैध शासन को हटाकर, उसी सिद्धान्त को केन्द्र में प्रचलित करने का समर्थन किया जाये। केन्द्र में उत्तरदायी सरकार का स्वरूप एक ऐसी केन्द्रीय कार्यकारिणी का निर्माण करने से प्राप्त नहीं हो सकता जिसका एक भाग दूसरे भाग के प्रति उत्तरदायी नहीं हो।" फिर भी यही एकमात्र माध्यम था जिसके द्वारा आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जा सके; अतः संघीय विषयों को दो भागों—संरक्षित एवं हस्तान्तरित में विभाजित कर दिया गया। प्रथम कोटि में प्रतिरक्षा, परराष्ट्र, धार्मिक तथा कबायली इलाके रखे गये।

संरक्षित विषय

इन विषयों पर गवर्नर-जनरल को बिना मन्त्रियों की मन्त्रणा लिए हुए अपने विवेकानुसार शासन करने का अधिकार प्रदान किया गया। इन विषयों के शासन के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल भारत-मन्त्री और उसके माध्यम से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी रहता था। क्योंकि गवर्नर-जनरल के जिम्मे काम बहुत अधिक थे, अतः उसकी सहायता के लिए तीन कार्यकारी-परिषदों की व्यवस्था की गयी, जो पदेन, बिना मतदान के अधिकार के, संघीय विधान-मण्डल के दोनों सदनों के सदस्य होने को थे। वह विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी भी नहीं होने को थे। इस प्रकार गवर्नर-जनरल व उसकी परिषद् दोनों ही संघीय विधान-मण्डल के नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त थे।

हस्तांन्तरित विषय

उपरोक्त चार संरक्षित विषयों को छोड़कर अन्य सब संघीय विषयों पर गवर्नर-जनरल मन्त्रियों के परामर्श पर शासन करता था। इन मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा अनुदेश-पत्र में निर्धारित उपबन्धों के अनुसार होने को थी। भारतीय शासन अधिनियम, सन् १९३५ के अनुसार मन्त्रि-परिषद् में अधिक से अधिक दस

---

1 "He has, in fact, all the power and authority in the governance of India, with little or none of its resposibilities."

—*K. T. Shah.*

सदस्य हो सकते थे, जिनका कार्य गवर्नर-जनरल को उन कार्यों में जो 'निश्चित क्षेत्र', 'व्यक्तिगत निर्णय', तथा 'स्वविवेक' के अधिकार-क्षेत्र से बाहर हों, परामर्श देना था। अनुदेश के अनुसार गवर्नर-जनरल को अपना मन्त्रिमण्डल बनाते समय ऐसे व्यक्ति के परामर्श को मानना आवश्यक था जिसे विधान-मण्डल में बहुमत प्राप्त था तथा मन्त्रिमण्डल में संघातरित राज्यों तथा अल्पसंख्यकों के भी प्रतिनिधि होने को थे। इसके साथ ही मन्त्रिमण्डल को "संयुक्त-उत्तरदायित्व" के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना था। अधिनियम में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि मन्त्रिमण्डल द्वारा गवर्नर-जनरल को दी गयी मन्त्रणा पर किसी भी न्यायालय को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था।

मन्त्र-मण्डल की नियुक्ति

गवर्नर-जनरल के अधिकार

सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल के अधिकारों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(१) 'विवेक के अन्तर्गत' (In his discretion) आने वाले अधिकार ;

(२) 'व्यक्तिगत निर्णय' (In his Judgment) के अन्तर्गत आने वाली

(३) मन्त्रियों के परामर्शानुसार।

विवेक के अन्तर्गत आने वाले अधिकार

सन् १९३५ के अधिनियम ने भारत के गवर्नर-जनरल को मन्त्रियों की सम्मति के क्षेत्र से परे अनेक कार्यों को करने का अधिकार दिया है। संरक्षित विषयों का शासन-प्रबन्ध गवर्नर-जनरल अपने विवेक से करेगा। इनके अतिरिक्त भी गवर्नर-जनरल को अपने विवेक द्वारा कई कार्य करने का अधिकार है, जैसे :

(१) किसी विषय से सम्बन्धित मतभेद का निर्णय उसी के हाथों में था, जैसे वह विषय गवर्नर-जनरल के विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं ;

(२) मन्त्रियों को चुनने, उन्हें आमन्त्रित करने और पदस्य करने के सम्बन्ध में ;

(३) दोनों भवनों को आमन्त्रित करने तथा संघीय-परिषद् को स्थगित तथा विसर्जित करने के सम्बन्ध में ;

(४) संघीय व्यवस्थापिका में भाषण ;

(५) विचाराधीन प्रस्तावों के बारे में संघीय व्यवस्थापिका-सभा को सूचना देने के सम्बन्ध में ;

(६) प्रस्तावों को अस्वीकृत करने, अथवा स्वीकृत करने तथा उन्हें सम्राट की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखने के सम्बन्ध में ;

(७) प्रश्न किये जाने पर यह निर्णय करने के सम्बन्ध में कि कोई व्यय संघ की आय से दिया जाये अथवा नहीं ;

(८) ऑर्डिनेन्स निर्मित करने तथा व्यवस्थापिका को अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुरूप एक्ट पास करने के सम्बन्ध में ;

(९) विधान को स्थगित करना ;

(१०) प्रान्तों के वे प्रस्ताव, जो उसकी स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे गये हैं, उन पर अपना निर्णय देना या सम्राट के पास भेजना ;

(११) प्रान्तीय गवर्नरों को ऑर्डिनेन्स के लिए आदेश ;

(१२) असाधारण परिस्थिति की घोषणा करके किसी प्रान्त के लिए संघीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा कानून बनाये जाने की घोषणा करने के सम्बन्ध में ;

(१३) अपने प्रतिनिधि के रूप में गवर्नरों को कुछ कार्यों के सम्पादन अथवा कुछ संघीय आदेश के पालन अथवा प्रान्तों के कार्यकारिणी सम्बन्धी शासन की संचालन-विधि निर्देश करने के सम्बन्ध में ;

(१४) संघ में सम्मिलित देशी राज्यों के शासकों को प्रतिनिधित्व पर विचार करके उन्हें कुछ कार्यों की पूर्णता के लिए आदेश प्रदान करने के सम्बन्ध में ।

स्वविवेकी शक्तियों पर एक दृष्टि

गवर्नर-जनरल के स्वविवेक के अन्तर्गत आने वाले अधिकारों के अवलोकन मात्र से यह भान हो जाता है कि वह एक स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासक था। वह केवल औपचारिक शासन का प्रधान नहीं अपितु वह शासन की सभी प्रमुख शक्तियों को अपने में केन्द्रीभूत किये था। इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि उसके व्यापक अधिकारों के आधार में यह तथ्य था कि लोकप्रिय मन्त्रियों का पलड़ा शक्तिहीन किया जा सके और उत्तरदायित्व सरकार केवल औपचारिकता मात्र ही रहे।

व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत आने वाली शक्तियाँ

गवर्नर-जनरल को व्यक्तिगत निर्णय से भी कार्य करने की शक्ति थी। इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए मन्त्रियों की सम्मति आवश्यक थी परन्तु यह गवर्नर-जनरल की इच्छा पर था कि वह उसे माने या न माने। यह अधिनियम गवर्नर-जनरल पर कुछ 'विशेष उत्तरदायित्व' डालता है और गवर्नर-जनरल विशेष उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए मुख्य रूप से व्यक्तिगत निर्णय का उपयोग करता था। अधिनियम में निम्न विशेष उत्तरदायित्वों की व्यवस्था थी :

गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व

(१) सम्पूर्ण भारतवर्ष अथवा उसके किसी एक भाग में शान्ति तथा सुरक्षा की व्यवस्था ;

(२) संघीय शासन की आर्थिक स्थिरता एवं साख की रक्षा ;

(३) लोक-सेवाओं के सदस्यों के वैधानिक एवं अन्य अधिकारों का संरक्षण ;

(४) अल्प-संख्यकों के उचित हितों का संरक्षण ;

(५) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद को दूर करना ;

(६) देशी रियासतों एवं उनके शासकों के अधिकारों तथा प्रतिष्ठा का संरक्षण ;

(७) अपने विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने में किसी भी प्रकार की आने वाली बाधा को रोकना तथा प्रयोग किये गये वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा करना ।

गवर्नर-जनरल को दिए जाने वाले विशेष उत्तरदायित्वों को देखने से यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि शासन का शायद ही कोई क्षेत्र छूटा हो जिस पर गवर्नर-जनरल की शक्ति का अंकुश न हो। एक ओर आंशिक उत्तरदायित्व की बात और प्रान्तीय स्वायत्तता का हो-हल्ला और दूसरी ओर गवर्नर-जनरल के ये विशेष उत्तरदायित्व। फलस्वरूप, सन् १९३५ को अधिनियम एक ढकोसला मात्र रह जाता है। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इस सम्बन्ध में कहा था, "यह शब्दावलियाँ (विशेष उत्तरदायित्व की व्याख्या से उनका तात्पर्य था) इतनी व्यापक और सामान्य हैं कि कदाचित् ही ऐसा कोई कार्य हो जिसे गवर्नर-जनरल इसके द्वारा अपने अधिकार में नहीं ले सकता हो, यदि वह अपनी सम्मति में आवश्यक समझता हो, और इस विषय में उसकी सम्मति ही अन्तिम निर्णायक थी। यह विशेष उत्तरदायित्व इतने सन्दिग्ध, अनिश्चित और व्यापक हैं कि समस्त विभाग इनके नियन्त्रण में लिए जा सकते हैं।"[1]

वास्तव में इन विशेष उत्तरदायित्वों का प्रयोग इस प्रकार से होना था कि ब्रिटिश हितों की भारत में रक्षा हो सके।

विशेष उत्तरदायित्वों पर एक दृष्टि

विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित अधिकार गवर्नर-जनरल निरंकुशता से प्रयोग में ला सकता था। अधिनियम में इनके प्रयोग पर कोई सीमा या प्रतिबन्ध की व्यवस्था नहीं थी।

सारांश में ये विशेष उत्तरदायित्व प्रान्तीय स्वराज्य पर एक बाधा थे; देशी राज्यों में प्रजातन्त्र के विकास को रोकने का एकमात्र साधन था तथा भारत में ब्रिटिश हितों तथा साम्राज्य का पोषक था। डॉ० ए० बी० कीथ का मत है; "विशेष उत्तरदायित्वों की अत्यन्त संकुचित व्याख्या किये जाने के कारण यह सम्भव है कि वह मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व को ही नष्ट कर दें।"[2]

---

1 डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के बम्बई कांग्रेस में सन् १९३४ के भाषण से।

1 "Too narrowly interpreted the (special) responsibilities might destroy the possibility of ministerial responsibility."

—*A. B. Keith.*

इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल के अधिकारों में उसके व्यवस्थापक, वित्तीय तथा अन्य अधिकार हैं।

सन् १९३५ के अधिनियम में व्यवस्थापन-क्षेत्र में भी गवर्नर-जनरल को अनेक महत्वपूर्ण शक्तियां प्रदान कीं। स्वविवेकानुसार आचरण करते हुए वह संघीय विधान-मण्डल का आवाहन, विघटन या स्थगन कर सकता था। उसके किसी एक सदन, अथवा दोनों सदनों में भाषण दे सकता था या संदेश भेज सकता था। संघीय विधान-मण्डल द्वारा पारित कोई भी विधेयक बिना गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के कानून नहीं बन सकता था। उसे स्वविवेकानुसार किसी भी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अनुमति देने, न देने, अथवा उसे सम्राट की स्वीकृति के लिए संरक्षित करने का अधिकार प्राप्त था। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक तो बिना उसकी पूर्व स्वीकृति के विधान-मण्डल में पुनः स्थापित ही नहीं किये जा सकते थे। गवर्नर-जनरल किसी भी प्रस्ताव को पुनर्विचार के हेतु विधान-मण्डल को वापस कर सकता था अथवा वह विधान-मण्डल में किसी प्रस्ताव पर चल रही बहस को रोक सकता था। उसे अध्यादेश तथा गवर्नर-जनरल के अधिनियम (Governor-General's Act) जारी करके प्रत्यक्ष व्यवस्थापन कर सकने का भी अधिकार प्राप्त था। यदि कभी आपात् की स्थिति उत्पन्न हो जाय तो उस पर नियन्त्रण रखने के लिए गवर्नर-जनरल तत्काल ही अध्यादेश जारी कर सकता था जिनकी अवधि छह मास थी, परन्तु यह बढ़ायी भी जा सकती थी। इसके विपरीत 'गवर्नर-जनरल का अधिनियम' एक स्थायी कानून था जिसे गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकारों द्वारा पारित करता था। इनका मुख्य प्रयोजन उसे अपने संरक्षित कार्यों तथा विशेष उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में समर्थ बनाना था। यदि वह समझता कि इनके लिए किसी अधिनियम की आवश्यकता है तो वह विधान-मण्डल को अपने संदेश सहित इच्छित विधेयक का प्रारूप भेज सकता था। यदि एक मास के भीतर विधान-मण्डल उसे पारित करने में असफल रहता तो गवर्नर-जनरल बिना विधान-मण्डल की स्वीकृति के ही उस विधेयक को अपने हस्ताक्षरों द्वारा विधि का रूप दे सकता था।

गवर्नर-जनरल की व्यवस्थापन-शक्तियां

वित्तीय-क्षेत्र में भी गवर्नर-जनरल को असीमित अधिकार प्राप्त थे। कर लगाने अथवा व्यय से सम्बन्धित समस्त प्रस्तावों पर उसकी स्वीकृति आवश्यक थी। कुल व्यय का लगभग ८०% भाग तो मत-निरपेक्ष ही था। इस पर उसे पूरा नियन्त्रण प्राप्त था तथा वह, यदि संघीय विधान-मण्डल ने किसी अनुदान-माँग को अस्वीकृत अथवा कम कर दिया हो तो उसे यथापूर्व स्थापित कर सकता था।

वित्तीय शक्तियां

गवर्नर-जनरल को शासन के अनेक अधिकारियों की नियुक्ति करने का भी

अधिकार प्राप्त था। वह लोकसेवा-आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को व अजमेर मारवाड़, कुर्ग तथा बिलोचिस्तान के चीफ कमिश्नर की नियुक्ति करने में स्वविवेकानुसार आचरण कर सकता था। उसे ऑडीटर-जनरल, एडवोकेट-जनरल, वित्तीय परामर्शदाता तथा गवर्नरों की नियुक्ति में व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग का अधिकार प्राप्त था तथा रिजर्व बैंक के डायरेक्टरों की भी नियुक्ति का अधिकार उसी को था।

गवर्नर-जनरल द्वारा अधिकारियों की नियुक्ति

ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल अत्यन्त शक्तिशाली एवं सामर्थ्यवान था। वह पूर्ण रूप से शासन का अधिनायक था। उसकी शक्तियों और विशेष स्थिति के समक्ष मन्त्री नगण्य थे। मन्त्रियों को दोहरे अभिनय (एक जनता के प्रति उत्तरदायित्व तथा दूसरा गवर्नर-जनरल की दृष्टि में योग्यता) के कारण उसकी शक्तियों में और अधिक वृद्धि हुई थी। स्वयं विंस्टन चर्चिल ने कहा था :

"वायसराय अथवा गवर्नर-जनरल को हिटलर और मुसोलिनी के समस्त अधिकार प्राप्त थे। अपनी लेखनी के संकेत मात्र से वह विधान के टुकड़े-टुकड़े कर सकता था, तथा किसी आज्ञप्ति द्वारा कोई भी कानून, यहाँ तक कि मार्शल कानून पास कर सकता था, जो कोई कानून ही नहीं था। इन सबका केवल वही निर्णायक था। ऐसा कार्यकर्ता वास्तव में एक तानाशाह ही था और उसके पास एक विशाल सेना भी थी।[1]

संघीय विधान-मण्डल

सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम ने एक द्विसदनात्मक विधान-मण्डल की व्यवस्था की। यह कोई नवीन आविष्कार नहीं था, वरन् सन् १९१९ के शासन अधिनियम द्वारा स्थापित व्यवस्था का ही पुनर्गठन मात्र था। विधान-मण्डल के उच्च सदन, राज्य-परिषद् (कौंसिल ऑफ स्टेट्स) की सदस्य-संख्या २६० निश्चित की गयी, जिसमें से १५६ सदस्य ब्रिटिश भारत के[2] तथा १२५ देशी रियासतों के प्रतिनिधि होते थे। यह एक स्थायी सदन था तथा इसका कभी भी विघटन नहीं हो सकता था। इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति तीन वर्ष बाद अपने पद से मुक्त होते जाते थे।

राज्य-परिषद

---

1 "The Viceroy or Governor-General was armed with all the powers of a Hitler or Mussolini. By a stroke of pen, he could scatter the constitution and decree any law to be passed or martial law, which was no law at all, of these he was the sole judge. Such a functionary was a dictator and he had a very powerful army." —Winston Churchill.

2 ब्रिटिश भारत के १५६ सदस्यों में से ६ सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा [contd.

राज्य-परिषद् के ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का निर्वाचन साम्प्रदायिक निर्वाचन-मण्डल के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से होने का था, परन्तु इसके विपरीत देशी राज्यों के सदस्य उनके शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे। ब्रिटिश भारत में मताधिकार भी संकुचित था तथा यह सम्पत्ति सम्बन्धी अर्हताओं पर आधारित था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में कुल मतदाताओं की संख्या लगभग एक लाख ही थी। इसके अतिरिक्त अन्य संघीय सदस्य प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने को थे तथा सभी एककों को समान प्रतिनिधित्व भी नहीं प्रदान किया गया था।

संघीय सभा

संघीय सभा के सदस्यों की संख्या ३७५ निश्चित की गई। इसमें से २५० स्थान ब्रिटिश भारत के लिए तथा १२५ राज्यों के लिए रखे गये। ब्रिटिश भारत के लिए सुरक्षित स्थानों में से ४ अप्रान्तीय थे तथा यह व्यापार, उद्योग व श्रम का प्रतिनिधित्व करते थे।[1]

मनोनीत होते थे; अतः निर्वाचित सदस्यों की संख्या केवल १५० थी जिनका विभिन्न प्रान्तों के मध्य निम्न प्रकार वितरण होता था :

बंगाल	२०	मध्यप्रान्त व बरार	८	दिल्ली	१
मद्रास	२०	आसाम	५	अजमेर-मारवाड़	१
संयुक्तप्रन्त	२०	उड़ीसा	५	कुर्ग	१
बम्बई	१६	पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	५	अप्रान्तीय	१०
बिहार	१६	सिन्ध	५		
पंजाब	१६	बिलोचिस्तान	१		

साम्प्रदायिक आधार पर उपरिवर्णित स्थानों का बंटवारा निम्न प्रकार किया गया :

साधारण	७५	अनुसूचित-वर्ग	६
मुसलमान	४९	सिक्ख	६
स्त्रियाँ	६	योरोपियन	७
आंग्ल-भारतीय	१	भारतीय ईसाई	२

1 संघीय सभा के लिए ब्रिटिश भारत के लिए सुरक्षित शेष २४६ स्थानों का विभिन्न प्रान्तों में निम्न प्रकार वितरण होना था :

बंगाल	३७	उड़ीसा	५
मद्रास	३७	पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	५
संयुक्तप्रान्त	३७	सिन्ध	५
बम्बई	३०	बिलोचिस्तान	१
पंजाब	३०	दिल्ली	२
बिहार	३०	अजमेर-मारवाड़	१
मध्यप्रान्त व बरार	१५	कुर्ग	१
आसाम	१०		

[contd.

साधारणतया निम्न सदनों के निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति से होते हैं परन्तु भारतवर्ष में इसके विपरीत ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के निर्वाचन साम्प्रदायिक आधार पर विधान-मण्डलों द्वारा परोक्ष रीति से होने को थे। इस प्रकार हिन्दू व मुसलमान प्रतिनिधि प्रान्तीय विधान-मण्डलों के ही हिन्दू व मुसलमान सदस्यों द्वारा पृथक्-पृथक् निर्वाचित होने को थे।

संघीय सभा का कार्यकाल पाँच वर्ष निश्चित किया गया परन्तु इस अवधि के पूर्व भी इसका विघटन किया जा सकता था अथवा संसद के एक अधिनियम द्वारा इसके कार्यकाल में वृद्धि की जा सकती थी।

संघीय व्यवस्थापिका की शक्तियां

भारत शासन अधिनियम, १९३५ के अनुच्छेद ९९-११० में संघीय व्यवस्थापिका की शक्तियों का उल्लेख किया गया है। यह समस्त ब्रिटिश भारत अथवा इसके किसी भी भाग के लिए अधिनियम बना सकती थी तथा संघीय कार्यपालिका को इन्हें लागू करना था। यदि संघीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कोई विधि किसी संघीय राज्य द्वारा निर्मित किसी विधि के विपरीत होती तो राज्य की विधि प्रभावी नहीं होती थी, चाहे वह संघीय व्यवस्थापिका द्वारा उस विधि के बनाए जाने के पहले से ही लागू क्यों न हो। यदि गवर्नर-जनरल आपात् की उद्घोषणा जारी कर देता तो संघीय विधान-मण्डल प्रान्तीय विषयों पर भी कानून बना सकता था। संघीय व्यवस्थापिका प्रान्तीय समस्याओं पर भी विधि बना सकती थी, यदि प्रान्तीय व्यवस्थापिका ने उससे ऐसा नियम बनाने का आग्रह किया हो परन्तु प्रान्तों को ऐसे नियमों को सर्वथा अस्वीकृत कर देने अथवा संशोधित कर देने का अधिकार प्राप्त था।

विधायी अधिकार

देखने में संघीय व्यवस्थापिका के उपर्युक्त अधिकार बड़े व्यापक दीखते हैं परन्तु यह व्यवहार में अत्यन्त सीमित थे: हम वास्तव में इसे एक प्रभुत्व-सम्पन्न विधान-मण्डल नहीं कह सकते क्योंकि इसे संविधान अधिनियम में संशोधन करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। नहीं ही इसे भारत के ऊपर लागू होने वाले ब्रिटिश संसद द्वारा निर्मित अधिनियमों में संशोधन अथवा उनको रद्द करने का

इन स्थानों का विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों तथा हितों के मध्य निम्न प्रकार वितरण होने को था:

साधारण	१०५ (जिसमें १९ अनुसूचित जातियों के लिए सम्मिलित हैं)	आंग्ल-ईसाई	८
		आंग्ल भारतीय	४
		स्त्रियाँ	६
मुसलमान	८२	जमींदार	७
सिक्ख	६	व्यापार व उद्योग	११
योरोपियन	८	श्रम	१०

अधिकार प्राप्त था। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक बिना गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के संघीय विधान मण्डल में पुनः स्थापित नहीं किए जा सकते थे। गवर्नर-जनरल शान्ति तथा सुरक्षा अथवा अपने विशेष उत्तरदायित्व से सम्बन्ध रखने वाले किसी भी विधेयक को, जो विधान-मण्डल के विचाराधीन हो, रोक सकता था अथवा उस पर चलती हुई बहस बन्द कर सकता था। उसके द्वारा स्वीकृत समस्त प्रस्ताव गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार के आधीन थे. गवर्नर-जनरल बिना विधान-मण्डल की सहमति के अध्यादेश जारी कर सकता था अथवा 'गवर्नर-जनरल' का अधिनियम पारित कर सकता था।

वित्तीय अधिकार

संघीय विधान-मण्डल के वित्तीय अधिकार भी अत्यन्त सीमित थे। कर लगाने वाले तथा व्यय से सम्बन्धित प्रस्ताव बिना गवर्नर-जनरल की सिफारिश के पुनः स्थापित नहीं किये जा सकते थे। विधान मण्डल को बजट पर बहस करने का अधिकार था (गवर्नर-जनरल का वेतन छोड़कर) पर इसका केवल २०% भाग ही मत-सापेक्ष था। इसमें भी यदि विधान-मण्डल यदि किसी अनुदान की माँग को अस्वीकृत या कम कर दे तो गवर्नर-जनरल उसे फिर से यथापूर्व स्थापित कर सकता था।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण

संघीय विधान-मण्डल का संघीय कार्यपालिका पर नियन्त्रण केवल उन्हीं विषयों तक सीमित था, जो गवर्नर-जनरल की स्वविवेकी-शक्तियों तथा विशेषाधिकारों के अन्तर्गत नहीं आते थे। केवल मन्त्रिपरिषद् ही संघीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी थी तथा गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् उसके नियन्त्रण से सर्वथा विभक्त थी। यद्यपि संघीय विधान-मण्डल सरकार की नीतियों पर विचार कर सकती तथा आलोचना कर सकती थी। संक्षेप में, संघीय विधान-मण्डल केवल एक विचारात्मक निकाय मात्र था।

संघीय न्यायालय

संगठन

सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम ने एक संघीय न्यायालय की भी स्थापना की व्यवस्था की। इस न्यायालय का उद्घाटन १ अक्टूबर, सन् १९३७ को किया गया। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा छह अन्य न्यायाधीश होते थे।[1] न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। वह सदाचार पर्यन्त ६५ वर्ष तक की आयु तक अपने पद पर स्थिर रह सकते थे तथा सदाचार, मन अथवा शरीर की दुर्बलता पर सम्राट उन्हें अपदस्थ कर सकता था। प्रधान न्यायाधीश का वेतन ७,००० रु० तथा अन्य न्यायाधीशों का ५,५०० रु० था। यह धन केन्द्रीय राजस्व से

1 इसमें केवल १ मुख्य न्यायाधीश तथा २ न्यायाधीशों की नियुक्ति हुई थी।

दिया जाता था तथा इन पर मतदान नहीं हो सकता था। न्यायाधीशों के कार्य-काल में वेतन में कटौती नहीं की जा सकती थी।

संघीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार का था। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत संविधान से सम्बन्धित किसी व्याख्या-विशेष से उत्पन्न सभी मामले तथा भारतीय संघ तथा एक राज्य अथवा एक प्रान्त के मध्य, अथवा एक प्रान्त तथा एक राज्य के मध्य, अथवा दो या अधिक प्रान्तों अथवा राज्यों के मध्य उत्पन्न विवाद आते थे। अपीलीय क्षेत्राधिकार में यह संघ प्रान्तों अथवा संघांतरित राज्यों के उच्च न्यायालयों से अपीलें सुन सकता था, यदि वह यह प्रमाणित कर देते थे कि अपील से सम्बन्धित मामले में संविधान अधिनियम, अथवा उसके अधीन दिए गये आर्डर-इन-कौंसिल, अथवा राज्य में प्रवेश-पत्र द्वारा संघ में निहित विधायी या कार्यपालिका सत्ता के विस्तार के निर्वाचन से सम्बद्ध कोई सारपूर्ण विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त था। सन् १६४८ में इस संघीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वृद्धि कर दी गयी थी तथा इसे उच्च न्यायालयों से उन विवादों को सुनने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था। ५०,००० रुपये या इससे अधिक की राशि को अन्तर्ग्रस्त करते थे। इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल भी विधि सम्बन्धी किसी महत्वपूर्ण प्रश्न को संघीय न्यायालय के विचारार्थ सौंप सकता था तथा उसका परामर्श ले सकता था।

क्षेत्राधिकार

परामर्शवादी अधिकार

संघीय न्यायालय के निर्णय अन्तिम नहीं होते थे। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपीलें प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति को की जा सकती थीं। वह मामले, जिनमें अपील की जा सकती थी, निम्न हैं: (१) वह विवाद जो संविधान के अथवा उसमें अधीन जारी आर्डर-इन-कौंसिल से सम्बन्ध रखते हों; (२) वह विवाद जो राज्य के प्रवेश-पत्र द्वारा संघ में निहित विधायी तथा कार्यपालिका शक्ति के विस्तार से सम्बन्धित हों तथा (३) वह विवाद जो राज्य-क्षेत्रों के अन्तर्गत संघीय विधि के प्रवर्तन के लिए किए गए समझौते के निर्वाचन से सम्बन्धित हों। इन सब विषयों पर अपीलें बिना संघीय न्यायालय की अनुमति प्राप्त किए की जा सकती थीं। अन्य विवादों में संघीय न्यायालय अथवा सपरिषद् गवर्नर-जनरल की अनुमति प्राप्त करके प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति में अपीलें की जा सकती थीं।

संघीय न्यायालय अन्तिम न्यायालय नहीं

प्रान्तीय सरकार

सन् १६३५ के शासन अधिनियम ने प्रान्तों को एक नवीन कानूनी व्यक्तित्व प्रदान किया। वह केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक एकक नहीं रह गये तथा उनमें जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई। प्रान्तीय सरकार की मौलिक शक्तियों का स्रोत संविधान हो गया। संविधान

ने ही उनको अपने निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत अपने निजी अधिकार में कार्यपालिका तथा विधायनी शक्तियों के प्रयोग करने का अधिकार प्रदान किया।

इस शासन अधिनियम ने भारत में ग्यारह स्वायत्त राज्यों का एक संघ बनाया। यह ग्यारह राज्य निम्न थे : मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्तप्रान्त, पंजाब, बिहार, मध्यप्रदेश व बरार, आसाम, उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त, उड़ीसा तथा सिन्ध, परन्तु यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि सभी प्रान्त पूर्णरूप से केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र न थे। धारा १०२ के अधीन गवर्नर-जनरल युद्ध अथवा भयंकर आन्तरिक अशान्ति के खतरे को देखते हुए यदि आपात् की घोषणा निकाल देता तो संघीय विधान-मण्डल प्रान्तीय-सूची पर भी विधि बना सकता था। गवर्नर-जनरल उन विधेयकों पर, जिन्हें गवर्नर उसकी स्वीकृति के लिए संरक्षित कर देता, स्वीकृति देने से मना भी कर सकता था। अनुच्छेद ९३ के अधीन यदि गवर्नर अपने प्रान्त के भीतर संवैधानिक शासन के विफल होने की घोषणा कर देता तो प्रान्तीय स्वायत्तता का पूरा ढांचा ही गिरा दिया जा सकता था तथा प्रान्त का प्रशासन केन्द्र के अधीन कर दिया जा सकता था। सामान्य परिस्थितियों में भी जब कभी गवर्नर स्वविवेक के अनुसार कार्य करते अथवा वैयक्तिक निर्णय का प्रयोग करते तो गवर्नर-जनरल के नियन्त्रण में होते थे। अनुच्छेद १२६ के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के दृष्टिकोण से प्रान्तीय सरकारों के लिए निर्देश भी निकाल सकता था।

एक अन्य दृष्टि से भी प्रान्तीय स्वायत्तता पूर्ण न थी। यद्यपि अब दोहरे शासन अर्थात् संरक्षित तथा हस्तान्तरित विभागों का विभेद समाप्त हो गया तथा प्रान्तीय शासन पूर्ण रूप से विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी मन्त्रि-मण्डल हाथ में आ गया परन्तु फिर भी गवर्नरों को असीम शक्तियाँ प्रदान की गयी थीं। उन्हें अनेक स्वविवेकी शक्तियाँ तथा विशेषाधिकार प्रदान कर दिये गये। उन्हें पूरा करने के लिए वह बिना मन्त्रियों से परामर्श लिए ही काम कर सकते थे।

इन अधिनियमों में स्पष्ट रूप में उल्लेख कर दिया गया कि केन्द्र तथा प्रान्तों की कार्यपालिका, विधायिनी तथा वित्तीय शक्तियाँ क्या-क्या थीं। अधिनियम में

तीन सूचियाँ

तीन सूचियाँ थीं, जिनमें एक संघीय विषयों से सम्बन्धित थी, दूसरी प्रान्तीय विषयों से सम्बन्धित थी जिसमें ५४ विषय थे, तथा तीसरी सूची समवर्ती-सूची थी जिसमें दिये विषयों पर केन्द्र तथा प्रान्त दोनों को ही अधिकार प्राप्त था।

गवर्नर

अधिनियम ने प्रान्त की समस्त कार्यपालिका शक्ति गवर्नर में निहित की।

वैधानिक स्थिति में परिवर्तन

यह सम्राट का प्रतिनिधि समझा जाता था। प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना होने के कारण उसकी वैधानिक स्थिति में परिवर्तन हो गया। जब कभी गवर्नर मन्त्रियों की

मन्त्रणा पर कार्य करता था, वह गवर्नर-जनरल के नियन्त्रण से मुक्त होता था, परन्तु जब वह स्वविवेक अथवा वैयक्तिक निर्णय के अनुसार कार्य करता था, वह गवर्नर-जनरल के अधीन होता था। बम्बई, मद्रास तथा बंगाल के गवर्नर की नियुक्ति सम्राट भारतमन्त्री की सिफारिश पर तथा अन्य प्रान्तों के गवर्नरों को, वह वायसराय की सिफारिश पर नियुक्त करता था। गवर्नरों की पद अवधि तथा सेवा की शर्तें वही थीं जो सन् १९१९ के अधिनियम में थीं।[1]

अधिकार तथा शक्तियां

सन् १९३५ के अधिनियम ने गवर्नरों की शक्ति में अत्यधिक विस्तार किया। वह अपनी शक्ति का प्रयोग (१) अपने मन्त्रियों के परामर्श से कर सकते थे, अथवा (२) उनका परामर्श लेने के पश्चात् स्वनिर्णय से कर सकते थे, अथवा (३) स्वविवेकानुसार बिना मन्त्रियों के परामर्श के ही कर सकते थे। गवर्नर की अन्तिम दो शक्तियां ही वास्तविक रूप में प्रान्तीय शासन पर अंकुश थीं तथा यदि वह मनमाने ढंग से उनका प्रयोग करता तो वह स्वेच्छाचारी शासक बन सकता था। कतिपय

स्वविवेकी शक्तियां

विषयों में गवर्नर बिना मन्त्रियों का परामर्श प्राप्त किये ही स्वविवेकानुसार कार्य कर कर सकता था। कार्यकारी क्षेत्र में उसकी शक्तियां निम्न विषयों से सम्बन्धित थीं :

(१) अधिनियम के अनुच्छेद ९१ के अनुसार पृथक्य क्षेत्रों, पिछड़ी हुई जंगली जातियों के क्षेत्रों का प्रशासन ;

(२) मन्त्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति ;

(३) मन्त्रियों के वेतनों को, जब तक वह व्यवस्थापिका द्वारा निश्चित नहीं किये गये हों, निश्चित करना ;

---

1 भिन्न-भिन्न प्रान्तों में गवर्नरों का वेतन तथा सजावट, पर्यटन, वैयक्तिक सेवक तथा मनोरंजन आदि भत्ते निम्न प्रकार थे :

प्रान्त	वार्षिक वेतन	भत्ते
मद्रास	१,२०,०००	५,७५,०००
बम्बई	१,२०,०००	५,३८,४००
बंगाल	१,२०,०००	६,०७,३००
संयुक्तप्रान्त	१,२०,०००	२,९७,०००
पंजाब	१,००,०००	१,४१,२००
बिहार	१,००,०००	१,०८,०००
मध्यप्रान्त	७२,०००	१,०७,३००
आसाम	६६,०००	१,४२,१००
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	६६,०००	१,१२,८५०
सिंध	६६,०००	१,२९,८००
उड़ीसा	६६,०००	१०३,०००

(४) हिंसक तथा विनाशक कार्यवाहियों को रोकना जिनका उद्देश्य शासन-यन्त्र को नष्ट-भ्रष्ट कर देना हो;

कार्यपालिका क्षेत्र में

(५) खुफिया विभाग की सूचनाओं को ऐसे व्यक्तियों (मंत्रियों सहित) दिये जाने से रोकना, जिनके लिए उसने आदेश नहीं दिया हो ;

(६) प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल के निर्देशों का पालन करना ;

(७) प्रान्तीय लोकसेवा-आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति करना ; तथा

(८) वैयक्तिक कर्मचारी-वर्ग की नियुक्ति एवं उनका वेतन निर्धारित करना।

व्यवस्थापिका-क्षेत्र में गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियां निम्न थीं ;

(१) प्रांतीय विधान-मण्डल की बैठक बुलाना, स्थगित करना तथा उन्हें विघटित करना ;

(२) प्रांतीय व्यवस्थापिका में कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों की पुनः स्थापना के पूर्व अनुमति देना ;

(३) किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा पर चल रहे विवाद को रोक देना ;

व्यवस्थापन-क्षेत्र में

(४) प्रांतीय विधान-मण्डल द्वारा पारित विधेयकों पर स्वीकृति प्रदान करना, निषेध करना, अथवा उन्हें गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के लिए रक्षित करना ;

(५) अध्यादेश प्रवर्तित करना तथा गवर्नर के अधिनियम अधिनियमित करना।

वित्तीय क्षेत्र

वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर को यह निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त था कि कौन-सा विषय मत-सापेक्ष्य है तथा कौन-सा मत-निरपेक्ष। वह विधान-मण्डल द्वारा अस्वीकृत अथवा कम की गई किसी भी अनुदान मांग को यथापूर्व स्थापित कर सकता था।

विशेष उत्तरदायित्व

अधिनियम के अनुच्छेद ५२ के द्वारा गवर्नर को कुछ विशेष उत्तरदायित्व भी प्रदान किये गये थे। इनके द्वारा उसका अधिकार सम्पूर्ण शासन पर हो सकता था तथा वह विधि, अर्थ अथवा शासन-व्यवस्था का सर्वेसर्वा बन सकता था। इनके विषय में सर सेम्युअल होर का मत था कि यह इतने विस्तृत थे कि लगभग सम्पूर्ण शासन-क्षेत्र ही उसके अन्तर्गत आ जाता था तथा वह प्रांतीय शासन में उत्तरदायित्व के सिद्धांत के लिए खतरनाक भी हो सकते थे। गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित थे :

(१) प्रांत में अथवा उसके किसी भाग में शांति की स्थापना अथवा शांति भंग करने वाले खतरों का निवारण ;

(२) अल्पमतों के उचित हितों की रक्षा ;

(३) नौकरों के कानूनी अधिकारों व उचित हितों की रक्षा ;
(४) देशी राज्यों के अधिकारों तथा उनके शासकों की प्रतिष्ठा की रक्षा ;
(५) व्यापारिक विभेदों की रोकथाम ;
(६) अपवर्जित-क्षेत्रों का प्रशासन ; तथा
(७) गवर्नर-जनरल के आदेशों तथा निर्देशों को लागू करना ।

अनुच्छेद ९३ के अन्तर्गत गवर्नर को अधिकार प्राप्त था कि आवश्यकता पड़ने पर वह प्रांतीय शासन सम्बन्धी कोई भी अधिकार अथवा सब अधिकार अपने हाथ में ले ले । इसके लिए उसे इस बात की उद्घोषणा करनी पड़ती थी कि प्रांतों में संवैधानिक उपबन्धों के अनुसार शासन का संचालन नहीं हो सकता । घोषणा के उपरांत वह मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ कर सकता था, विधान-मण्डल विघटित कर सकता था तथा उच्च न्यायालयों को छोड़कर समस्त सरकारी निकायों का शासन अपने हाथ में ले सकता था । गवर्नर को इस बात का निर्णय अपने स्वविवेक के अनुसार करने का अधिकार प्राप्त था कि उसका कोई विशेष उत्तरदायित्व कब अन्तर्ग्रस्त होता था । इन अधिकारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, "गवर्नर सरकार को केवल अलंकृत करने वाला अध्यक्ष नहीं है : वह सरकार का प्रभावशाली, नियन्त्रण तथा अधिकार रखने वाला अध्यक्ष भी है ।"[1]

अनुच्छेद ९३

मन्त्रि-मण्डल

इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्त का शासन गवर्नर को मन्त्रिमण्डल के सहयोग तथा परामर्श से चलाना था । वैधानिक दृष्टिकोण से तो मन्त्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति गवर्नर अपने स्वविवेक से करता था, परन्तु गवर्नरों के नाम भारतमन्त्री के आदेश-पत्र में व्यवस्थापिका के बहुमत दल के नेता के परामर्श से गवर्नर मन्त्रियों की नियुक्ति करता था । वही बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री-पद पर नियुक्त करता था । मन्त्री अपने पद पर तब तक बने रह सकते थे जब तक उन्हें निम्न सदन का विश्वास प्राप्त हो ।[2] आदेश-पत्र के अनुसार गवर्नर को यह भी परामर्श दिया गया था कि वह यथासम्भव

1 "Governor is not merely the ornamental head of the government, he is also its effective, controlling and dominating head."
—*K. T. Shah.*

2 अधिनियम के अनुसार मन्त्रिगण गवर्नर के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रह सकते थे, परन्तु आदेश-पत्र के अनुसार भारत में भी इंगलैण्ड के समान ही प्रथा अपनायी जाती थी कि मन्त्री अपने पद पर तभी तक आसीन रहें जब तक उन्हें निम्न सदन का विश्वास प्राप्त हो । भारत में भी अधिकांश गवर्नरों की यही प्रवृत्ति थी, परन्तु कुछ गवर्नरों ने मन्त्रियों को हटाने में स्वेच्छाचारिता से काम लिया । सिन्ध के गवर्नर ने श्री अल्लाहबख्श को पदच्युत करने में अपनी शक्ति का सर्वथा अवैधानिक ढंग से प्रयोग किया ।

महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों में से भी किसी को मन्त्रिपद अवश्य दिलवाये जिससे उनके हितों की उपेक्षा न हो सके परन्तु कठिनाई तब उठ खड़ी होती थी जब अल्पसंख्यक वर्ग का कोई निर्वाचित प्रतिनिधि बहुमत दल में सम्मिलित न हो क्योंकि उन दोनों के हितों में परस्पर मतभेद होता था। ऐसी समस्या सन् १९३७ के निर्वाचनों के पश्चात् जब मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ तो संयुक्त प्रान्त में उठ खड़ी हुई। कांग्रेस यहाँ बहुमत में थी तथा उसने केवल उन्हीं मुसलमानों को मन्त्रिमण्डल में शामिल करने का निश्चय किया जो कांग्रेस के शपथ-पत्र पर हस्ताक्षर कर दल में सम्मिलित होने तथा उसके कार्यक्रम को स्वीकार करने को तत्पर थे। मुस्लिम लीग ने, जो अल्पसंख्यक दल था, कांग्रेस के इस कार्य को गलत कहा क्योंकि उसका कहना था कि कांग्रेसी मुसलमानों को विधान-मण्डल के मुसलमान-सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं था तथा इस कारण वह मुसलमानों का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करते थे परन्तु क्योंकि कांग्रेस निम्न सदन में बहुमत में थी, अतः गवर्नर ने लीग की इस प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया।

अधिनियम में मन्त्री की किन्हीं योग्यताओं अथवा उसकी संख्या का कोई वर्णन नहीं किया गया।[1] मन्त्रियों के लिए केवल इतना आवश्यक था कि वह विधान-मण्डल के किसी भी सदन के सदस्य हों, तथा यदि कोई मन्त्री बिना सदस्य हुए मन्त्री बन जाय तो वह छह मास के भीतर किसी भी सदन की सदस्यता प्राप्त कर ले। उनका वेतन व्यवस्थापिका अधिनियम द्वारा निश्चित करती थी। व्यवस्थापिका इसमें कमी भी कर सकती थी, परन्तु एक मन्त्रिमण्डल के लिए वेतन एक ही बार निश्चित हो जाता था। उसके लिए वार्षिक मतदान भी अनावश्यक था। यह उपबन्ध सन् १९१९ के अधिनियम के विपरीत था, जिसके अनुसार मन्त्रियों के वेतन पर प्रति वर्ष मतदान होना आवश्यक था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका

सन् १९१९ के सुधारों में प्रान्तों में द्विसदनात्मक विधान-मण्डल की स्थापना करने की माँग ठुकरा दी गयी थी, परन्तु जिस समय सन् १९३५ का शासन अधिनियम बना, निम्न सदनों द्वारा कभी अधिकारों का दुरुपयोग न हो, अब प्रान्तों में द्विसदनात्मक विधान-मण्डलों की व्यवस्था की गयी। एक अन्य कारण यह भी था कि प्रान्तों के विशेष हितों को प्रतिनिधित्व देने के लिए (उदाहरणार्थ, बंगाल, बिहार तथा संयुक्त प्रान्त में जमींदारों, बम्बई व मद्रास में पूँजीपतियों) द्विसदनात्मक विधान-मण्डल आवश्यक थे परन्तु द्विसदनात्मक विधान-मण्डल की स्थापना सभी प्रान्तों में नहीं की गयी। केवल बंगाल, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त,

द्विसदनात्मक विधान-मण्डल

1 भिन्न-भिन्न प्रान्तों में मन्त्रियों की संख्या भी भिन्न-भिन्न थी। उदाहरणार्थ, बंगाल में सबसे अधिक मन्त्री थे (१२) तथा उड़ीसा में सबसे कम (३)।

मद्रास, बिहार व आसाम में द्विसदनात्मक विधान-मण्डल की स्थापना की गयी। यह स्थायी निकाय होने को थे तथा उनका विघटन कभी नहीं हो सकता था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का निर्वाचन सब वयस्क नागरिकों द्वारा नहीं होता था वरन् कुल जनसंख्या के लगभग १४ प्रतिशत ही लोगों को मतदान का अधिकार प्राप्त था। इसके लिए शिक्षा, सम्पत्ति या कर की योग्यता रखी गयी थी।

निर्वाचन का आधार

उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश में केवल वही व्यवस्थापिका सभा के लिए मतदाता हो सकते थे जो प्रति वर्ष १५० रु० से अधिक आय पर कर देते हों अथवा ५ रु० प्रति वर्ष से कम लगान की भूमि के मालिक न हों, अथवा जिन्होंने प्रायमरी शिक्षा प्राप्त की हो। केवल उन्हीं स्त्रियों को मतदान का अधिकार था जिनके पति २५ रुपये वार्षिक से कम लगान की भूमि के स्वामी न हों, अथवा ५० रुपये से कम लगान न देते हों। उच्च सदन के लिए केवल वही व्यक्ति मतदान दे सकते थे जो ४००० रुपये से कम की आय पर कर न देते हों, अथवा स्थानीय बोर्डों के अध्यक्ष हों आदि।

विधान-सभाओं का कार्यकाल ५ वर्ष था परन्तु उसके पूर्व भी गवर्नर इसका विघटन कर सकता था, या अवधि बढ़ा सकता था। विधान-परिषद् एक स्थायी

कार्यकाल

निकाय थी तथा उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष सदस्यता से मुक्त होते जाते थे। विभिन्न प्रान्तों में इनकी सदस्य-संख्या में भी अन्तर था। उदाहरणार्थ, संयुक्त प्रान्त के उच्च सदन में ६० से अधिक तथा ५२ से कम सदस्य नहीं हो सकते थे। व्यवस्थापिका-सभा में पृथक् साम्प्रदायिक तथा वर्ग-निर्वाचक-मण्डलों के आधार पर

संगठन

२२८ निर्वाचित सदस्य थे। इनमें सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था नहीं थी। विभिन्न वर्गों तथा जातियों के मध्य उत्तर प्रदेशीय व्यवस्थापिका-सभा में स्थानों का वितरण निम्न प्रकार था—साधारण (जिसमें अनुसूचित जाति के २० प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे) १०४, मुसलमान ६४, ऐंग्लो-इण्डियन १, योरोपियन २, ऐंग्लोक्रिश्चियन २, वाणिज्य उद्योग ३, जमींदार ६, विश्वविद्यालय १, श्रम ३, स्त्रियाँ ६ (जिसमें ४ हिन्दू तथा २ मुसलमान थीं)।

प्रान्तीय विधान-मण्डलों को प्रान्तीय सूची के वर्णित सभी विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त था। यह समवर्ती सूची में भी दिये गये विषयों पर विधि निर्मित कर सकती थी, परन्तु वह उसी विषय पर संघीय विधि के प्रतिकूल न होनी

शक्तियाँ

थी, नहीं तो संघीय विधि ही प्रभावी होती। क्योंकि गवर्नरों को अनेक विशेष अधिकार प्राप्त थे, अतः विधान-मण्डल की विधायी शक्तियाँ सीमित थीं। जिन प्रान्तों में द्विसदनात्मक विधान-मण्डल थे, वहाँ किसी विधेयक की स्वीकृति के लिए दोनों सदनों की सहमति

अनिवार्य थी। धन-विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयक किसी भी सदन में उपस्थित किये जा सकते थे। यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों में विभेद हो जाये तो गवर्नर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता था तथा विधेयक पर बहुमत से निर्णय लिया जाता था। बजट पर यद्यपि दोनों सदनों में विचार किया जाता था, परन्तु अनुदान की माँगों पर मत देने का अधिकार केवल विधान-सभा को ही प्राप्त था। गवर्नर किसी अनुदान की माँग के अस्वीकृत हो जाने पर या कम हो जाने पर यथापूर्व कर सकता था।

प्रशासन पर नियन्त्रण

विधान-मण्डल विभिन्न साधनों से प्रशासन पर अपना नियन्त्रण रख सकता था। यह अविश्वास का प्रस्ताव पास करके मन्त्रियों को पदत्याग करने के लिए विवश कर सकता था। वह सरकार की नीतियों को अस्वीकृत कर सकता था अथवा प्रश्नों, पूरक-प्रश्नों, कामरोको-प्रस्तावों के द्वारा अथवा बजट में अनुदानों की माँग को कम करके प्रशासन के प्रति अपना असन्तोष प्रकट कर सकता था।

प्रान्तीय स्वायतत्ता पर आचरण

देशी राज्यों ने योजना स्वीकृत नहीं की

सन् १९३५ के शासन अधिनियम की प्रत्येक राजनीतिक दल ने आलोचना की। कांग्रेस के सभापति-पद से भाषण देते हुए डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने इसे एक ऐसा संघ कहा जिसमे "भारत के एक-तिहाई पर निर्लज्ज स्वेच्छाचारी राज्य सुरक्षित रहेगा तथा समय-समय पर वह अपनी झाँकी देता रहेगा तथा शेष दो-तिहाई भाग में जनमत का गला घोंटा जायगा। मुस्लिम लीग ने केवल अधिनियम से सम्बन्धित प्रान्तीय योजना को ही स्वीकार किया। देशी राज्यों ने भी, जो गोलमेज-सम्मेलन के समय संघ में, सम्मिलित होने के इच्छुक थे, इसकी ओर विमुखता दिखायी। अधिनियम के अनुसार संघ की स्थापना उसी दशा में हो सकती थी जब कम से कम उतने राज्य, जिनकी जनसंख्या सब राज्यों की कुल जनसंख्या की आधी हो तथा जो संघीय विधान-मण्डल के उच्च सदन में समस्त राज्यों के लिए सुरक्षित कुल स्थानों के कम से कम आधे के अधिकारी हों, प्रविष्ट न हो जायें, अतः केवल अधिनियम के भाग तीन को, जो प्रान्तीय स्वायत्तता से सम्बन्धित था, कार्यरूप में परिणत करने की योजना बनाई गयी। फरवरी, सन् १९३७ में प्रान्तों के विधान-मण्डलों के लिए निर्वाचन हुए। इस निर्वाचन में कांग्रेस ने छह प्रान्तों—बिहार, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य-प्रान्त, उड़ीसा तथा मद्रास में पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। इस प्रकार कांग्रेस ने उन क्षेत्रों में जिनमें ब्रिटिश भारत की दो-तिहाई जनसंख्या आ जाती है, सफल रही। आसाम, बंगाल तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त में भी उसको सफलता प्राप्त हुई। इन प्रान्तों में

केवल प्रान्तीय स्वायत्तता सम्बन्धी माँग कार्यान्वित

चुनाव परिणाम

इनके सदस्यों की संख्या अन्य दलों के सदस्यों की संख्या की अपेक्षा अधिक थी। पंजाब व सिन्ध में इसके सदस्यों की संख्या अत्यन्त कम थी क्योंकि यह मुस्लिम जनसंख्या वाले प्रदेश थे। पंजाब में यूनियनिस्ट दल ने अपना मन्त्रि-मण्डल बनाया था जो हिन्दू, मुसलमान तथा सिक्ख जमींदारों का दल था तथा इसमें यद्यपि मुसलमानों का बहुमत था, फिर भी यह मुस्लिम लीग के नियन्त्रण में बिलकुल नहीं था। इन निर्वाचन-परिणामों से स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम लीग ने अभी सम्पूर्ण भारत तो क्या, मुसलमानों में भी लोकप्रियता नहीं पायी थी क्योंकि इसे ४८२ स्थानों में कुल ५१ स्थान ही प्राप्त हुए थे।

पद-ग्रहण

निर्वाचन के पश्चात् यह प्रश्न उठा कि कांग्रेस पद-ग्रहण करे अथवा नहीं। छह प्रान्तों में उनका पूर्ण बहुमत था, अन्य में से कुछ में वह मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थी। कांग्रेस के सन् १९३५ के अधिवेशन में, जो लखनऊ में हुआ, सन् १९३५ के अधिनियम की आलोचना करते हुए यह निश्चय हुआ था कि कांग्रेस चुनावों में भाग लेगी, परन्तु इस बात पर कोई निर्णय नहीं लिया गया था कि यह पद-ग्रहण करेगी अथवा नहीं। उस समय इस सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया था कि बाद में कांग्रेस-कमेटियों से परामर्श द्वारा निर्णय लिया जायगा। इसके बाद फैजपुर अधिवेशन में पुनः पद-ग्रहण के प्रश्न पर मतभेद पैदा हो गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्र बोस पद-ग्रहण के पक्ष में नहीं थे। वह सरकार से संघर्ष करने के इच्छुक थे। नेहरूजी का कहना है कि पद-ग्रहण करना "उस ध्येय की पूर्ति के प्रति विश्वासघात होगा जिसे हमने स्वीकार किया है।" श्री सुभाषचन्द्र बोस के अनुसार पद-ग्रहण करना अपनी पराजय स्वीकार करना था परन्तु इनके विपरीत दक्षिणपन्थी श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, सरदार पटेल, डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद आदि पद-ग्रहण के पक्ष में थे तथा इनका बहुमत भी था। महात्मा गांधी का मौन समर्थन भी इन्हें प्राप्त था। पद-ग्रहण के प्रश्न पर अन्तिम निर्णय लेने के लिए दिल्ली में कांग्रेस-महासमिति का अधिवेशन अप्रैल सन् १९३७ में बुलाया गया। इसमें दक्षिणपंथियों ने वामपंथियों को पराजित कर दिया तथा पद-ग्रहण के पक्ष में निश्चय करा लिया, परन्तु पद-ग्रहण करने के लिए एक आवश्यक शर्त यह रखी गई कि कांग्रेस उन्हीं प्रांतों में, जहां उनका बहुमत होगा, तभी पद-ग्रहण करेगी जब गवर्नर उन्हें यह आश्वासन दे दें कि वह मन्त्रियों के वैधानिक कार्यों में अपनी असंख्य शक्तियों द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। कांग्रेस की यह मांग थी कि गवर्नरों को उस समय भी जब शासन अधिनियम के अन्तर्गत उनसे अपेक्षा की जाती हो कि वह वैयक्तिक विवेकानुसार कार्य करें, उन्हें मंत्रियों के परामर्शानुसार ही कार्य करना चाहिए। संविधान अधिनियम के अनुसार, ब्रिटिश

कांग्रेस में मतभेद

पद-ग्रहण के पहले गवर्नरों आश्वासन की मांग

सरकार का मत था कि ऐसा आश्वासन गवर्नर तब तक नहीं दे सकते जब तक उसमें संशोधन नहीं किया जाये। इस सम्बन्ध में गांधीजी का मत था कि संविधान में ऐसी कोई बात नहीं थी जो गवर्नरों को अपनी विशेष शक्तियों के प्रयोग में मंत्रिमण्डलों का परामर्श लेने से रोकती हो। उनका विचार था कि गवर्नरों के लिए ऐसा आश्वासन देना सम्भव था तथा ब्रिटिश सरकार स्वायत्त-शासन की स्थापना के प्रति ईमानदार थी, यह दिखाने के लिए आवश्यक भी थी। इस प्रश्न पर अनेक विधि-शास्त्रियों ने अपने विचार व्यक्त किये। प्रो० कीथ ने कांग्रेस के दृष्टिकोण का समर्थन किया। क्योंकि गवर्नरों ने आश्वासन नहीं दिये, अतः कांग्रेस ने पद-ग्रहण करने से इन्कार कर दिया।

अन्तरिम मन्त्रिमण्डल

क्योंकि कांग्रेस ने पद-ग्रहण नहीं किया, अतः गवर्नरों ने उन प्रान्तों में भी जहाँ वह बहुमत में थी, अल्पसंख्यक दल के नेताओं को मन्त्रिमण्डल बनाने के हेतु आमन्त्रित किया। क्योंकि यह मन्त्रिमण्डल में बहुमत-दल का समर्थन नहीं रखते थे, अतः गत्यावरोध होने लगा। इस प्रकार शासन कुशलता से नहीं चल सकता था। जुलाई में गवर्नर-जनरल ने यह आश्वासन दिया था कि वह भारत में संसदात्मक शासन के सिद्धान्तों की पूर्ण तथा चरम स्थापना के हेतु भरसक प्रयत्न करेंगे। उन्होंने यह भी सांत्वना दी कि दिन-प्रति-दिन के काम में गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे। कांग्रेस को इस आश्वासन से संतोष हुआ तथा ७ जुलाई, सन् १९३७ को कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में प्रस्ताव पारित हुआ कि "जहाँ कांग्रेसियों को मंत्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया जाय, उन्हें मंत्रिमण्डल बना लेने चाहिए, परन्तु वह इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है कि कांग्रेसी मंत्रियों को चुनाव के घोषणा-पत्र के अनुसार काम करने तथा उसके कार्यक्रम को पूरा करने का ही प्रयत्न करना चाहिए।" कांग्रेस ने नवीन शासन अधिनियम से भिड़ने तथा रचनात्मक कार्यक्रम को चलाने के लिए पद-ग्रहण करना स्वीकार किया तथा अन्तरिम मंत्रिमण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिये। सबसे पहले उन छह प्रांतों में, जहाँ कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत था, कांग्रेस के मंत्रिमण्डल बने। बाद में पश्चिमी सीमाप्रांत में भी कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बन गया। आसाम में सादुल्ला—मंत्रिमण्डल के एक महत्वपूर्ण विधेयक पर पराजय हो जाने के कारण वहाँ भी कांग्रेस तथा अन्य दलों ने एक संयुक्त मंत्रिमण्डल बनाया। सिन्ध में मुस्लिम लीग शक्तिशाली थी, बंगाल में दोनों दल बराबर के थे तथा पंजाब में यूनियनिस्टों का मन्त्रि-मण्डल था।[1]

---

1 वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने एक रेडियो वक्तव्य में (२१ जून, सन् १९३७ को) घोषित किया : "इस आशंका का कोई आधार नहीं है कि गवर्नर मन्त्रि-मण्डल की नीति में हस्तक्षेप करेंगे, मन्त्रियों द्वारा प्रान्त के दैनिक शासन

[Contd.

जब कांग्रेस ने अनेक हिन्दू-बहुल प्रान्तों में पद-ग्रहण किया तो मुस्लिम लीग को बहुत चोट पहुँची। अब लीग के नेताओं ने एक नयी करवट बदली। वह यह माँग करने लगे कि जहाँ-जहाँ कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाये हैं, वहाँ वह लीग को हिस्सेदार बनाये। उसकी माँग था कि जिन मुसलमानों को मंत्रिमण्डल में लिया जाये, उनके पक्ष में लीग का अनुसमर्थन प्राप्त किया जाये। वायसराय ने इस माँग की पूर्ति नहीं की। संयुक्तप्रान्त में यह समस्या अत्यन्त जटिल हो गयी। कांग्रेस का कहना था कि जब तक मुस्लिम लीगी दल व्यवस्थापिका में पृथक दल के रूप में काम करना बन्द नहीं कर देगा तथा व्यवस्थापिका के मुस्लिम लीगी सदस्य कांग्रेस के नियंत्रण एवं अनुशासन को स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक कोई समझौता नहीं हो सकता। संयुक्तप्रांत में कांग्रेस ने यह भी शर्त रखी कि आने वाले उप-निर्वाचनों में मुस्लिम लीगी संसदीय मण्डल किसी भी उम्मीदवार को खड़ा नहीं करे। इन शर्तों को मान लेने का अभिप्राय यू० पी० में मुस्लिम लीग की समाप्ति था। लीग के नेताओं ने इस बात को नहीं माना। जब मुस्लिम लीग किसी भी प्रकार के संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकने में असमर्थ रही तो उसने एक नयी नीति अपनायी। मिस्टर जिन्ना तथा लीग के अन्य नेताओं ने यह बावेला मचाया कि हिन्दू-बहुल प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल मुसलमानों पर बहुत अत्याचार कर रहे थे। ऐसे आरोप केवल समाचार-पत्रों में ही नहीं किये गये वरन् वायसराय के पास प्रामाणिक रूप से भी भेजे गये। सन् १९३८ में मुस्लिम लीग ने एक समिति नियुक्त की जिसका काम इन कांग्रेसी प्रान्तों में मुसलमानों के साथ किये गये दुर्व्यवहार की जाँच करना था। इस समिति ने मुसलमानों के साथ अन्याय तथा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के अन्तर्गत उन पर की जाने वाली यातनाओं की लम्बी सूची प्रस्तुत की। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी ने इसका प्रतिवाद किया तथा उन्होंने मिस्टर जिन्ना को पत्र लिखा कि खुली तहकीकात के लिए वह तैयार हैं तथा उन्होंने फेडरल कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश सर मौरिस ग्वायर को इस काम के लिए सरपंच बनाने का सुझाव भी दिया। मिस्टर जिन्ना ने इस सुझाव को इस आधार पर ठुकरा दिया कि अब समस्त मामला

मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण

मुसलमानों पर अत्याचार की दुहाई

में बिना माँगे जबरदस्ती अपनी सलाह लाद देंगे, काम में रुकावट डालेंगे तथा अनिवार्य रूप से अपने विशेष अधिकारों का उपयोग करेंगे। अधिनियम का उद्देश्य तो मन्त्रियों को यह अनुभव करना है कि वे प्रान्तीय हित के अपने काम में गवर्नर व सरकारी कर्मचारी के सहयोग में विश्वास रख सकते हैं और अपना कार्यक्रम स्वयं बनाकर अग्रसर हो सकते हैं। प्रान्तीय स्वशासन में जो कार्य मन्त्रियों के कार्य-क्षेत्र में आते हैं, उनमें गवर्नर साधारणतया मन्त्रियों के परामर्श से ही काम करेंगे तथा उन मामलों में पार्लियामेंट के प्रति नहीं, अपितु विधान-सभाओं के प्रति उत्तरदायी होंगे।"

वायसराय के हाथ में पहुंच चुका था तथा इस कारण किसी भी जांच की जरूरत नहीं थी। कुछ दिन बाद मिस्टर जिन्ना ने पुनः करवट बदली तथा यह मांग की कि मुसलमानों की शिकायतों की जांच के लिए एक रॉयल कमीशन नियुक्त किया जाये। सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया। संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हैरी हेग ने गवर्नरी के पद से अवकाश लेने के बाद सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने साम्प्रदायिक विषयों में निष्पक्षता से काम लिया था तथा सदा इस बात का प्रयत्न किया था कि सबके साथ न्याय हो।

देश के विभाजन की ओर रुख

मिस्टर जिन्ना जब दुबारा भी असफल रहे तो उन्होंने एक नया रूप अपनाया। वह अपने निरक्षर मुसलमान अनुगामियों में इस बात का व्यापक प्रचार करने लगे कि कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था नहीं है। उन्होंने हिन्दू विरोधी भावनाओं को उभाड़ा तथा तिरंगा झण्डा, वन्देमातरम्, हिन्दू प्रचार आदि बातों पर पूर्णतया हिन्दुत्व का 'लेबिल' लगाकर कहने लगे कि जैसे मुस्लिम लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि-संस्था है, वैसे ही कांग्रेस हिन्दुओं की। सन् १९३८ तथा सन् १९३९ में हिन्दू-मुस्लिम एकता के सम्बन्ध में मिस्टर जिन्ना से गांधीजी, श्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्र बोस आदि ने पत्र-व्यवहार किया, परन्तु सबके उत्तर में मिस्टर जिन्ना ने एक ही बात दोहरायी। ७ मार्च, सन् १९३८ को महात्मा गांधी को भेजे एक पत्र में मिस्टर जिन्ना ने लिखा :

"हम अब ऐसे स्थान पर पहुंच गये हैं, जहाँ हमें सन्देह की भाषा छोड़ देनी चाहिए। आप लोग स्वीकार करें कि मुस्लिम लीग भारत के सब मुसलमानों की प्रामाणिक तथा प्रतिनिधि-संस्था है तथा साथ ही आप भी यह मान लें कि आप तथा कांग्रेस दोनों हिन्दुओं के प्रतिनिधि हैं।"

श्री सुभाषचन्द्र बोस ने जब मिस्टर जिन्ना से इस सम्बन्ध में समझौते की बातचीत की तो उन्होंने पुनः यह शर्त प्रस्तुत की कि लीग को सब मुसलमानों तथा कांग्रेस को सब हिंदुओं का प्रतिनिधि माना जाये। कांग्रेस इस बात को मानने के लिए तत्पर नहीं थी, क्योंकि यह मानने से मिस्टर जिन्ना ने एक कदम आगे बढ़ाया। उन्होंने अब यह दावा करना शुरू कर दिया कि हिन्दू व मुसलमान भारत में रहने वाले दो अलग-अलग राष्ट्र हैं, जिनका स्थान व हिस्सा बराबर का है। क्योंकि उन्हें छिपे तौर पर अंग्रेजी सरकार का समर्थन प्राप्त था, वह किसी भी प्रकार से समझौते को असम्भव बनाने तथा देश के विभाजन कराने के लिए प्रयत्नशील रहने लगे।

कांग्रेस ने इसी आश्वासन पर पद-ग्रहण किया था कि गवर्नर अपनी शक्तियों का बिना मन्त्रियों के परामर्श के प्रयोग नहीं करेंगे। कांग्रेस ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि यदि कभी प्रान्तीय प्रशासन-क्षेत्र में गवर्नर

उत्तरदायी मन्त्री तथा गवर्नर

अनुचित हस्तक्षेप करेगा तो मन्त्रिमण्डल पद-त्याग करने के लिए स्वतन्त्र रहेगा। प्रारम्भ से ही कांग्रेस सरकार जनता की भलाई करने की इच्छुक थी परन्तु शीघ्र ही उसे पता चल गया कि जब तक शासन-यन्त्र पर गवर्नर की शक्ति बनी रहेगी, मन्त्री तथा व्यवस्थापिका के सदस्य कुछ भी कर सकने में असमर्थ रहेंगे। कांग्रेस की महासमिति पहले ही यह घोषणा कर चुकी थी कि राजनीतिक बन्दियों को रिहा कराना तथा ऐसे प्रवासी भारतीयों पर से प्रतिबन्ध उठवाना, जिनके भारत-प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगे हैं, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल का प्रथम कर्त्तव्य होगा। इसके

राजनीतिक बन्दियों की रिहाई

अनुसार संयुक्त प्रान्त तथा बिहार में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने राजनीतिक बन्दियों की रिहाई का प्रश्न उठाया। गवर्नर ने इस बात को नहीं माना। उन्होंने इस सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल से परामर्श कर लिया जिसने अनुच्छेद १२६ के अन्तर्गत गवर्नरों को यह आदेश दिया था कि वह मन्त्रियों की मन्त्रणा को न मानें क्योंकि इससे भारत की शान्ति व सुव्यवस्था खतरे में पड़ जायगी। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस बात पर संयुक्त प्रान्त व बिहार में त्याग-पत्र दे दिया, परन्तु शीघ्र ही स्थिति को गतिरोध पैदा करने से रोक लिया गया। सन् १९३५ के अधिनियम का संघीय भाग तो पहले ही मृत था। सरकार प्रान्तीय स्वतन्त्रता के भाग का भी यही हाल होने से रोकना चाहती थी। परिणामतया दोनों पक्षों के मध्य बातचीत होने पर राजनीतिक कैदियों को मुक्त कर दिया गया। इस घटना से शासन के दृष्टिकोण से भारत में दो तरह के प्रान्त हो गये। एक तो वह प्रान्त थे जिनमें कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल थे तथा इनमें गवर्नर की स्थिति लगभग एक वैधानिक प्रभुत्व जैसी हो गयी। दूसरी ओर गैर-कांग्रेसी प्रान्तों में गवर्नर अपनी निरंकुश शक्तियों का बराबर प्रयोग करते रहे। अक्टूबर, सन् १९४२ में सिन्ध के गवर्नर ने प्रधानमन्त्री खानबहादुर अल्लाहबख्श को पदच्युत कर दिया क्योंकि वह 'उसके' (गवर्नर) विश्वासभाजन न रह गये थे। यह उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध था क्योंकि विधान-मण्डल ने उनके प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पारित नहीं किया था। जुलाई, सन् १९४३ में बंगाल में भी गवर्नर ने प्रधानमन्त्री फजलुलहक को त्याग-पत्र देने को बाध्य किया। फजलुलहक का कहना था कि गवर्नर मन्त्रियों पर अपने निर्णय जबरदस्ती लादता है। दिन-प्रतिदिन के गवर्नर के हस्तक्षेप के कारण ही डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने जो बंगाल मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य थे, अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया था।

मन्त्रिमण्डल तथा सिविल सर्विस अधिकारी

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को अपने दिन-प्रति-दिन के काम में सिविल सर्विस के अधिकारियों से भी कभी-कभी सहयोग नहीं मिलता था। मन्त्रियों के अधीन काम करने वाले अधिकारियों पर मन्त्रियों का नियन्त्रण नहीं था क्योंकि उनकी नियुक्तियाँ, वेतन आदि सपरिषद् भारत-मन्त्री के नियन्त्रण

में थीं । जिस समय शासन अधिनियम निर्मित हो रहा था, सिविल सर्विस अधिकारियों ने अभिरक्षणों की मांग की थी क्योंकि उन्हें इस बात का डर था कि कहीं कांग्रेसी मन्त्रियों के अधीन वह ठीक प्रकार काम न कर सकें। जब कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने पद-ग्रहण किया तो कुछ ने तो पहले ही त्याग-पत्र दे दिये थे। इनमें से कुछ ऐसे भी थे जो स्वायत्त-शासन के पक्ष में नहीं थे। ऐसी मनोवृत्ति के अधिकारियों के साथ मन्त्रियों का संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। संयुक्तप्रान्त में जब कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने पद-ग्रहण किया तो वहाँ के चीफ-सेक्रेटरी ने एक आदेश निकाल कर समस्त प्रशासनाधिकारियों को निर्देश दिया कि वह किसी भी मन्त्री की आज्ञा का पालन नहीं करें जब तक कि आज्ञा-पत्र पर किसी सचिव के भी हस्ताक्षर न हों। प्रधानमन्त्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने इस पर आपत्ति प्रकट की तथा उन्होंने इसका स्पष्टीकरण मांगा। उन्हें स्पष्टीकरण से संतोष नहीं हुआ तथा उन्होंने यह कहा कि या तो यह आदेश चीफ-सेक्रेटरी की अनुशासनहीनता प्रकट करता है या उसकी अयोग्यता। बाद में यह आदेश वापिस ले लिया। इस घटना से अधिकारियों को भी उचित पाठ मिल गया तथा वह बाद में अपना कर्त्तव्य ठीक प्रकार निबाहने लगे तथा मन्त्रियों की योजनाओं को कार्यान्वित करने में उन्होंने अधिकतम सहयोग प्रदान किया।

प्रायः सभी प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने रचनात्मक कार्यों पर बल दिया। उन्होंने घरेलू व कुटीर उद्योग, शराबबन्दी, ग्रामोत्थान, श्रमिक कल्याण, कृषि-ऋण, प्रारम्भिक शिक्षा, हरिजनोत्थान आदि सम्बन्धी कार्य अत्यन्त सफलता के साथ किये। प्रो० कूपलैण्ड का मत है कि अपने पद पर अट्ठाईस महीने रहने के दौरान में कांग्रेसी ने कुछ ऐसी सफलताएं प्राप्त कीं जिन पर वह गर्व कर सकती है। "उसके नेताओं ने यह दिखाया कि जहाँ वह बात करना जानते थे, वहाँ उनमें कार्य करने की भी क्षमता थी। जहाँ वह आन्दोलन करना जानते थे, वहाँ वह प्रशासन में भी किसी से कम न थे, उनमें तथा उनके सहयोगियों में सामाजिक सुधारों के लिए भी उत्साह की कमी नहीं थी।"[1] सन् १९३८ में बम्बई में कांग्रेसी सरकार ने उन लोगों की जब्त जमीनें वापिस लौटा दीं जिन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लिया था। मद्रास विधान-सभा ने एक सार्वजनिक स्थान से जनरल नील की मूर्ति हटवा दी। प्रत्येक प्रान्त में राजनीतिक बन्दियों की रिहाई के लिए प्रयत्न किये गये। खेतिहरों को जमींदारों के अत्याचारों से रक्षा

कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों की सफलताएं

1 "Taken as a whole the record of the ministeries was one in which the congress could take a reasonable pride. Its leader had shown that they cold act as well as talk, administer as well as a agitate, and among them and their followers there was a genuine ardour for reforms."

—*Coupland*, India—A Restatement.

करने के लिए उन्होंने प्रयत्न किये। शिक्षा के क्षेत्र में संयुक्तप्रान्त तथा बिहार में गांधीजी की बुनियादी शिक्षा की योजना को कार्यान्वित किया गया। मद्यनिषेध के लिए उन्होंने राजस्व की हानि पर विचार नहीं किया तथा उसे अन्य स्रोतों से पूरा करके प्रशासन-व्यय की कमी को दूर किया। जब सन् १९३९ में, कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने पद-त्याग किया, उनकी बहुत-सी रचनात्मक योजनाएँ अधूरी ही रह गयीं, जो केवल सन् १९४५ के बाद पुनः पद-ग्रहण ग्रहण करने पर ही पूरी हो सकीं; लार्ड लिनलिथगो ने भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के कार्यों की प्रशंसा की है। कांग्रेस को पद-ग्रहण से एक अन्य लाभ यह भी हुआ कि यह जनता के और भी निकट आ गयी। इन्होंने यह सिद्ध किया कि पद-ग्रहण से कांग्रेसी आचरण गिरा नहीं वरन् और भी दृढ़ हुआ। इसने इस बात का भी प्रतिवाद किया कि भारत-वासियों में प्रशासन-क्षमता का अभाव है।

१२

द्वितीय महायुद्ध तथा संवैधानिक गतिरोध

कांग्रेस तथा द्वितीय महायुद्ध

१ सितम्बर, सन् १९३९ को जर्मनी ने पोलैण्ड पर हमला कर दिया। ३ सितम्बर को इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रश्न ने भारत में एक गम्भीर संवैधानिक संकट पैदा कर दिया क्योंकि वायसराय ने भी भारत की ओर से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तथा इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतीय राजनीतिक नेताओं तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका से भी कोई परामर्श नहीं लिया। गांधीजी ने तो इस अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से भारत को युद्ध में शामिल करने का विरोध भी नहीं किया तथा वैयक्तिक रूप से उन्होंने अपनी सहानुभूति इंगलैण्ड तथा फ्रांस की ओर प्रदर्शित की, परन्तु कांग्रेस ने इस प्रकार के अलोकतन्त्रात्मक ढंग से भारत को युद्ध में शामिल करने का विरोध किया। पट्टाभि सीतारम्मैया ने 'कांग्रेस के इतिहास' में लिखा है : "एक ऐसे उद्देश्य के लिए जो उसका अपना था, एक ऐसे झण्डे के नीचे, जिसने उसका अपना झण्डा गिरा दिया था और ऐसे नेताओं की अधीनता में, जो उसके अपने नेताओं से परामर्श लेना नहीं चाहते थे, भारत को क्या नैतिक उत्साह होता, वह क्या सहायता प्रदान करता।"[1]

वायसराय की बिना भारतीय परामर्श के युद्ध की घोषणा

कांग्रेस ने सरकार को अप्रैल, सन् १९३९ में चेतावनी दी जब भारतीय सैनिक टुकड़ियाँ अदन भेजी गयीं। कांग्रेस का कहना था कि वह भारतीय जनता की बिना सहमति के भारत को युद्ध में शामिल करने तथा भारतीय साधनों को युद्ध में प्रयोग करने की सभी चेष्टाओं का विरोध करेगी। सरकार ने इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया तथा अगस्त, सन् १९३९ में भारतीय सैनिकों को सिंगापुर तथा मिस्र भेज दिया गया।

1 History of Congress, II, pp. 124-25.

युद्ध से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करने के लिए १४ सितम्बर, सन् १९३९ को कांग्रेस की कार्यसमिति की एक विशेष बैठक बुलायी गयी। इससे स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया कि "पिछले महायुद्ध के अनुभवों ने हमें यह सिखा दिया है कि ब्रिटिश सरकार या भारत सरकार के युद्धकालीन वचनों या वक्तव्यों पर विश्वास नहीं किया जा सकता है; अतः समिति सरकार से अनुरोध करती है कि भारत के भविष्य के सम्बन्ध में केवल स्थिति का ही स्पष्टीकरण नहीं चाहिए अपितु उन सिद्धान्तों पर अमल भी चाहिए।" अन्त में समिति ने घोषणा कर दी कि "जब तक स्थिति का पूरे तौर पर स्पष्टीकरण नहीं हो जाय तब तक वह देश को सरकार के साथ सहयोग करने की सलाह नहीं दे सकती।"

१४ सितम्बर, १९३९ का कांग्रेस-प्रस्ताव

कांग्रेस ने यह माँग रखी कि यदि इंगलैण्ड लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए युद्ध में कूदा है तो उसे भारत में भी स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के सिद्धांतों को लागू करना चाहिए। उसका कहना था कि हमारे लिए स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं, यदि वह हमें प्राप्त नहीं है।[1] कांग्रेस यह चाहती थी कि ब्रिटिश सरकार यह स्पष्टतया घोषित कर दे कि युद्ध सम्बन्धी उद्देश्यों में साम्राज्यवाद का उन्मूलन भी सम्मिलित था, अथवा नहीं। ब्रेल्सफोर्ड ने भी इस बात की शंका प्रकट की है तथा कहा है कि वह जो स्वयं पराधीन थे, किस प्रकार दूसरों को स्वतन्त्र कराने के लिए युद्ध में भाग लेते।[2] संक्षेप में, कांग्रेस की यह माँग थी कि वह भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दे, तथा युद्धोपरान्त भारत को अपना संविधान बनाने की स्वतन्त्रता प्रदान कर दे तथा अपनी नेकनीयती को प्रमाणित करने के लिए भारतीयों के हाथों में शासन का सक्रिय नियंत्रण दे दे, जिसके पूरा होने पर ही कांग्रेस सरकार को युद्ध में सहयोग देगी। कांग्रेस ने ये शर्तें किसी सौदेबाजी के उद्देश्य से नहीं रखी थीं, वरन् उसका उद्देश्य था कि यदि भारत की स्वतंत्रता घोषित कर दी जायगी तो जनता युद्ध में उत्साहपूर्वक सहयोग देगी। वह इस युद्ध को अपने पर होने वाला आक्रमण मानेगी। यह उसकी स्वयं की सुरक्षा का प्रश्न होगा। यदि ऐसी कोई घोषणा नहीं की जाती है तो कांग्रेस के मत में इसका आशय यह था कि सरकार साम्राज्यवादी विशेषाधिकारों को वैसा ही बनाये रखना चाहती है। भारतवर्ष युद्ध में केवल बराबरी की हैसियत से सहयोग देने को तैयार था। उदारवादियों ने भी कांग्रेस की इस माँग का समर्थन करते हुए सरकार से आग्रह किया कि शीघ्र ही केन्द्र में वर्तमान सरकार के स्थान पर उत्तरदायी शासन की स्थापना करे।

भारत स्वतन्त्र होकर युद्ध में सहयोग देना चाहता है

1 *Jawahar Lal Nahru*; The Unity of India, p. 314.
2 *Brailsford. H. N.* Subject India, p. 54.

मुस्लिम लीग भी तभी सहयोग देना चाहती थी जब सरकार मुसलमानों के साथ पूरा न्याय करने का आश्वासन दे। कांग्रेस ने पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सरदार पटेल तथा मौलाना आजाद की एक 'युद्ध समिति' भी बनाई थी जिसका काम युद्ध की प्रगति, सरकारी गति-विधि तथा देशवासियों की भावनाओं को ध्यान में रखकर सामयिक निर्देश देना था।

मुस्लिम लीग की मांग

वायसराय की घोषणा तथा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का त्याग-पत्र

कांग्रेस ने युद्ध में सहयोग देने के लिए जिन आश्वासनों की मांग की थी, उन पर सरकार ने कोई वक्तव्य नहीं दिया। सम्राट, भारतमन्त्री तथा गवर्नर-जनरल आदि ने भी वक्तव्य दिये थे। उनमें केवल पुरानी बातों की पुनरावृत्ति थी तथा भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट आश्वासन नहीं था। इन वक्तव्यों से यह स्पष्ट झलकता था कि अंग्रेजी सरकार भारत से पूरा सहयोग तो प्राप्त करना चाहती है, परन्तु उसको स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कोई पक्का वायदा देने को तैयार नहीं। लॉर्ड लिनलिथगो ने समस्या का हल निकालने के हेतु ५२ व्यक्तियों से जिसमें गांधीजी, श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री राजेन्द्रप्रसाद, श्री सुभाषचन्द्र बोस, मिस्टर जिन्ना तथा देशी नरेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, भेंट की तथा लम्बी भेंटों के उपरान्त वायसराय ने १७ अक्टूबर, सन् १९३९ को एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया। वायसराय इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि विभिन्न दलों तथा वर्गों में "दृष्टिकोणों का स्पष्ट भेद" था तथा वह केवल ऐसी दशा में अपने पूर्ववर्तियों द्वारा कही गई बात, अर्थात् "भारत की उन्नति का स्वाभाविक लक्ष्य औपनिवेशिक पद प्राप्त करना है" ही दोहरा सकते थे। उन्होंने यह भी घोषणा की कि युद्ध के उपरांत सन् १९३५ के शासन अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित संघीय संविधान में विभिन्न सम्प्रदायों, दलों तथा हितों के प्रतिनिधियों तथा देशी नरेशों से परामर्श कर उचित संशोधन किये जायेंगे। इस प्रकार लॉर्ड लिनलिथगो स्वतन्त्रता का आश्वासन नहीं, अपितु एक नये गोलमेज-सम्मेलन की बात कर रहे थे। केन्द्र में उत्तरदायी शासन की तुरन्त स्थापना के सम्बन्ध में वायसराय केवल परामर्शदायी समिति की स्थापना के लिए तैयार थे, जिसमें भारतीय प्रतिनिधि हों तथा जो युद्ध को चलाने में परामर्शदाता के रूप में सहायता प्रदान करें।

श्वेतपत्र का प्रकाशन

कांग्रेस सरकार के रुख से संतुष्ट नहीं हुई। वह भारतीयों की परामर्शदायी समिति की तत्काल स्थापना के वचन से भी संतुष्ट नहीं थी क्योंकि वायसराय इच्छानुसार इस समिति की सलाह ठुकरा सकता था। कांग्रेस ने इसे अपमानजनक समझा तथा २२ अक्टूबर को कार्यकारिणी की बैठक ने प्रांतीय मन्त्रिमण्डलों को त्याग-पत्र देने का आदेश दे दिया। इस आदेश के परिणामस्वरूप ८ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने

काँग्रेस द्वारा पद-त्याग

त्याग-पत्र दे दिये। सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम के अनुसार इन प्रान्तों में अनुच्छेद ९३ के अन्तर्गत गवर्नरों ने संविधान को विफल घोषित कर, व्यवस्थापिका-सभाओं को भंगकर शासन अपने हाथों में ले लिया। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का कहना है कि "कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्याग-पत्र मिलने पर सरकार ने संतोष की सांस ली; 'गवर्नरों तथा नौकरशाही के अन्य पुर्जों को कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की उपस्थिति से ऐसा अनुभव हो रहा था मानो पेट में कोई दुष्पच्य पदार्थ पड़ गया हो। जिन्हें कल राजद्रोही होने के कारण लाठी तथा जेल का कानूनी शिकार माना जाता था, वे आज हाकिम बन बैठे। यह देखकर सरकारी लोग मन ही मन कुढ़ते रहते थे। वे लोग फिर शिकार बन गये और शिकारियों को अपने कर्तव दिखाने की आजादी मिल गई।"[1]

पद-त्याग पर लीग की प्रतिक्रिया

जब ८ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रालयों ने त्याग-पत्र दिये तो मिस्टर जिन्ना ने भारत के मुसलमानों को २२ नवम्बर को मुक्ति-दिवस मनाने का सुझाव दिया। उनके विचार में कांग्रेसी शासनों के अत्याचार से इस दिन मुसलमान छूट गये। इस योजना ने देश में साम्प्रदायिक कटुता में वृद्धि की।

वायसराय की लीग व कांग्रेसी नेताओं से भेंट

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग से सरकार को मानसिक संतोष तो हो गया पर इससे युद्ध में तो सहायता मिल नहीं सकती थी। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर वायसराय ने मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस के नेताओं से पुनः बातचीत शुरू कर दी। वायसराय ने अपने प्रस्ताव ठोस तथा लिखित रूप में रखे। उन्होंने लिखा था कि "केन्द्र में पारस्परिक मैत्रीपूर्ण रीति से काम करने के महत्व को स्वीकार करते हुए मैंने आपके तथा अन्य उपस्थित सज्जनों के सम्मुख जो प्रस्ताव रखा है, उस पर आप लोग कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं की हैसियत से विचार करें। आपको इस विषय पर भी विचार-विमर्श करना चाहिए कि आपके मध्य प्रान्तीय क्षेत्र में कार्य करने के सम्बन्ध में कोई समझौता हो सकता है अथवा नहीं, तथा इसके उपरान्त आप मेरे सामने वह प्रस्ताव रखें जिनके परिणामस्वरूप तत्काल दोनों संगठनों के प्रतिनिधि केन्द्रीय सरकार में शासन-परिषदों के रूप में भाग ले सकें।" इस धूर्ततापूर्ण वक्तव्य का अर्थ था कि जो बात केवल केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध में कही जाती थी, वह अब प्रांतीय क्षेत्रों में भी सरकार लागू करने की इच्छुक थी, अर्थात् संयुक्त मंत्रिमण्डलों का निर्माण। सरकार क्योंकि एक राजनीतिक समस्या को साम्प्रदायिक रूप देना चाहती थी, अतः कांग्रेस ने समझौते की बातचीत करना अस्वीकार कर दिया। वायसराय के वक्तव्य से प्रभावित होकर मार्च, सन् १९४० के लाहौर अधिवेशन में

1 भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ३१७।

मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग की। उन्होंने मुसलमानों की बहुसंख्या वाले प्रदेश अर्थात् भारत के उत्तर-पूर्वी भाग तथा उत्तर-पश्चिमी भाग पाकिस्तान के निर्माण के लिए मांगे।

कांग्रेस द्वारा सहयोग का प्रस्ताव

सन् १९४० में महायुद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया। जर्मनी इस युद्ध में अपूर्व सफलता प्राप्त करता जा रहा था। पोलैण्ड, नॉर्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम तथा फ्रांस पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो चुका था तथा स्वयं इंगलैण्ड की स्थिति इस समय संकटपूर्ण थी क्योंकि जर्मनी उस पर भी हमला करने की तैयारी कर रहा था। इस समय इंगलैण्ड की सरकार में भी परिवर्तन हो चुका था। श्री चर्चिल नेविल चेम्बरलेन के स्थान पर प्रधान-मन्त्री तथा लॉर्ड जेटलैण्ड के स्थान पर श्री एमरी भारतमन्त्री बन गये। यद्यपि मार्च में होने वाले रामगढ़ अधिवेशन में कांग्रेस ने यह स्पष्टतया घोषित कर दिया था कि उसका उद्देश्य सरकार को युद्ध में सहायता देकर व मजबूत बनाकर अपनी गुलामी की अवधि नहीं बढ़ाना था तथा पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी करना था, परन्तु युद्ध सम्बन्धी स्थिति को देखते हुए ७ जुलाई, सन् १९४० को दिल्ली में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक ने निश्चय किया कि वह अपनी समस्त शक्ति देश की सुरक्षा के संगठन में लगा दे तथा जीवन व धन से सहयोग दे। कांग्रेस ने निम्न शर्तों पर सहयोग देना निश्चित किया : (१) युद्धोपरान्त पूर्ण स्वाधीनता के लिए भारत का अधिकार स्वीकार किया जाये तथा (२) उसके बाद तुरन्त ही भारत में एक अस्थाई सरकार की नियुक्ति केन्द्र में की जाये जिसमें सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि भाग लें। यह अस्थाई सरकार केन्द्रीय व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों के प्रति उत्तरदायी होती थी।[1]

महायुद्ध में इंगलैण्ड की दुर्दशा

कांग्रेस के इतना झुक जाने पर भी चर्चिल की सरकार टस-से-मस न हुई। लॉर्ड लिनलिथगो भी अपनी ही जिद पर अड़े रहे। इंगलैण्ड में सरकार में परिवर्तन

---

1 कार्यसमिति द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव निम्न प्रकार था :
"हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस समय ब्रिटेन तथा भारत को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उन्हें सुलझाने का एकमात्र उपाय ब्रिटेन द्वारा भारत को पूर्ण स्वाधीनता की स्वीकृति है और इसे तत्काल कार्यरूप में परिणत करने के लिए उसे केन्द्र में एक अस्थाई राष्ट्रीय सरकार कायम करनी चाहिए, जो यद्यपि एक अस्थाई साधन के रूप में बनाई जाये, परन्तु वह इस प्रकार से स्थापित हो कि उसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के सभी निर्वाचित वर्गों का विश्वास प्राप्त रहे और इसके अतिरिक्त उसे प्रान्तों की जिम्मेदार सरकारों का सहयोग भी मिलता रहे। यदि इन उपायों को अपनाया गया तो कांग्रेस देश की रक्षा के लिए बनाये गये संगठन में पूरा पूरा सहयोग देने को तत्पर हो जायगी।"

इंगलैण्ड की सरकार का दृष्टिकोण

हो जाने से भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की आकांक्षाओं पर पानी-सा फिर गया। कांग्रेस की स्वयंसेवक संस्था पर रोक लगाने के लिए भारत सरकार ने एक ऑडिनेंस जारी कर दिया। ४ जुलाई को वायसराय ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसका सार यह था कि सरकार भारतवासियों को शासन-यन्त्र का एक अंग बनाने को तो तत्पर हैं परन्तु उसके राजनीतिक स्वाधीनता के दावे को मानने को तैयार नहीं थी। मिस्टर एमरी ने इसके तुरन्त बाद ही इंगलैण्ड में भारत के सम्बन्ध में दो भाषण दिये तथा इनमें भी वायसराय के कार्यों का समर्थन किया गया। भाषणों का मुख्य सारांश यह था कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को छोटी-छोटी रियासतें देने को तो तैयार थी, परन्तु वह शासन की स्वाधीन सत्ता भारतवासियों को सौंपने को तैयार नहीं थी। प्रधानमन्त्री चर्चिल ने भी यह घोषित किया कि 'एटलांटिक चार्टर' योरोपियनों के लिया था, न कि भारत तथा वर्मा के लिए। इस चार्टर में मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी द्वारा पराजित राष्ट्रों को यह विश्वास दिलाया था कि वह विदेशी आक्रमण अथवा विदेशी शासन से त्रस्त राष्ट्रों को फिर से स्वशासन दिलवायेंगे, परन्तु चर्चिल ने यह रुख ब्रिटेन के अधीन देशों के सम्बन्ध में नहीं अपनाया। उन्होंने यह भी घोषित किया कि "मैं ब्रिटिश साम्राज्य का प्रधानमन्त्री इसलिए नहीं बना कि साम्राज्य का दिवाला निकाल दूं।"

अगस्त घोषणा, सन् १९४०

वैधानिक गतिरोध को सुलझाने के लिए ८ अगस्त, सन् १९४० को वायसराय ने एक वक्तव्य प्रसारित किया। इसमें उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य ही भारत का लक्ष्य घोषित किया। प्रोफेसर कूपलैण्ड के मत में वैधानिक समस्या को सुलझाने की दिशा में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा सराहनीय प्रयत्न था। इस घोषणा की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(२) कार्यकारिणी का विस्तार तथा एक युद्ध-सलाहकार-समिति की नियुक्ति।

(२) ब्रिटिश सरकार देश की शान्ति तथा सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए किसी ऐसी शासन-व्यवस्था को अधिकार नहीं हस्तान्तरित करेगी जिसके अधिकारों को भारत के राष्ट्रीय जीवन के महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली तत्वों का समर्थन प्राप्त न हो।

(३) नवीन संविधान के निर्माण का उत्तरदायित्व भारतीयों का होगा, परन्तु अल्पसंख्यकों के हितों का ध्यान रखा जायगा।

(४) इस अवसर पर जब राष्ट्रमण्डल अपने जीवन के अस्तित्व के संघर्ष में फंसा है, वैधानिक समस्याओं पर कोई भी निर्णय नहीं, परन्तु युद्धोपरान्त भारतीय प्रतिनिधियों का एक संगठन बनाया जायगा जो संविधान का निर्माण करेगा। उस समय तक ब्रिटिश शासन देश की विभिन्न संस्थाओं को संविधान के मुख्य सिद्धान्तों पर एकमत होने में सहायता देगा।

(५) अन्तरिम काल में सभी राजनीतिक दल ब्रिटिश सरकार को युद्ध-प्रयासों में पूर्ण सहयोग दें तथा भारत को अंग्रेजी राष्ट्रमण्डल में समानता का दर्जा दिलाने में योग दें।

कांग्रेस की प्रतिक्रिया

इस वक्तव्य के बाद वायसराय ने कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद को बुलाया, परन्तु उन्होंने यह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि कांग्रेस द्वारा स्वाधीनता की मांग तथा वायसराय की कार्यकारिणी-समिति के विस्तार में कोई समन्वय नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने वायसराय से मिलने की भी आवश्यकता नहीं समझी तथा इस उत्तर के सम्बन्ध में उन्होंने अपने सहयोगियों से कोई परामर्श नहीं लिया था।[1]

यद्यपि इस घोषणा से कांग्रेस की कुछ मांगे पूरी हो जाती थीं, सरकार ने भारतीयों को भावी संविधान निर्माण करने का भी उत्तरदायित्व दे दिया, परन्तु फिर भी इससे भारत की तत्कालीन वैधानिक स्थिति में न तो कोई परिवर्तन ही होता था तथा न ही कोई स्पष्ट वायदे किये गये थे। कांग्रेस का यह भी कहना था कि पूर्ण स्वाधीनता की मांग के स्थान पर केवल वायसराय की कार्यकारिणी का विस्तार करना समस्या का उचित हल नहीं था। इस वक्तव्य में अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर जो नीति सरकार ने अपनायी, वह भी "भारत की उन्नति के मार्ग में एक दुस्तर बाधा" थी। कांग्रेस के मत में अल्पसंख्यकों की समस्या को सुलझाने का काम भारतीयों का ही था तथा अंग्रेजी सरकार उसमें हस्तक्षेप करके प्रश्न को और भी जटिल बनाये दे रही थी। इसमें विशेषकर मुस्लिम लीग को वह आश्वासन दिया गया था कि उसकी स्वीकृति के बिना किसी भी संवैधानिक योजना को सरकार स्वीकृत न करेगी। यह लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के प्रतिकूल था तथा अल्पसंख्यकों को इस प्रकार भावी योजना पर विशेषाधिकार प्रदान कर दिया गया था। सरकार ने यह घोषित किया था कि ब्रिटिश सरकार किसी भी एक ऐसे दल को सत्ता नहीं देगी जिसे देश के बड़े-बड़े तथा शक्तिशाली तत्व मानने के लिए तत्पर न हों।" यह शक्तिशाली तत्व थे मुस्लिम लीग, अन्य प्रतिगामी अल्पसंख्यक-वर्ग तथा देशी नरेश। इस घोषणा में यह कहा गया था कि नवीन संविधान के निर्माण

1 "The Viceroy invited me to discuss with him for the participation of the Congress in the Government on the basis of an extended Executive Council with larger powers. Even without consulting my colleagues, I declined the offer. It appeared to me that there was no common ground between the Congress demand for independence and the Viceroy's for an enlarged Executive Council. In view of this there was no point in meeting him."

—*Maulana Adul Kalam Azad* : India Wins Freedom, p. 36.

की जिम्मेदारी भारतीयों की होगी तथा यह स्पष्ट नहीं था कि प्रतिनिधिक संविधान-निर्माता-निकाय से क्या अभिप्राय था—एक पूर्ण विकसित संविधान-सभा अथवा एक अन्य गोलमेज-सम्मेलन ।

मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण

मुस्लिम लीग ने इस वक्तव्य में वर्णित संयुक्त भारत के विचार का विरोध किया तथा कहा कि भारत का विभाजन ही समस्या का एकमात्र हल हो सकता है । उसने पाकिस्तान की माँग उठाई तथा कहा कि बिना उसकी सम्मति प्राप्त किये भारत का कोई भी भावी संविधान, चाहे वह अन्तरिम हो अथवा अन्तिम, निर्मित नहीं किया जाना चाहिए तथा कार्यपालिका-परिषद के किसी भी पुनर्निर्माण में उसके तथा कांग्रेस के मध्य ५०-५० के सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिए ।"

इस प्रकार सरकार ने भारत की साम्प्रदायिक समस्या को उलझा दिया तथा वह मुस्लिम लीग को हमेशा प्रोत्साहन देते हुए संघर्ष के लिए उत्तेजित करती थी । प्रधानमन्त्री श्री एमरी ने भारत में वैधानिक गतिरोध के लिए कांग्रेस को दोषी ठहराया । उनका कहना था, "यदि कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व कर पाती, जैसा वह घोषित करती है तो समस्या का रूप कुछ भिन्न ही होता तथा उसका समाधान सरल हो जाता । वर्तमान में जो राष्ट्रीय संकट पैदा हो गया है, उसका मुख्य कारण राष्ट्रीय जीवन में पर्याप्त विभिन्नताएँ हैं न कि हम उनको स्वराज्य नहीं प्रदान करना चाहते ।"

व्यक्तिगत सत्याग्रह

कांग्रेसी नेताओं को अब यह विश्वास हो गया था कि ब्रिटिश सरकार अपनी शर्तों पर युद्ध में भारत का सहयोग तो चाहती है, परन्तु वह भारतवासियों की शर्तें मानने को तैयार नहीं थी । पं० जवाहरलाल तथा अन्य नेताओं ने अनुभव किया कि कांग्रेस द्वारा समझौते को हाथ बढ़ाने को ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की निर्बलता का चिन्ह समझा था । नेहरूजी ने सार्वजनिक रूप में यह घोषणा की कि सरकारी नीति के कारण अब पूना-प्रस्ताव लागू नहीं रह गया था तथा रामगढ़ के अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव जिसमें सत्याग्रह पुनः शुरू करने की योजना थी, कार्यान्वित किया जायगा । कांग्रेस ने पुनः गांधीजी का आह्वान किया जो राजनीति से पृथक् बैठे थे । गांधीजी ने समस्त आन्दोलन का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार कर लिया । १५ व १६ सितम्बर को कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक बम्बई में हुई । इसमें पिछले दो मासों से देश की जो स्थिति हो गयी थी, उस पर विचार किया गया तथा अन्त में यह घोषणा की गयी कि वह प्रस्ताव जिसकी संपुष्टि पूना में की गयी थी, अब प्रभावी नहीं रहा था तथा कांग्रेस अहिंसा के सिद्धान्त पर दृढ़ रहती हुई अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करेगी ।

गांधीजी का आह्वान

महात्मा गांधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ करने की योजना बनायी । यह

आन्दोलन सरकार की नीतियों के प्रति सांकेतिक विरोध प्रकट करने के विचार से चलाया गया था। महात्मा गांधी को स्वयं सत्याग्रहियों को चुनना था जो इस बात का प्रचार करते हुए कि युद्ध में धन तथा जन से सहायता देना अनुचित है, गिरफ्तार हो जाते। १७ अक्टूबर को श्री विनोवा भावे ने इस सत्याग्रह का श्रीगणेश किया। उन्होंने इस बात पर भाषण दिया कि युद्ध में सरकार को सहयोग नहीं देना चाहिए। दूसरे सत्याग्रही पण्डित जवाहरलाल नेहरू थे, जिन्हें ७ नवम्बर को सत्याग्रह करना था, परन्तु ३१ अक्टूबर को ही गिरफ्तार कर लिए गये तथा पहले कभी एक विद्रोहात्मक भाषण देने के कारण उन्हें चार वर्ष का कारागार-दण्ड दिया गया। १७ नवम्बर को सरदार पटेल भी गिरफ्तार कर लिए गये। इसके बाद धीरे-धीरे अन्य कांग्रेसी नेताओं ने सत्याग्रह किया तथा सब बन्दी बना लिए गये। कांग्रेस कमेटी की इच्छानुसार महात्मा गांधी ने स्वयं सत्याग्रह के संचालन करते रहने के लिए सत्याग्रह नहीं किया। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि मई, सन् १९४१ तक लगभग २०,००० सत्याग्रही जेल गये जिनमें छह प्रान्तों के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, २९ मन्त्री तथा विधान-मण्डलों के २९० सदस्य भी थे।[1] इस आन्दोलन पर पूर्ण नियन्त्रण रखा गया था तथा क्योंकि इसे जन-आन्दोलन न बनने दिया गया था, अतः इसमें हिंसा की लेशमात्र कार्यवाहियाँ नहीं हुईं। गांधीजी का कहना था कि सत्याग्रह केवल भारत को युद्ध में शामिल करने की नीति के विरोध में चलाया जा रहा था तथा इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को परेशान करना अथवा धुरीराष्ट्रों को सहायता प्रदान करना नहीं था। पंजाब के मुख्यमन्त्री सर सिकन्दरहयातखाँ ने इस आन्दोलन के सम्बन्ध में कहा कि जिस समय इंगलैण्ड अपने जीवन-मरण के संघर्ष में फँसा था, सत्याग्रह करना उसकी पीठ में छुरा भोंकना था।

आन्दोलन का अन्त

वायसराय ने जुलाई, सन् १९४१ में, कांग्रेस की मांगों की ओर कोई ध्यान न देते हुए अपनी कार्यपालिका-परिषद् में ५ भारतीय सदस्य और बढ़ा लिए। अब कार्यपालिका-परिषद् में १३ सदस्य हो गये, जिनमें से ८ भारतीय हो गये परन्तु कार्यपालिका-परिषद् का यह आंशिक भारतीयकरण भी कुछ महत्वपूर्ण नहीं था, क्योंकि सभी महत्त्वपूर्ण विभाग, रक्षा, गृह, वित्त अंग्रेजों के ही अधीन थे। मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस ने कार्यपालिका-परिषद् के विस्तार में भाग नहीं लिया। वायसराय ने सदस्यों को अपने विवेक से नियुक्त किया था तथा डॉक्टर अम्बेडकर को छोड़ कर अन्य किसी को किसी भी दल का समर्थन नहीं प्राप्त था। इसी बीच

कार्यकारिणी का आंशिक भारतीयकरण

जापान भी ७ दिसम्बर को मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा उसने भी बड़ी तेजी से सुदूर-पूर्व पर विजय प्राप्त करना शुरू कर दिया। उसने पर्ल हारबर पर आक्रमण करके अमरीकी जंगी जहाजों का केन्द्र अपने अधिकार में कर

---

1 *Brailsford*: Subject India. p. 59.

लिया तथा शीघ्र ही फिलीपाइन द्वीप-समूह, हिन्द-चीन, मलाया आदि पर आधिपत्य कर लिया। अब ब्रिटिश सरकार के लिए परिस्थिति चिन्ताजनक होने लगी तथा वह जापान का सामना करने के लिए भारतीयों का सहयोग पाने की इच्छुक हो गयी। उसने धीरे-धीरे सभी राजनीतिक बन्दियों को छोड़ दिया। महात्मा गांधी सरकार के रुख से प्रभावित नहीं हुए। उन्होंने सरकार की नीतियों की कटु आलोचना की तथा वह आन्दोलन को स्थगित करने के पक्ष में न थे। उनकी धारणा थी कि ऐसी परिस्थिति में आन्दोलन स्थगित करना काग्रेस की नीतियों का विरोध करना था। उन्होंने कहा, "सरकार की यह नवीन नीति मेरे हृदय का कोई तार नहीं छूती तथा सत्याग्रह उस समय तक चालू रहेगा जब तक कांग्रेस की कार्य-समिति उसे स्थगित नहीं करती। समस्या पर विचार करने के लिए कांग्रेस की कार्यसमिति की बैठक ३० दिसम्बर, सन् १६४१ को बारदोली में बुलायी गयी। इसने एक प्रस्ताव में कहा, "यद्यपि ब्रिटेन की भारत सम्बन्धी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, फिर भी कार्यसमिति उस नवीन परिस्थिति पर पूरी तौर से ध्यान देना चाहती है, जो इस युद्ध के विश्वव्यापी रूप धारण कर लेने तथा भारत के निकट आ जाने के कारण उत्पन्न हो गयी है। स्वाभाविक है कि कांग्रेस की सहानुभूति आक्रान्त लोगों तथा स्वाधीनता की रक्षा के लिए युद्ध करने वालों के साथ है, परन्तु केवल स्वाधीन भारत ही राष्ट्रीय आधार पर देश की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठा सकने की सामर्थ्य तथा क्षमता रखता है तथा युद्ध के फलस्वरूप जो बड़े-बड़े उद्देश्य सामने आ रहे हैं, उनकी रक्षा कर सकता है। भारत का पूरा वातावरण अंग्रेजों के विरोध तथा उनके प्रति अविश्वास की भावना से भरा है तथा बड़े-बड़े आश्वासनों से भी इस परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता है तथा न ही भारत स्वेच्छा से, अभिमानी साम्राज्यवाद की मदद ही कर सकता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में साम्राज्यवाद तथा अधिनायकवाद में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है।" इसी प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि "कांग्रेस भविष्य में आने वाले कठिन दिनों में जनता की सेवा केवल उन्हीं परिस्थितियों में कर सकती है यदि उसका संगठन दृढ़ एवं अनुशासन पूर्ण बना रहे तथा अपने-अपने क्षेत्रों में कांग्रेस-समितियाँ तथा कांग्रेसी लोग निजी रूप से जनता के विश्वासभाजन बने रहें।" कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय किया तथा महात्मा गांधी को कांग्रेस के नेतृत्व से मुक्त कर दिया गया।

जापान का युद्ध-प्रवेश

क्रिप्स-मिशन

जापान युद्ध में बराबर विजयी होता जा रहा था। तथा वह बढ़ते-बढ़ते भारत के निकट आ गया। इस स्थिति से चर्चिल की सरकार भयभीत हो गई तथा परिस्थिति के दबावदश उन्हें अपनी नीतियों में परिवर्तन करने के हेतु बाध्य होना पड़ा। यथार्थ में, वह भारत के संवैधानिक गतिरोध की समस्या का कोई वास्तविक

हल निकालने की इच्छुक नहीं थी। वह तो केवल मित्र राष्ट्रों को दिखाना चाहती थी कि वह भारत में संवैधानिक गतिरोध का हर सम्भव उपाय से समाधान करने के पक्ष में है, परन्तु स्वयं भारतवासी ही इसके लिए तत्पर नहीं हैं तथा उनके मध्य ही परस्पर विभेद हैं।

प्रधानमन्त्री की घोषणा

११ मार्च, सन् १९४२ को प्रधानमन्त्री चर्चिल ने लोकसभा में जो वक्तव्य दिया, उसका सारांश यह था : "जापानियों की प्रगति के कारण भारत के लिए जो भय तथा संकट पैदा हो गया है, उसे देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए हमको उसके समस्त वर्गों को संगठित करना चाहिए। अगस्त, सन् १९४० में हमने भारत के सम्बन्ध में अपने उद्देश्यों तथा नीति के विषय में पूर्ण रूप से प्रकाश डालते हुए एक घोषणा की थी, जिसका संक्षेप में यह आशय था कि युद्ध की समाप्ति पर यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जायगा।.......हमने अपने युद्ध-मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य को भारत भेजने का निश्चय किया है, जिससे वह जाकर भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श करने के उपरान्त इस बात की तसल्ली कर लें कि हमने भारत के सम्बन्ध में जो निर्णय किया है, जो हमारी दृष्टि में न्यायपूर्ण हैं, गत्यावरोध दूर करने में सहायक होंगे। इस कार्य के लिए लॉर्ड प्रिवी सील तथा सदन के नेता (सर स्ट्रेफॉर्ड क्रिप्स) ने अपनी सेवाएँ अर्पित कर दी हैं।"

प्रधानमंत्री की इस घोषणा का सर्वत्र स्वागत किया गया। भारत में भी इस वक्तव्य से हर्ष प्रकट किया गया। सर क्रिप्स का भारत से पुराना परिचय था। वह सन् १९३९ में स्वतंत्र रूप से आकर गाँधीजी से मिल चुके थे तथा भारतीयों पर उनके उदार विचार तथा सहानुभूतिपूर्ण मनोवृत्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा था। श्री जवाहरलालजी तथा अन्य नेता यह समझते थे कि वह भारत के हितैषी हैं। इसके पूर्व कि क्रिप्स-प्रस्तावों की चर्चा की जाय, इस बात को बता देना चाहिए कि चर्चिल की सरकार सर स्ट्रेफॉर्ड क्रिप्स को क्यों भेजने के लिए तैयार हो गयी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जापान की प्रगति ने मित्रराष्ट्रों को चिंतित कर दिया था। कांग्रेस भारत के ऊपर बढ़ते हुए खतरे को महसूस कर रही थी। श्री जवाहरलाल तथा श्री राजगोपालाचारी इस बात के इच्छुक थे कि जनता में युद्ध के कारण जो भय की भावना बढ़ती जा रही थी, उसे दूर किया जाय। वह सरकार के साथ सहयोग करने को भी तैयार थे, परन्तु कुछ शर्तों पर। ब्रिटिश हाउस ऑफ कामंस में भी २४ फरवरी को भारत के सम्बन्ध में बहुत ही महत्वपूर्ण विवाद हुआ जिसमें सदस्यों ने भारत में संवैधानिक गतिरोध का अन्त कर देने के लिए सरकार पर जोर दिया। ९ मार्च, सन् १९४२ को रंगून पर जापान ने अधिकार कर लिया तथा यह डर बढ़ गया कि बर्मा के बाद जापान भारत की ओर बढ़ेगा।

क्रिप्स को भेजने के कारण

ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि जापान से ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करने का एकमात्र उपाय यह है कि भारत में शांति बनी रहे तथा जापानियों का मुकाबला करने में भारतीय ब्रिटेन को सक्रिय सहयोग दें। इस उद्देश्य से सरकार क्रिप्स को भेजने को तैया हो गई थी। इसके अतिरिक्त मित्रराष्ट्रों ने भी ब्रिटिश सरकार पर भारत में गतिरोध का अन्त करने के लिए दबाव डाला था। फरवरी, सन् १९४२ में राष्ट्रवादी चीन के नेता मार्शल च्यांग काई शेक व मैडम शेक भारत आये। वह पूर्वी क्षेत्र में जापान से टक्कर लेने के लिए भारत को अत्यन्त समर्थ समझते थे। इस कारण उन्होंने भारतीय नेताओं से इस बात का आग्रह किया कि वह ब्रिटिश सरकार को जापान को पराजित करने में सहयोग दें। अपने विदाई-सन्देश में उन्होंने कहा, "मुझे पूर्ण आशा तथा दृढ़ विश्वास है कि हमारा मित्र ब्रिटेन भारतीयों की माँग की प्रतीक्षा किये बिना ही उन्हें अति शीघ्र वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्रदान करेगा जिससे वह अपनी आत्मिक एवं भौतिक शक्तियों का अधिकतम विकास कर सकें तथा यह अनुभव कर सकें कि वह केवल आतंकित एवं विरोधी राष्ट्रों की विजय के लिए युद्ध में सहयोग नहीं दे रहे हैं, वरन् यह भी अनुभव करें कि उनका यह सहयोग उनके भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष में भी एक युगान्तरकारी घटना है। क्रियात्मक दृष्टि से मेरे विचार में यह सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण नीति होगी जो ब्रिटिश साम्राज्य का यश चारों ओर फैला देगी।" अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला कि वह भारत की समस्या पर तुरन्त ध्यान दें तथा उदार नीति अपनावें। उनका कहना था कि एटलांटिक चार्टर समान रूप से विश्व पर लागू होना चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया के पर-राष्ट्रमन्त्री मिस्टर एवट ने भी यह कहा कि जापानियों के विरुद्ध भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी स्वशासन की माँग को स्वीकार कर लिया जाय।

क्रिप्स का भारत आगमन

२३ मार्च को सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स भारत आये। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद ने एक मित्र के रूप में उनका स्वागत करते हुए अत्यन्त हर्ष प्रकट किया। उन्होंने फौरन ही वायसराय तथा उसकी परिषद् के सदस्यों से परामर्श किया तथा फिर अन्य नेताओं से बातचीत शुरू की। भारतीयों को आशा बँध चली थी कि भारत को स्वशासन प्रदान करने के प्रश्न पर कुछ सहानुभूतिपूर्ण विचार होगा, परन्तु जब वह प्रस्ताव, जो ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों के सम्मुख प्रस्तुत

1 Cordel Hull writes : "The President and I, both before and after Pearl Harbour were convinced that the Indians would co-operate better with the British, if they were assured of Independence, at least after the war."
(Quoted by *Amba Prasad* in the Indian Revolt of 1942, p. 19).

करने के लिए तैयार किये थे, प्रकाशित हुए तो लोगों को निराशा हुई। जब प्रस्तावों को लेकर सर क्रिप्स गांधीजी से मिले तो उन्होंने कहा, "यदि आपके प्रस्ताव यही थे तो आपने फिर आने का कष्ट क्यों उठाया ? यदि भारत के सम्बन्ध में आपकी यही योजना है तो आपको मेरा परामर्श है कि आप अगले ही हवाई जहाज से इंगलैण्ड लौट जायें।"

श्री जवाहरलालजी ने भी लिखा है : "मुझे याद है, जब मैंने उन प्रस्तावों को पहली बार पढ़ा तो मेरा दिल बुरी तरह बैठ गया। मेरी उस उदासीनता का मुख्य कारण यह था कि मैं सर स्टैफॉर्ड क्रिप्स से उस अवसर पर अधिक सारयुक्त वस्तु की आशा रखता था। ज्यों-ज्यों मैंने उन प्रस्तावों को पढ़ा, मुझे निराशा होती चली गयी।"

क्रिप्स-प्रस्ताव

इस प्रस्ताव का उद्देश्य एक नये भारतीय संघ की स्थापना थी जिसे पूर्ण-रूप से उपनिवेश का पद प्राप्त होगा तथा ब्रिटेन और अन्य उपनिवेशों से एक उपनिवेश के रूप में सम्बन्धित होगा और चाहे तो यह ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले। यह आन्तरिक तथा वैदेशिक विषयों में पूर्णतः स्वतन्त्र होगा। युद्धोपरान्त तुरन्त ही भारत में एक संविधान-सभा की स्थापना की जायगी जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों, दोनों के प्रतिनिधि होंगे। इस प्रयोजन के हेतु प्रान्तीय विधान-मण्डलों के निम्न सदन के सदस्य एक निर्वाचन-मण्डल के रूप में बैठेंगे तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान-निर्मात्री-सभा का निर्वाचन करेंगे। निर्वाचक मण्डल में जितने सदस्य होंगे, उसके दस प्रतिशत इस विधान-निर्मात्री-सभा के सदस्य होंगे। राज्य अपनी जनसंख्या के अनुपात से प्रतिनिधि नियुक्त करेंगे। इन प्रतिनिधियों को ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के समान ही अधिकार प्राप्त होंगे, परन्तु ब्रिटिश सरकार इस संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान को लागू करने का उत्तरदायित्व निम्न शर्तों के पूर्ण होने की दशा में लेने के लिए तैयार हुई :

(१) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त या देशी राज्य नवीन संविधान को स्वीकार न करे तो वह अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति में रहेगा, परन्तु साथ में यह भी उपबन्ध रहेगा कि यदि वह प्रान्त बाद में विधान में आना चाहे तो आ सके। नये विधान में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों को, यदि वह चाहेंगे तो सम्राट की सरकार पृथक् विधान देना स्वीकार कर लेगी तथा उनका पद भी पूर्ण रूप से संघ के समान ही होगा।

(२) संविधान-सभा तथा ब्रिटिश सरकार के बीच एक सन्धि होगी तथा अंग्रेजों से भारतीयों को पूर्ण उत्तरदायित्व हस्तान्तरित करने के सम्बन्ध में सभी समस्याओं पर विचार किया जायगा। इस सन्धि में जातीय तथा धार्मिक अल्प-संख्यकों की रक्षा के लिए प्रबन्ध रहेगा, परन्तु उसमें कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं रखा

जायेगा, जिसके कारण भारतीय संघ के ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यों से अपने भावी सम्बन्ध निश्चित करने के अधिकार में कमी हो।

इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि भारत के सम्मुख जो संकटकाल उपस्थित है, उसके मध्य में तथा जब तक नवीन संविधान कार्यान्वित नहीं हो, तब तक सम्राट की सरकार भारत की रक्षा, नियन्त्रण तथा निर्देशन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में रखेगी। भारतीय जनता के सहयोग से देश के सम्पूर्ण सैनिक, नैतिक तथा आर्थिक साधनों को संगठित करने की जिम्मेदारी भारत सरकार पर होनी थी।

क्रिप्स-प्रस्ताव के अन्त में कहा गया कि "सम्राट की सरकार की इच्छा है कि भारतीय जनता के विविध वर्गों के नेता अपने देश, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा मित्रराष्ट्रों के सलाह मशविरे में शीघ्र तथा प्रभावोत्पादक ढंग से भाग लें तथा इस प्रकार एक महान् कार्य के सम्पादन में वह रचनात्मक तथा सक्रिय सहयोग प्रदान कर सकेंगे, जो भारत की स्वाधीनता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"

इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में डॉक्टर सीतारमैय्या ने कहा कि इसमें विभिन्न रुचियों को सन्तुष्ट करने वाले विभिन्न खाद्य-पदार्थ थे।[1] यद्यपि यह प्रस्ताव अगस्त

मूल्यांकन

घोषणा से अधिक प्रगतिवादी थे तथा निश्चित व स्पष्ट थे, परन्तु इसके साथ ही आपत्तिजनक भी थे। इसमें कांग्रेस की केवल दो माँगें स्वीकार कर ली गयी थी अर्थात् भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा तथा संविधान-निर्माण के लिए एक सभा का संगठन, परन्तु इसमें भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान करने की कोई तिथि नहीं निश्चित की गयी। गांधीजी ने इस प्रस्ताव को "बैंक का भविष्य की तिथि में भुनने वाला चैक" कहा। इसमें देशी रियासतों तथा प्रान्तों को यह अधिकार प्रदान कर दिया गया था कि वह संघ में शामिल हों अथवा नहीं। प्रान्तों को इस प्रकार अलग रहने का जो अधिकार प्रदान किया गया, उससे यह आशा की जाती थी कि यह मुस्लिम बहुल प्रांतों को संघ में शामिल न होने का प्रलोभन देना था तथा इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान के निर्माण की मांग को प्रोत्साहन देना था। देशी राज्यों को यह भी अधिकार प्रदान किया गया था कि वह संविधान-सभा में अपने प्रतिनिधि मनोनीत करके भेज सकें। इस प्रकार आशा की जाती थी कि संविधान-सभा में लगभग एक-चौथाई प्रतिक्रियावादी तथा जनतन्त्र-विरोधी सदस्य हो जायेंगे जो संविधान-सभा में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित को सुरक्षित रखने का प्रयत्न कर गतिरोध पैदा कर देंगे। प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट नहीं था कि सन्धि के समय ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यकों के किन अधिकारों पर जोर देगी। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में कांग्रेस की कार्यसमिति का यह दृष्टिकोण था कि इसका लक्ष्य भारत के अनेक खण्डों में विभाजन करने के दरवाजे खोल देना था। राजाओं तथा प्रान्तों को संघ में

1 History of the Congress, Vol II, p. 315,

सम्मिलित न होने का अधिकार प्रदान कर देना, कांग्रेस की दृष्टि में अनुचित था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने इसलिए भी इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया क्योंकि वायसराय की कार्यकारिणी-समिति के निर्माण कार्यों तथा वायसराय के साथ उसके सम्बन्धों की कोई स्पष्ट चर्चा नहीं की गयी। क्रिप्स महोदय ने यह भी कह दिया था कि किन्हीं भी परिस्थितियों में वर्तमान काल में सुरक्षा-विभाग भारतीयों के हाथ में न दिया जायगा। सरकार केवल एक भारतीय को सुरक्षा सदस्य नियुक्त करने को तैयार थी जो सैनिकों के लिए कैंटीन तथा अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध करे। इसके अतिरिक्त कांग्रेस चाहती थी कि वायसराय वैधानिक शासक के रूप में काम करे तथा वास्तविक सत्ता मन्त्रियों के हाथ में हो।

कांग्रेस द्वारा प्रस्ताव अस्वीकृत

मुस्लिम लीग ने भी इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया यद्यपि उसको पाकिस्तान की स्थापना करने का रास्ता मिल गया था क्योंकि प्रान्तों को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वह संघ में सम्मिलित हों अथवा न हों तथा इस अधिकार का मुस्लिम-बहुल प्रान्त अपने हित में प्रयोग कर सकते थे। इस बात का निर्णय कि कोई प्रान्त संघ में सम्मिलित हो अथवा न हों, विधान-सभा द्वारा ६०% बहुमत से निश्चित होना था, यदि ऐसा न हो पाता तो अन्तिम निर्णय जनमत-संग्रह द्वारा होना था। मुस्लिम लीग का यद्यपि बंगाल व पंजाब में बहुमत था, परन्तु बहुत अधिक नहीं तथा वह समझती थी कि इन प्रान्तों के संघ न रहने का निश्चय अवश्य जनमत-संग्रह द्वारा करवाना पड़ेगा। इस जनमत-संग्रह में उसे डर था कि यदि राष्ट्रीय मुसलमान हिन्दुओं के साथ मिल गये तो हो सकता था कि निर्णय संघ में रहने के पक्ष में ही हो जाय; अतः उसने यह मांग की कि जनमत-संग्रह में केवल मुसलमानों के मतों ही द्वारा अन्तिम निर्णय लिया जाय। उनकी यह मांग सारहीन थी। यही कारण है कि श्री पट्टाभि सीतारमैय्या ने इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में कहा है कि इसमें सभी दलों को प्रसन्न करने की चेष्टा की गयी थी। कांग्रेस को प्रसन्न करने के उद्देश्य से इस प्रस्ताव की प्रस्तावना में औपनिवेशिक स्वराज्य, संविधान-सभा के निर्णय तथा संघ के ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो जाने के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया था, तथा मुस्लिम लीग को प्रसन्न करने के लिए किसी भी प्रान्त को संघ से पृथक् हो जाने का अधिकार दे दिया गया था। देशी नरेशों को भी इस बात की स्वतन्त्रता दी गयी थी कि वह संघ में सम्मिलित हों अथवा न हों तथा संविधान-सभा में अपने प्रतिनिधि भी मनोनीत करने का अधिकार दिया गया था। वास्तविकता यह है कि ब्रिटिश सरकार का इरादा सत्ता को हस्तान्तरित करने का बिल्कुल नहीं था, तथा वह यह जानती थी कि इन शर्तों पर कोई भी राजनीतिक दल तैयार नहीं

मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण

प्रस्ताव सभी को भुलावे का साधन थे

होगा। ऐसी हालत में उन्हें दुनिया को यह दिखाने का अवसर मिलेगा कि वह भारत में संवैधानिक गतिरोध की समस्या का हल करने के लिए जितनी उत्सुक है, उतने भारतीय नहीं। क्रिप्स तथा उनके प्रस्तावों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि "सर क्रिप्स बहुत ही मिष्टभाषी तथा विनीत सौदागर थे, परन्तु वे जो सौदा विलायत से लेकर आये, वह इतना निकम्मा तथा बासी था कि कोई खरीददार उसे लेने को उद्यत नहीं था।" ११ अप्रैल को सर क्रिप्स ने अपने प्रस्तावों को वापिस ले लिया तथा उन्होंने रेडियो पर एक विष-भरा भाषण दिया, जो विशेषतया अमेरिकनों को लक्ष्य करके दिया गया था तथा जिसका उद्देश्य यह बताना था कि उनकी सरकार समझौते के लिए उद्यत थी परन्तु कांग्रेस नहीं। उन्होंने कहा, "हमने प्रतिनिधित्वपूर्ण भारतीय राजनीतिक नेताओं को तत्काल ही वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् में ऐसा प्रतिनिधित्व देने की योजना रखी जैसी आपके उन मन्त्रियों को प्राप्त है जो आपके राष्ट्रपति को परामर्श देते हैं।" उनका यह भी कहना था कि कांग्रेस अपने बहुमत के बल पर अल्पसंख्यकों को दबाकर रखना चाहती थी जबकि कांग्रेस सरकार अल्पसंख्यकों तथा देशी नरेशों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध थी। यह एक झूठ था। डी० क्वेंसी के शब्दों में सर क्रिप्स "केवल धोखेबाजी, छल-कपट, विश्वासघात तथा दोहरी चालों से काम ले रहे थे और जिस पर उन्हें लेशमात्र भी पश्चाताप नहीं था। सर क्रिप्स की चालाकी का एक नमूना इस बात से मिलता है कि जब २९ मार्च को उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद से भेंट की तो उन्होंने यह आश्वासन दिया था कि नवीन राष्ट्रीय सरकार का तथा वायसराय का सम्बन्ध वैसा ही होगा कि जैसा इंगलैण्ड में सम्राट तथा मंत्रिमण्डल का, परन्तु बाद में वे अपनी बात से हट गये।[1] प्रोफेसर लास्की का भी मत है कि सर स्ट्रैफॉर्ड क्रिप्स को भारत भेजने का उद्देश्य भारतीयों के अधिकारों

---

1 Maulana Azad writes, "I asked Sir Straford Cripps what would be the position of the Viceroy in this council, Sir Cripps replied, that the viceroy would function as a constitutional head like the king in United kingdom." (Maulana again met Sir Cripps on April 1). In this meeting Sir Cripps was decisive. Our discussions continued for some three hours, I found that the position had undergone a radical change since I had met him last. His answers were now quite different in temper from his replies during the first interview. When I asked him about the status of the Executive Council, he said, it was his hope that Council would, even during the war, work like a Cabinet. I enquired if this meant that the council would decide all issues by majority and its decision would be final."

—India Wins Freedom, pp. 49-51

की मांग पर विचार करने की अपेक्षा जापान की प्रगति के विरुद्ध संगठन करना था। उनके विचार में सर क्रिप्स यदि भारत में एकता की स्थापना के लिए प्रयत्न करते तो अच्छा होता तथा जो मनोवृत्ति उन्होंने प्रदर्शित की, अर्थात् "प्रस्ताव स्वीकार करो या छोड़ दो" तथा उसके बाद उनका वक्तव्य कि उन्होने प्रस्ताव वापिस ले लिया, घातक थी तथा समस्त प्रयत्न एक प्रचार मात्र था।[1]

क्रिप्स-प्रस्तावों का सर्वत्र विरोध

हिन्दू महासभा ने क्रिप्स-प्रस्ताव का विरोध करते हुए पृष्ठद्वार से पाकिस्तान की स्थापना की चेष्टा तथा "भारत के बलकानिस्तान" का विरोध किया। सिक्खों ने भी पाकिस्तान का विरोध करते हुए कहा कि वह भारत से पंजाब के पृथक्कीकरण का समस्त सम्भव उपायों से विरोध करेंगे। उदारवादियों ने भी क्रिप्स-प्रस्ताव को आत्मनिर्णय के सिद्धांतों का उपहास कह कर अस्वीकार कर दिया।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन

क्रिप्स-वार्ता विफल हो जाने से चारों ओर असंतोष फैल गया। दूसरी ओर जापान पास आता चला जा रहा था। इस समस्या ने कांग्रेस के नेताओं को चिन्तित कर दिया तथा परिस्थिति पर विचार करने के लिए अप्रैल सन् १९४२ के अन्त में कांग्रेस-कमेटी की एक बैठक इलाहाबाद में बुलायी। इसमें यह निश्चित किया गया कि कांग्रेस किसी भी ऐसी स्थिति को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं थी जिसमें भारतीयों को ब्रिटिश सरकार के दास के रूप में कार्य करना पड़े। इस बैठक ने सरकारी नीतियों के प्रति क्षोभ प्रकट किया तथा युद्ध के सम्बन्ध में यह निश्चय लिया कि कांग्रेस सरकार के मार्ग में कोई रुकावट नहीं डालेगी, पर वह सरकार को युद्ध में कोई सहयोग भी प्रदान नहीं करेगी।

कार्यसमिति की इलाहाबाद बैठक अप्रैल, सन् १९४२

गांधीजी भारत की स्थिति से चिन्तित हो रहे थे। जनता में भय तथा निराशा बढ़ती जा रही थी। जनता की जो मनोवृत्ति थी, उसके सम्बन्ध में श्री जवाहरलालजी

---

1 *Prof. Laski* writes, "The Cripps Mission came too late. It looked more like a counter-move against Japan than a recognition of Indian claims......frankly it was more important for Sir Strafford Cripps to go on working for unity in India......It was psychologically disastrous for Strafford to go to India in a 'take it for leave it' mood and his return, practically announce that we washed our hands of the offer. That was bound to make it look as though our real thought was less the achievement of Indian freedom that of a *coup de main* in the propagandist's art among our allies who contested American relations with the Philippines against British relations with India."

ने लिखा है : 'जनता की निपट निराशा को साहस तथा प्रतिरोध में परिवर्तित करना नितान्त आवश्यक था। यद्यपि इस गतिरोध की शुरूआत ब्रिटिश अधिकारियों के स्वेच्छाचारी आदेशों के विरुद्ध होती, परन्तु उसे आक्रमणकारी के विरोध में भी बदला जा सकता था। निराशा तथा दासता की ओर भी इसी दृष्टिकोण तथा इसी प्रकार की दीनता व तुच्छता पैदा करती।[1]

गांधीजी की विचारधारा में परिवर्तन

अप्रैल, १९४२ में महात्मा गांधी ने इस ओर गम्भीरतापूर्वक सोचना शुरू कर दिया तथा उन्हें 'भारत छोड़ो' आन्दोलन ही परिस्थिति का एकमात्र हल दीखने लगा। उनका स्वयं भी कहना था कि 'भारत छोड़ो' आंदोलन उनके मन में क्रिप्स-प्रस्तावों के असफल होने के वाद एकदम पैदा हो गया तथा यह विकसित होता रहा।[2] 'हरिजन सेवक' से लेखों तथा समय-समय पर दिये गये वक्तव्यों द्वारा उन्होंने जो विचार जनता के सम्मुख रखे, उनका सारांश यह था कि भारत को जापान के गोलों तथा संगीनों से बचाने का एकमात्र उपाय यह है कि भारत की प्रजा तथा सरकार मिलकर आक्रमणकारी का सामना करें। अंग्रेजों ने अपनी शासन-नीतियों से भारतवासियों का दिल तोड़ दिया है तथा जब तक देश स्वाधीन नहीं हो जाता, जापान के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए अंग्रेज सरकार भारतीयों का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकती। गांधीजी इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि यदि भारत की स्वाधीनता के हेतु राष्ट्र कोई संघर्ष करना चाहता है तो उसका समय आ गया है तथा यदि चूक गये तो फिर शताब्दियों तक समय नहीं आयेगा। यदि जापान युद्ध में विजयी रहा तो भारत फिर नये सिरे से पराधीन हो जायगा और यदि ब्रिटिश सरकार भारत की सहायता के बिना जापान को पराजित करने में सफल हो गयी तो वह भारतीयों से सीधे मुँह बात भी न करेगी। वह इस बात के इच्छुक थे कि भारत में अंग्रेजी राज्य तुरन्त समाप्त होना चाहिए। ६ जून, सन् १९४२ को प्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर से एक भेंट में उन्होंने कहा कि अंग्रेजों के भारत से चले जाने अथवा न चले जाने के मध्य कोई दूसरा मार्ग ही नहीं था। इसका आशय यह नहीं था कि प्रत्येक अंग्रेज यहां से अपना विस्तार बांध कर चला जाय। वह इस बात पर भी सहमत थे कि भारत में

---

1 It was necesary, writes Nehruji, "to convert the sullen passivity of the people into a spirit of non-submission and resistance though that non-submission would be to begin with against arbitrary orders of the British autorities. It could be turned into resistance to an invader. Submissiveness and servility would lead to the same attitude towards the other and thus to humiliation and degradation." —Discovery of India, p. 399.

2 Gandhiji, "It was the Cripps fiasco that inspired the idea. Hardly had he gone when it seized hold of me." —*Tendulker* : Mahatma, Vol. VI, p. 124

अंग्रेजी सेना रहे परन्तु तब तक जब वह स्वतन्त्र भारत के साथ एक सन्धि कर ले। उन्होंने इस बात पर बल दिया किया कि सम्पूर्ण सत्ता भारतीयों को हस्तान्तरित कर दी जाय। क्योंकि अंग्रेज स्वयं देश छोड़ कर जाने वाले नहीं थे, अतः उन्होंने कहा कि कुछ न कुछ कार्यवाही इस दिशा में करना आवश्यक था। वह यह भी जानते थे कि प्रतिरोध करते समय वह अंग्रेजों के युद्ध-प्रयत्नों में बाधा डालेंगे, परन्तु उनकी सम्मति में निष्क्रिय रहने से ऐसा करना श्रेयस्कर था।[1]

वर्धा-प्रस्ताव

१४ जुलाई, सन् १९४२ को वर्धा में कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक बुलायी गयी। इसने गांधीजी के विचारों का समर्थन किया। इस बैठक में एक प्रस्ताव पास किया गया। जिसमें यह कहा कि परिस्थितियों ने इस बात की धारणा की पुष्टि कर दी थी कि भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त होना चाहिए। कांग्रेस यह नहीं चाहती थी कि सिंगापुर, मलाया तथा बर्मा पर जो बीती थी, वह भारत पर भी बीते तथा पराधीन भारत अपनी रक्षा के काम में तथा मानवता को नष्ट करने वाले का सामना करने में पूरा-पूरा भाग ले सकता था। प्रस्ताव में कहा गया, "इस प्रकार भारत की सुरक्षा न केवल भारत के हित में आवश्यक है वरन् विश्व की सुरक्षा के लिए तथा नात्सीवाद, फासीवाद, सैनिकवाद तथा अन्य प्रकार के साम्राज्यवादों तथा एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के आक्रमण का अन्त करने के हेतु भी........समिति की धारणा है कि सब प्रकार के आक्रमणों का प्रतिरोध होना ही चाहिए, क्योंकि इसके आगे झुक जाने का अर्थ अवश्य ही भारतीयों का पतन तथा उसकी परतन्त्रता का जारी रहना होगा...... भारत से ब्रिटिश सत्ता के उठा लिए जाने का प्रस्ताव पारित करने में कांग्रेस की यह इच्छा नहीं है कि इससे ब्रिटेन अथवा मित्रराष्ट्रों के युद्ध-कार्यों में बाधा पहुँचे या इससे जापान अथवा धुरीसमूह के अन्य राष्ट्रों को भारत पर आक्रमण करने में या चीन पर दबाव डालने में प्रोत्साहन मिले।........ भारत से ब्रिटिश सत्ता के हटा लिए जाने के प्रस्ताव का उद्देश्य यह कभी नहीं था कि भारत के समस्त अंग्रेज तथा निश्चय ही वह अंग्रेज देश से विदा हो जायें जो भारत को अपना घर बनाकर यहाँ दूसरों के साथ नागरिक तथा समानाधिकारी बनकर रहना चाहते हैं।"

ब्रिटिश सरकार से कांग्रेस ने भारत को स्वाधीनता देने की जो अपील की, उसके व्यर्थ जाने पर, उसी प्रस्ताव में कहा गया, "यदि यह अपील व्यर्थ गयी तो कांग्रेस वर्तमान स्थिति के स्थायित्व को जिससे परिस्थिति का शनैः शनैः बिगड़ना तथा भारतवर्ष की आक्रमण-विरोधी शक्ति तथा इच्छा का दुर्बल होना स्वाभाविक है, घोर आशंका की दृष्टि से देखेगी। उस स्थिति में कांग्रेस को अपनी समस्त अहिंसात्मक शक्ति का, जो सन् १९२० के बाद संचित की गयी है, अनिच्छापूर्वक उपयोग करने को बाध्य होना पड़ेगा। इस प्रकार के व्यापक संघर्ष का नेतृत्व

1 History of the Congress, Vol. II, p. 370.

अनिवार्य रूप में महात्मा गांधी करेंगे क्योंकि जो प्रश्न यहाँ उठाए गए हैं, वह भारतीय जनता तथा राष्ट्रमित्रों की जनता के लिए दूरगामी परिणाम उत्पन्न करने वाले तथा महत्वपूर्ण हैं। इसलिए अन्तिम निर्णय के लिए कार्यसमिति उन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सुपुर्द करती तथा इस कार्य के लिए ७ अगस्त, सन् १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक करेगी।"

उपरोक्त प्रस्ताव के फलस्वरूप ७ अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ। न केवल भारत अपितु समस्त संसार की निगाहें इस अधिवेशन पर लगी थीं। पंडाल में लगभग २०,००० व्यक्ति थे तथा प्रत्येक प्रान्त ने अपने-अपने प्रतिनिधियों का जत्था युद्ध की अन्तिम घोषणा सुनने भेजा था।[1] ८ अगस्त को अत्यन्त विचार-विमर्श के बाद ऐतिहासिक 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव में कहा गया, "भारत में ब्रिटिश शासन का तत्कालीन अन्त भारत के लिए तथा मित्रराष्ट्रों के आदर्श की पूर्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।......इसी के ऊपर युद्ध का भविष्य, एवं स्वतंत्रता व प्रजातंत्र की सफलता निर्भर है........अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पूरे आग्रह के साथ ब्रिटिश सत्ता के हटा लिए जाने की माँग को दोहराती है........आधुनिक साम्राज्यवाद का केन्द्रबिन्दु भारत अब समस्या का मुख्य विषय बन गया है।........अंग्रेजों के चले जाने के बाद देश में प्रमुख राजनैतिक दलों तथा वर्गों से एक अस्थायी सरकार का निर्णय किया जायगा जिसका मुख्य उद्देश्य अपनी सैनिक तथा अहिंसात्मक शक्ति के प्रयोग से विदेशी आक्रमण के विरुद्ध देश की सुरक्षा करना होगा।"

क्योंकि यह आशा की जाती थी कि अंग्रेज भारत छोड़कर आसानी से नहीं जावेंगे, अतः एक जन-आन्दोलन भी चलाने का निश्चय किया गया, जिसकी तिथि की घोषणा नहीं की गयी थी, क्योंकि गांधीजी आन्दोलन छेड़ने के पहले एक बार सरकार से अन्तिम बार बात कर लेना चाहते थे। इस अवसर पर महात्मा गांधी ने एक युगान्तरकारी भाषण दिया। इन्द्र विद्यावाचस्पति का कहना है कि गांधीजी उस रात ऐसे बोल रहे थे "मानो उनकी अन्तरात्मा में से भगवान बोल रहा हो।" पट्टाभि सीतारमय्या का भी कहना है कि "वास्तव में गांधीजी उस दिन एक अवतार तथा पैगम्बर की प्रेरक-शक्ति से प्रेरक होकर भाषण कर रहे थे। उनके अन्दर आग धधक रही थी। गांधीजी उस दिन राजनीति के निम्न धरातल से ऊपर उठकर उत्कृष्ट मानवता, विश्वव्यापी भ्रातृत्व, शांति तथा मानव मात्र के प्रति सद्भाव से परिपूरित होकर दिव्य लोक की चर्चा कर रहे थे।" गांधीजी ने अपनी कार्य-प्रणाली की व्याख्या करते हुए देशवासियों से कहा, "मैं इस लड़ाई में आपका नेतृत्व करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता हूँ, सेनापति एवं नियंत्रक के रूप में नहीं, आपके तुच्छ सेवक के रूप में, और जो कोई सर्वाधिक सेवा करेगा, वह मुख्य सेवक माना जायगा।"

---

1 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० ३५७।

कुछ लोगों ने गांधीजी के मत का समर्थन नहीं किया। उनका कहना था कि गांधीजी ऐसे संकटकाल में देशवासियों को आन्दोलन के चक्कर में नहीं डालें। उनका उत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा :

"यदि मैं आपकी बात मानूं तो मुझे अन्दर की आवाज को दबा देना पड़ेगा। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मुझे अकेले ही संसार से लोहा लेना पड़ेगा। वह मुझसे यह भी कहती है कि जब तक तुममें निश्शंक होकर संसार का सामना करने करने की शक्ति है, तब तक तुम सुरक्षित हो, भले ही तुम्हें दुनियाँ किसी भी दृष्टि से देखे। तुम उस दुनियाँ की परवाह मत करो तथा केवल उस परमात्मा से डरते हुए अपना कार्य पूरा करो।"

अपने भाषण के अन्त में गांधीजी ने कहा :

"अब जो लड़ाई छिड़ेगी, वह सामूहिक लड़ाई होगी। हमारी योजना में गुप्त कुछ भी नहीं है। हमारी तो खुली लड़ाई है।.........हम एक साम्राज्य से लड़ाई लड़ने जा रहे हैं तथा हमारी लड़ाई बिल्कुल सीधी लड़ाई होगी। इस बारे में आप किसी भ्रम में न रहें। लुक-छिपकर कोई काम न करें। जो लुक-छिप कर काम करते हैं, उन्हें पछताना पड़ता है।।"

गांधीजी ने भारतवासियों को 'करो या मरो' का संदेश दिया अर्थात् या तो स्वाधीनता प्राप्त कर लो अथवा मर जाओ, परन्तु उन्होंने सदा यह कहा कि कार्यवाही हिंसात्मक न हों।

अगस्त-क्रान्ति

९ अगस्त के प्रातःकाल ही महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य नेता गिरफ्तार कर लिये गये। गांधीजी, सरोजिनी नायडू आदि आगाखाँ के महल (पूना) में बन्दी रखे गए तथा श्री जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेता अहमदनगर के दुर्ग में बंद कर दिये गये। धीरे-धीरे प्रान्तीय नेताओं की भी गिरफ्तारियाँ शुरू हो गयीं। सरकार ने नेताओं को बन्दी बनाने से पूर्व ८ अगस्त की रात्रि को प्रकाशित विज्ञप्ति का हवाला दिया, जिसमें कांग्रेस के प्रोग्राम का उल्लेख किया गया था और जिसमें रेल की पटरियाँ, टेलीफोन व टेलीग्राफ के तारों का तोड़ा जाना कांग्रेस-कार्यक्रम का एक अंग था। नेताओं की एकाएक गिरफ्तारी ने जनता को उत्तेजित कर दिया था तथा क्योंकि गांधीजी तथा अन्य कोई नेता बाहर नहीं रह गये, जनता के हिंसात्मक उत्तेजना को कोई रोकने वाला नहीं था। यह क्रांति लगभग तीन वर्षों तक चली तथा पट्टाभि सीतारमैय्या का कहना है कि इतने दिनों भारत नरक बना रहा। ऐसा विचार किया जाता है कि इस आन्दोलन ने जो हिंसक रूप धारण किया, उसकी समस्त जिम्मेदारी सरकार पर थी, क्योंकि जिस रूप में प्रारम्भ से ही उसने दमन की नीति अपनाई, उसने उत्तेजित भारतीयों के हृदयों में पेट्रोल का काम किया। दमन से जनता दबी नहीं वरन् उसके हृदयों में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध जो आग भड़क रही थी, उसने जोर पकड़ लिया। शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर अनेक स्थानों पर गोलियाँ चलाई

गयीं तथा अनेक सरकारी इमारतें जला दी गयीं और रेल की पटरियाँ व टेलीफोन के तार आदि तोड़ डाले गये। ऐसा करने में अब जनता का मुख्य उद्देश्य इंगलैण्ड को उसके युद्ध-प्रयत्नों में बाधा पहुँचाना था। इसी समय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, जो पहले ही सरकार की आँखों में धूल झौंक कर भारत के बाहर भाग गये थे, वर्मा में आजाद हिन्द सेना का संगठन करके ब्रह्मा की ओर से भारत की तरफ बढ़ रहे थे। वह निरन्तर अपने रेडियो-ब्रॉडकास्ट द्वारा जनता को सरकार के विरुद्ध क्रांति करने का आदेश दे रहे थे।

अंग्रेजों द्वारा दमन और देश अराजकता की ओर

सरकार के दमन का परिणाम यह हुआ कि भारत के अनेक भागों में रेल-गाड़ी चलनी बन्द हो गई तथा टेलीफोन व टेलीग्राफ विभाग भी बन्द हो गये। जमशेदपुर, बम्बई तथा अहमदाबाद में मजदूरों ने हड़ताल की। संयुक्तप्रान्त में बलिया, बंगाल में मिदनापुर तथा बम्बई प्रान्तों में सतारा तथा कुछ अन्य स्थानों पर ब्रिटिश शासन का अन्त कर समानान्तर सरकारें स्थापित की गयीं। सरकार ने अब आन्दोलन का कठोरतापूर्वक दमन करना निश्चय किया। सेना की सहायता से जहाँ-जहाँ शासन खत्म हो गया था, पुनः अधिकार प्राप्त किया गया। निरपराध जनता के साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया। किसानों तथा जनता पर अर्थ-दण्ड लगाया गया तथा कुछ स्थानों पर हवाई जहाज से गोलियाँ चलाई गयीं। सन् १९४३ में केन्द्रीय विधान-सभा में युद्ध-सदस्य सर रेजिनॉल्ड मैक्सविल ने सन् १९४२ के सम्बन्ध में आँकड़े प्रस्तुत करते हुए कहा कि आन्दोलन में पुलिस तथा सेना द्वारा ५३८ बार गोली चलाई गई जिसके फलस्वरूप ९५० व्यक्ति मरे तथा १३६० घायल हुए। ६०,२२९ व्यक्ति जेल गये, २०० के लगभग रेलवे-स्टेशन नष्ट किये गये। ५५० डाकखानों पर हमला किया गया जिसमें ५० बिल्कुल जला दिये गये तथा २०० को भारी नुकसान पहुँचा। ३,५०० स्थानों पर तार व टेलीफोन की लाइनें काट दी गयीं, ७० थाने तथा ८५ सरकारी भवन जला डाले गये। सरकार के दमन ने खुले विद्रोह को तो कुछ काल के लिए दबा दिया परन्तु यह आन्दोलन कई मास चला तथा श्रीमती अरुणा आसफअली, श्री राममनोहर लोहिया तथा श्री जयप्रकाशनारायण आदि समाजवादी नेताओं ने छिपकर आन्दोलन का निर्देशन किया।

विभिन्न दलों की प्रतिक्रिया

'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सम्बन्ध में विभिन्न राजनीतिक दलों ने क्या रुख धारण किया, इनकी भी चर्चा यहाँ कर देनी चाहिए। समाजवादी नेताओं ने तो आन्दोलन में पूर्णतः कांग्रेस का साथ दिया तथा श्री जयप्रकाश, श्री लोहिया तथा श्रीमती अरुणा आसफअली ने सरकार को उलटने के हिंसक प्रयत्न किये, परन्तु अन्य दलों ने इसके साथ विशेष सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की। साम्यवादियों ने जो नीति अपनायी, वह देश के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुई तथा एक प्रकार से

राष्ट्रीय आन्दोलन की पीठ में छुरा भोंकने के समान थी : रूस भी युद्ध में सम्मिलित हो चुका था; अतः साम्यवादियों ने सरकार का साथ देना शुरू कर दिया। उन्होंने लीग के साथ गठबन्धन कर उनकी पाकिस्तान सम्बन्धी योजना के पक्ष में विचार प्रकट किये तथा कांग्रेस को आन्दोलन स्थगित करने की सलाह दी। मुस्लिम लीग भी इस आन्दोलन से पृथक रही क्योंकि उसके मत में यह मुसलमानों के लिए घातक था। उसका कहना था कि आन्दोलन का लक्ष्य भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना था। जिन्ना ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में गैर-कांग्रेसी तत्वों से मिलकर अस्थायी सरकार की स्थापना का भी प्रयत्न किया। इस योजना में वह सफल न हो सके। उन्होंने यह भी कहा कि वह पाकिस्तान के आधार पर सदा ही कांग्रेस से बात करने को तैयार हैं तथा यह भी कहा कि महात्मा गांधी वर्तमान गत्यावरोध को दूर करने के लिए उन्हें जेल से पत्र लिखें तो संसार की कोई शक्ति उसे उनके पास पहुँचने से रोक नहीं सकती। इस वक्तव्य के प्रत्युत्तर में गांधीजी ने उन्हें एक पत्र लिखा जो गवर्नर-जनरल ने जिन्ना साहब तक नहीं पहुँचने दिया।

साम्यवादियों की गद्दारी

आन्दोलन के कुछ दिन बाद सरकार ने एक वक्तव्य में क्रांति के लिए पूरी तौर से गांधीजी तथा कांग्रेस को उत्तरदायी ठहराया।[1] गांधीजी को पहले से ही, जिस प्रकार हिंसा व्यवहार में लायी गयी, वेदना हो रही थी। उन्होंने वायसराय को लिखा कि या तो इस दोषारोपण के स्पष्टीकरण की आज्ञा दी जाय तथा उन पर इस दोष को सिद्ध करने के हेतु न्यायालय में मुकद्दमा चलाया जाय। सरकार का कहना था कि जब तक कांग्रेस 'भारत छोड़ो' आन्दोलन वापस नहीं लेती, गांधीजी मुक्त न किये जायेंगे। गांधीजी तथा लॉर्ड लिनलिथगो के मध्य जो पत्र-व्यवहार हुआ, उसमे एक पत्र में गांधीजी ने वायसराय को सूचना दी कि "मैंने उपवास द्वारा शरीर को सूली पर चढ़ाने का निश्चय किया है। मुझे मेरी गलती अथवा गलतियों का यकीन दिला दें तो मैं सुधार करने को तैयार हूँ...... अगर आप चाहें तो बहुत-से रास्ते निकल सकते हैं।" वायसराय ने गांधीजी से मिलना ठीक नहीं समझा क्योंकि वह डरता था कि यदि बातचीत का अवसर दिया गया तो कहीं बाजी गांधीजी के हाथ न लगे। उन्होंने महात्मा गांधी के पत्र का उत्तर देते हुए लिखा, "मुझे आपकी तन्दुरुस्ती तथा आयु के ख्याल से आपके उपवास सम्बन्धी निश्चय पर खेद है। आशा है, आप उपवास का विचार छोड़ देंगे।...... मैं तो राजनीतिक उद्देश्य के लिए किये गये उपवास को एक प्रकार की राजनीतिक धौंस मानता हूँ, जिसका कोई भी राजनीतिक औचित्य नहीं है।" १० फरवरी को महात्मा गांधी ने उपवास शुरू कर दिया। उपवास के समाचार ने विश्वव्यापी

गांधीजी का उपवास

1 देखिये, "सन् १९४२-४३ के उपद्रवों के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व," भारत सरकार प्रकाशन, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित, १९४३।

प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी। एक पत्र में वायसराय को गांधीजी ने लिखा, "मेरे लिए तो यह (उपवास) उस न्याय के लिए सर्वोच्च अदालत की अपील है। जिसे मैं आपसे नहीं प्राप्त कर सका।" अमरीका में भी उपवास के साथ गहरी सहानुभूति प्रकट की गयी। 'न्यूयार्क टाइम्स' तथा 'डेली न्यूज' ने यह सम्मति दी कि उपवास के कारण भारत की राजनीतिक दशा और भी बिगड़ेगी तथा अमेरिका को उसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। इंगलैण्ड में गैर-सरकारी-क्षेत्रों में भी चिन्ता प्रकट की गयी। यहाँ की 'फ्रैन्ड्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' के मिस्टर होरेस एलेक्जेंडर ने सरकार से मिल कर कुछ समझौता कराना चाहा पर उन्हें सफलता नहीं मिली। भारत में भी देशवासियों के हृदय में ब्रिटिश सरकार के कार्यों से क्षोभ उत्पन्न हो गया। सर होमी मोदी, नीलरंजन सरकार तथा अणे ने वायसराय की कार्यकारिणी-समिति से त्यागपत्र दे दिया। यह उपवास २१ दिनों के बाद सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। देश तथा विदेशों में सन् १९४४ को गांधीजी रुग्णावस्था में जेल से रिहा कर दिये गये। इस कारावास में गांधीजी को दो वियोग सहने पड़े। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कस्तूरबा तथा उनके विश्वासपात्र मन्त्री महादेव देसाई का इस अवधि में देहावसान हो गया।

लॉर्ड वेवेल का भारत-आगमन

अक्टूबर, सन् १९४३ में लॉर्ड वेवेल भारत के वायसराय बनकर आये। वह भारत के लिए अपरिचित नहीं थे क्योंकि वह यहाँ के प्रधान-सेनापति के पद पर कार्य कर चुके थे तथा उन्होंने क्रिप्स-योजना से सम्बन्धित बातचीत में भी भाग लिया था। जिस समय उनकी नियुक्ति हुई, उसके कुछ दिन बाद उन्होंने घोषित किया कि "मैं अपने थैले में बहुत-सी चीजें ला रहा हूँ।" इससे लोगों को आशा हुई कि सम्भवतया संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए वह कुछ प्रयत्न करें, यद्यपि उनसे भारत के राजनीतिक क्षेत्रों में विशेष आशा भी नहीं की जाती थी क्योंकि वह मिस्टर चर्चिल के अत्यन्त विश्वासपात्र थे। भारत आने पर लॉर्ड वेवेल मौन हो गये। इसी बीच बंगाल का दुर्भिक्ष पड़ा जिससे देश की परिस्थिति अत्यन्त खराब होती गयी तथा बाद में गांधीजी के उपवास के कारण भी राजनीतिक क्षेत्रों में उत्तेजना फैली। उन्होंने ही बाद में गांधीजी की रिहाई का आदेश दिया। ऐसा विचार किया जाता है कि गांधीजी की मुक्ति का कारण नेताजी के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज का भारत की ओर बढ़ना था। इस सेना ने १५,००० वर्गमील का मणिपुर तथा ऐशवपुर का क्षेत्र अपने अधीन कर लिया था।

जेल से छूटने पर गांधीजी ने लॉर्ड वेवेल से बातचीत करनी चाही तथा कहा कि उन्हें अनुमति दी जाय कि वह कांग्रेस-कार्यसमिति के सदस्यों से विचार-विमर्श कर सकें। अपने पत्र में गांधीजी ने लिखा कि उनका उद्देश्य मित्रराष्ट्रों के युद्ध-प्रयत्नों में बाधा देना नहीं था तथा न ही उनका सत्याग्रह पुनः शुरू करने का इरादा था। उन्होंने कहा वह परिस्थितियों को देखते हुए केवल गैर सैनिक-शासन पर पूर्ण

नियन्त्रण रखने वाली राष्ट्रीय सरकार से सन्तुष्ट हो जावेंगे तथा यदि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होगी तो कांग्रेस को उसमें भाग लेने के लिए परामर्श देंगे। गांधीजी ने यह भी वायदा किया कि स्वाधीनता के उपरान्त वह कांग्रेस को परामर्श देना बन्द कर देंगे।

लॉर्ड वेवेल ने उत्तर में स्पष्ट कह दिया कि यदि गांधीजी या कांग्रेस कोई समझौता करना चाहते थे तो पहले उन्हें 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव वापस लेकर आन्दोलन को बन्द कर देना चाहिए।

राजगोपालाचारी फार्मूला, मार्च, सन् १९४४

अप्रैल, सन् १९४२ में होने वाली कांग्रेस-कार्यसमिति की मीटिंग, जो क्रिप्स-प्रस्तावों के विफल होने पर भारत सरकार की नीति पर विचार करने के लिए बुलायी गयी थी, श्रीराजगोपालाचारी ने खुले तौर पर मुस्लिम लीग के साथ पाकिस्तान के आधार पर समझौता करने का सुझाव रखा था। कांग्रेस-कार्यसमिति राजाजी के प्रस्ताव में सहमत नहीं हुई। इस पर उन्होंने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया तथा वह कांग्रेस से अलग हो गये। यह त्यागपत्र उन्होंने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से ही पूर्व ही दे दिया था; अतः आन्दोलन से भी वह अलग रहे। राजाजी का विचार था कि क्योंकि मुस्लिम लीग पाकिस्तान के लिये जिद करती है तथा अंग्रेजों की उसको सहानुभूति प्राप्त है, अतः उसकी मांग स्वीकार करने के अतिरिक्त भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अन्य कोई हल नहीं निकल सकता। मई सन् १९४३ में गांधीजी की रिहाई के बाद उन्होंने लीग-कांग्रेस समझौते का आधार बनाने के लिए एक योजना बनायी जो 'सी० आर० फार्मूला' के नाम से विख्यात हुई।[1]

इस योजना के अनुसार :

(१) मुस्लिम लीग के लिए आवश्यक था कि वह भारत की स्वतन्त्रता की मांग से सहमति प्रकट करे तथा अन्तरिम सरकार की स्थापना में कांग्रेस से सहयोग करे।

(२) युद्धोपरान्त एक कमीशन की नियुक्ति होगी जो उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भारत में उन जिलों को निर्दिष्ट करेगा, जहां मुसलमान-बहुमत है। इन निर्दिष्ट क्षेत्रों में जनमत-संग्रह किया जायेगा जो वयस्क मताधिकार या अन्य व्यवहार्य आधार पर होगा। इस जनमत-संग्रह द्वारा ही भारत से पृथक्करण के प्रश्न पर अन्तिम निर्णय होगा। यदि बहुमत भारत से पृथक् राज्य के पक्ष में होगा तो यह निर्णय क्रियान्वित किया जायेगा। सीमान्त राज्यों को किसी भी राज्य में सम्मिलित होने की स्वाधीनता होगी।

1 'सी० आर०' राजाजी के नाम संक्षिप्त रूप है अर्थात् चक्रवर्ती राजगोपालाचारी।

(३) जनमत-संग्रह होने से पूर्व प्रत्येक दल को अपने पक्ष में प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।

(४) विभाजन होने पर सुरक्षा, व्यापार तथा संचार-साधनों के लिए परस्पर समझौता किया जायगा।

(५) जनसंख्या का आदान-प्रदान केवल जनता की इच्छा पर होगा।

(६) उपर्युक्त शर्तें तभी लागू होंगी, यदि ब्रिटेन भारत को पूर्ण सत्ता तथा उत्तरदायित्व प्रदान कर दे।

गांधीजी ने इस योजना के आधार पर मिस्टर जिन्ना से बातचीत करने का प्रयत्न किया। गांधीजी यद्यपि बहुत कुछ झुक गये, पर मिस्टर जिन्ना की हठधर्मी से साम्प्रदायिक समस्या का कोई भी हल नहीं निकल सका। उन्होंने कहा कि इस फार्मूले के आधार पर जो पाकिस्तान बनेगा वह विभिन्न एवं नष्टप्राय: (Maimeds humiliated and moth eaten) होगा। मिस्टर जिन्ना की मांग थी कि पाकिस्तान में सिन्ध; उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पंजाब, बंगाल, आसाम तथा बिलोचिस्तान सम्मिलित किये जायें तथा जनमत-संग्रह में गैर-मुसलमानों को मत देने का अधिकार प्रदान नहीं किया जाय। वह सुरक्षा, व्यापार तथा संचार-साधनों के सम्मिलित नियन्त्रण के पक्ष में नहीं थे तथा पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान को मिलाने के लिए एक रास्ता भी चाहते थे।

वेवेल-योजना

लॉर्ड वेवेल अक्टूबर, सन् १९४३ में भारत आये थे, परन्तु युद्ध की समाप्ति तक वह चुप रहे। २१ मार्च, सन् १९४५ को वह ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से परामर्श करने इंगलैण्ड गये तथा २ जून को वापस लौटे। इसके ठीक दस दिन बाद भारत में संवैधानिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए उन्होंने अपनी योजना 'वेवेल-योजना' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह योजना क्यों प्रस्तावित की गयी, इस पर भी विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि मई, सन् १९४५ में योरोप में युद्ध समाप्त हो गया था, परन्तु दक्षिण पूर्वी एशिया में युद्ध अब भी चल रहा था। यह सोचा गया कि जापान का सामना करने के लिए भारत का सहयोग प्राप्त किया जाय। रूस की ओर से भी ब्रिटिश सरकार पर जोर पड़ा कि गतिरोध समाप्त करने के लिए हल निकाले, परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इंगलैण्ड में सार्वजनिक निर्वाचन नजदीक आ गये थे। मजदूर दल चर्चिल-सरकार की भारत सम्बन्धी नीति की आलोचना कर रहा था तथा ऐसा प्रतीत होने लगा था कि यही दल विजयी होगा। चर्चिल तथा उनके साथियों ने सोचा कि इसके पूर्व कि मजदूर दल सत्तारूढ़ हो तथा भारत को स्वतन्त्रता हो तथा भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर दे, उन्हें कोई ऐसा हल निकालना चाहिए कि भारत सन्तुष्ट भी हो जाये तथा उनके अधीन भी बना रहे।

इंगलैण्ड से वापस आकर १४ जून को लॉर्ड वेवेल ने एक रेडियो-ब्रॉड-कास्ट में अपनी योजना प्रसारित की। इस योजना का उद्देश्य भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाना व भारत को स्वशासन के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना था।

उपर्युक्त लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए वायसराय की कार्यकारिणी-सभा का पुनर्गठन किया जाना था जिसमें वायसराय तथा प्रधान सेनापति को (जो युद्ध में भी रहेगा) छोड़कर अन्य सभी सदस्य विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता होने थे। विदेशी विभाग भी (सीमान्त तथा कबायली विषयों को छोड़कर) भारतीय सदस्य के हाथ में रहना था। परिषद् में सवर्ण हिन्दुओं तथा मुसलमानों की संख्या समान होनी थी। इस प्रकार कार्यकारिणी-परिषद् एक प्रकार से अन्तर्कालीन राष्ट्रीय सरकार के समान ही होनी थी, तथा गवर्नर-जनरल अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग नहीं करेगा, यह भी स्पष्ट कर दिया था। क्योंकि गवर्नर-जनरल, जहां भारत सरकार का प्रधान था, वहीं ब्रिटिश हितों की रक्षा करना भी उसी का कार्य था। अब यह प्रस्ताव किया गया कि गवर्नर-जनरल की दोहरी स्थिति को दूर करने के लिए भारत में एक ब्रिटिश हाई-कमिश्नर की नियुक्ति की जाय जिससे गवर्नर-जनरल केवल सरकार का प्रधान हो। इन सबके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि युद्धोपरांत अपने संविधान का निर्माण स्वयं भारतीय करेंगे तथा इन प्रस्तावों से भारत के भावी स्थाई संविधान अथवा संविधानों के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए शिमला में एक सम्मेलन भी बुलाने की योजना रखी गई।

वेवेल-योजना का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इससे भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने की समस्या का कोई उचित हल नहीं प्रस्तुत किया। लगभग यह वही प्रस्ताव थे जो क्रिप्स-योजना के अन्तर्गत अन्तर्कालीन प्रस्ताव थे। उस समय प्रश्न यह था कि भारतीयों को कितनी शक्ति प्रदान की जाय, तथा अब यह प्रश्न था कि शक्ति हिन्दू तथा मुसलमानों के मध्य किस प्रकार विभक्त कर दी जाय।

शिमला-सम्मेलन

आयोजित सरकार ने वेवल-योजना पर विचार करने के लिए शिमला-सम्मेलन में भाग लेने के लिए कांग्रेस-कार्यसमिति के सदस्यों को मुक्त कर दिया तथा कुछ समय बाद उन सभी राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया जिन्होंने हिंसात्मक कार्यों में भाग नहीं लिया था।

यह सम्मेलन २५ जून, सन् १९४५ को आरम्भ हुआ तथा इसमें जो २२ भारतीय प्रतिनिधि आमन्त्रित किये गये, उनमें गांधीजी, मिस्टर जिन्ना, कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के अलावा सभी प्रान्तों के मुख्यमन्त्री तथा भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, श्री भूलाभाई देसाई, श्री लियाकतअलीखां, श्री वी० शिवराज तथा मास्टर

तारासिंह थे। इस सम्मेलन के आरम्भ होने के पूर्व ही केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के कांग्रेस दल के नेता तथा लीग के उपमन्त्री नवाबजादा लियाकतअलीखां के मध्य एक समझौता हो चुका था जिसमें कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के मध्य समानता के आधार पर अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था तथा यह आशा की गई थी कि गांधीजी को यह समझौता मान्य होगा। एक दृष्टि से यह समझौता अनुचित था कि इसमें कांग्रेस को एक साम्प्रदायिक संस्था समझ लिया गया था। वास्तव में तथ्य यह था कि भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए गांधीजी तथा कांग्रेस मुस्लिम लीग की हर मांग को मानने के लिए तैयार थे।

शिमला सम्मेलन में भी मिस्टर जिन्ना ने यह हठधर्मी दिखाई कि कांग्रेस को कुलीन हिन्दुओं की एक साम्प्रदायिक संस्था माना जाना चाहिए तथा भावी संविधान में उसे अपनी इस स्थिति को मान लेना चाहिए। मिस्टर जिन्ना की इस मांग के पीछे ब्रिटिश सरकार का हाथ था। सम्मेलन में कांग्रेस-अध्यक्ष मौलाना आजाद को आमन्त्रित नहीं किया गया जिसका गांधीजी ने विरोध किया। उन्होंने वायसराय को लिखा कि उन्हें कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन में सम्मिलित होने का कोई अधिकार नहीं था। तब वायसराय ने मौलाना आजाद को भी आमन्त्रित किया। यह सम्मेलन इस दृष्टि से विफल रहा कि इसमें मुख्य राजनीतिक दलों के मध्य कार्यकारिणी के संयोजक सम्बन्धी प्रश्न का कोई हल नहीं निकल सका। मिस्टर जिन्ना का कहना था कि केवल मुस्लिम लीग को ही मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि राजनीतिक दल माना जाय तथा कांग्रेस और पंजाब के यूनियनिस्ट दल ने प्रान्तीय कार्यकारिणी में जो मुसलमान सदस्य रखे थे, उस पर आपत्ति उठाई। कांग्रेस-अध्यक्ष ने वायसराय को उसकी कार्यकारिणी के सम्बन्ध में प्रस्तावित सूची दी जिसमें पांच मुसलमान सदस्यों में से तीन लीग के तथा दो राष्ट्रवादी मुसलमान रखे गये थे। जिन्ना साहब चाहते थे कि पांचों मुसलमान सदस्य लीग के ही प्रतिनिधि हों तथा उसमें कांग्रेसी मुसलमानों को कोई स्थान न मिले। कांग्रेस का यह कहना था कि वह सभी भारतीयों की संस्था है तथा अकेले हिन्दुओं की नहीं। मिस्टर जिन्ना यह भी चाहते थे कि लीग के लाहौर-प्रस्ताव के अनुसार जब तक मुसलमानों का आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं स्वीकार कर लिया जाता, वह अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना के प्रस्ताव पर कोई विचार नहीं करेंगे। वायसराय के आश्वासन देने पर कि यह योजना उनके पाकिस्तान-निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति में बाधक नहीं होगी, मिस्टर जिन्ना ने हिन्दुओं के बराबर ही मुस्लिम प्रतिनिधित्व की मांग की। उन्हें इस बात से सन्तोष नहीं था कि नई कार्यकारिणी-परिषद् में केवल एक-तिहाई मुसलमान रहें। पंजाब के यूनियनिस्ट नेता मलिक खिज्रहयातखां तिवाना ने भी जिन्ना की मांगों का विरोध किया।

क्योंकि साम्प्रदायिकता की समस्या का हल नहीं हो सका, अतः वायसराय

वायसराय द्वारा सम्मेलन की असफलता की घोषणा

ने सम्मेलन असफल घोषित कर दिया। १४ जुलाई, सन् १९४५ को लॉर्ड वेवल ने सम्मेलन के सम्मुख एक भाषण में कहा :

"मेरा सर्वप्रथम लक्ष्य यह था कि सम्मेलन नई कार्यकारिणी-परिषद् की संख्या तथा उसके निर्माण का ढंग निश्चित करे। इसके बाद विभिन्न राजनीतिक दल अपने नामों की सूची मेरे पास भेजें। यदि आवश्यकता होती तो मैं इस सूची में अपनी इच्छानुसार कुछ नाम जोड़ देता तथा इस प्रकार कागज पर एक ऐसी कार्यकारिणी-परिषद् का निर्माण हो जाता जो सम्राट की सरकार मुझे तथा सम्मेलन को स्वीकार होती। मैंने अपने द्वारा चुने नामों की सूची को समस्त नेताओं के विचार-विमर्श करने तथा अन्त में उसे सम्मेलन के सामने रखने की इच्छा की थी। अभाग्यवश, कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्यों की संख्या एवं उनके निर्माण के ढंग पर सम्मेलन एकमत नहीं हो सका।

मैंने एक ऐसा हल सामने रखने का प्रयास किया जो पहले से ही मान लिए गये किसी फारमूले पर आधारित न हो। मैंने दलों के नामों की सूची मांगी तथा उनसे यह भी कहा कि यथाशक्ति मैं एक ऐसा समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा जो नेताओं तथा सम्मेलन, दोनों को ही मान्य हो। योरोपियनों या मुस्लिम लीग को तोड़कर यहाँ सम्मिलित होने वाले सभी दलों ने सूचियाँ भेज दीं। मैंने यह पूरा निश्चय कर लिया था कि सम्मेलन असफल नहीं होने पायेगा तथा इसीलिए मैंने कुछ नाम भी छाँटे थे जिनमें मुस्लिम लीग के भी कुछ नाम सम्मिलित थे। किसी भी दल के अधिकारों की माँग को पूर्णरूप से स्वीकार करना मेरे लिए सम्भव नहीं था। जब मैंने समस्या का हल मिस्टर जिन्ना के सामने रखा तो उन्होंने मुझे बताया कि यह मुस्लिम लीग को स्वीकार्य नहीं था। उनके निश्चय से मुझे ज्ञात हो गया कि अधिक बातचीत व्यर्थ थी।"

जब वायसराय ने सम्मेलन असफल घोषित किया तो मौलाना आजाद ने कहा कि प्रारम्भ में ही वायसराय ने कहा था कि किसी एक दल को सम्मेलन को भंग करने का अवसर नहीं दिया जायेगा, परन्तु जो हुआ, वह इसके विपरीत था। वास्तविकता यह है कि ब्रिटिश सरकार किसी भी समझौते के लिए तैयार नहीं थी तथा इसी कारण उसने मुस्लिम लीग की माँगों को अनुचित समझते हुए भी नहीं ठुकराया। लॉर्ड वेवेल भी मुस्लिम लीग की माँगों को अनुचित समझते थे, परन्तु यह कहकर कि वह अपना निर्णय किसी एक दल पर थोपना नहीं चाहते, कोई सक्रिय कदम नहीं उठाना चाहते थे।[1] पण्डित जवाहरलाल नेहरू को भी उनके एक

1 Azad writes, "I asked Lord Wavell to say in catagorical term whether the stand of the Muslim League could be regarded as reasonable. Lord Wavell said in reply that he could not accept [contd,

मित्र ने लन्दन से लिखा कि वेवेल-योजना केवल ब्रिटिश सार्वजनिक निर्वाचन सम्बन्धी एक चाल थी तथा जिन्ना के बिना किसी सरकार के निर्माण न करने की योजना यही निश्चित हुई थी।[2]

मिस्टर जिन्ना, जो इस सम्मेलन के असफल होने के लिए जिम्मेदार थे, ने भी अंग्रेजों की चाल की निन्दा करते हुए कहा कि वेवेल योजना स्वीकार कर लेने से पाकिस्तान की स्थापना की माँग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता।

इंगलैण्ड में सार्वजनिक निर्वाचन

अगस्त, सन् १९४५ में जापान ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। इंगलैंड में जो नवीन सार्वजनिक निर्वाचन हुए, उनमें मजदूर दल सत्तारूढ़ हुआ तथा मिस्टर एटली (अब लॉर्ड) प्रधानमन्त्री बने। श्रमदल ने इन चुनावों के दौरान में भारतीयों को स्वायत्तता देने की नीति का प्रतिपादन किया था। श्रमदल के एक सम्मेलन में जो चुनाव के पूर्व हुआ था, बेविन ने कहा था "यदि हम विजयी होते हैं, हम प्रधानमन्त्री का कार्यालय बन्द कर देंगे और इसका कार्य डोमिनियन्स को दे देंगे।"[1] लोकसभा के नये सत्र का उद्घाटन करते हुए सम्राट ने घोषणा की, "भारतीय जनता को दिये गये वचनों के अनुसार मेरी सरकार शीघ्र ही भारतीय लोकमत के नेताओं से मिलकर भारत में स्वायत्त-शासन की स्थापना का यथाशक्ति प्रयत्न करेगी।" प्रधानमन्त्री एटली ने भी मौलाना आजाद द्वारा भेजे गये बधाई के तार के प्रत्युत्तर में कहा कि मजदूर सरकार भारतीय समस्या का उचित समाधान

मजदूर दल का सत्तारूढ़ होना

वेवेल का लन्दन बुलाया जाना

the stand of the Muslim League as reasonable. At the same time he said that was a matter which should be decided between the Congress and the Muslim League and it would not be proper for either the Government or for himself as an individual to force a decision on the either party"

—India Wins Freedom, p. 112.

1 "It is now known that the Wavell offer was maintained as part of election necessities. Also that the final termination of talks by Wavell without taking the obvious course of forming a Government without Jinnah, was dictated from here."

—Quoted by *Pyare Lal* : Mahatma Gandhi, I, p, 138.

2 "If we are returned, we will close the India Office and transfer this business to the dominions." —*Mr. Bevin.*

Quoted from *Raghuvanshi, V. P. S.* : Indian Nationalist Movement and Thought, p. 135.

शीघ्र ही करेगी। मजदूर सरकार ने भारत के वायसराय लॉर्ड वेवेल को भी परामर्श के लिए लन्दन बुलाया। १८ सितम्बर, सन् १९४५ को लन्दन से आने पर लॉर्ड वेवेल ने घोषणा की :

वेवेल-घोषणा

(१) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के निर्वाचन, जो युद्ध के कारण नहीं हो सके थे, आगामी शीत काल में होंगे।

(२) सम्राट की सरकार की इच्छा थी कि निर्वाचन के उपरान्त एक संविधान-निर्मात्री-सभा का निर्माण किया जाय।

(३) निर्वाचन के बाद ही भारतीय राजनीतिक क्रिप्स-योजना अथवा उसके स्थान पर अन्य किसी संभावित योजना पर विचार करेंगे।

(४) देशी राज्यों के साथ भी इस बात पर कि वह विधान-सभा में किस रूप में भाग लेंगे, परामर्श किया जायगा, तथा

(५) ब्रिटिश सरकार तथा ग्रेट ब्रिटेन के मध्य होने वाली सन्धि के उपबन्धों पर विचार करने को तैयार है। इसी दिन इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री एटली ने लन्दन में भी उपर्युक्त आशय की घोषणा की। इससे पूर्व अगस्त मास में ही लॉर्ड वेवेल प्रान्तीय गवर्नरों का सम्मेलन बुला चुके थे जिसमें यह निश्चय किया गया था कि युद्ध समाप्त हो जाने के कारण अब यह आवश्यक नहीं था कि प्रान्तों में भी सन् १९३५ के शासन अधिनियम की धारा ९३ के अनुसार शासन चलता रहे तथा भारत में सार्वजनिक निर्वाचन कराने का निर्णय लिया जा चुका था।

प्रान्तीय गवर्नरों का सम्मेलन

भारत में निर्वाचन

कांग्रेस ने यद्यपि वेवेल घोषणा को अपर्याप्त व अस्पष्ट कहा फिर भी उसने निर्वाचनों में भाग लेना स्वीकार किया। इसने एक बहुत लम्बा निर्वाचन-घोषणा पत्र प्रसारित किया जिसमें अपनी नीति व कार्यों का स्पष्टीकरण किया। इसमें कहा गया कि कांग्रेस भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील है, उसने इसके लिए शक्तिशाली आन्दोलनों का संचालन किया है तथा अपमानजनक व अनुचित माँगों को सदा ठुकराया है। जितना ही सरकार ने उसका दमन किया, उतनी ही वह शक्तिशाली बनती गयी। इस घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया कि कांग्रेस भारत में एक लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना चाहती है, वह नागरिकों के समान अधिकारों में विश्वास करती है, वह संघात्मक शासन की पक्षपाती है जिसमें सम्मिलित इकाइयों को स्वायत्त-शासन प्राप्त हो तथा विधान-सभाएँ वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त के अनुसार संगठित हों। देश में सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता की स्थापना करने के लिए भी घोषणापत्र में कहा तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समस्त राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना पर बल दिया गया।

कांग्रेस-निर्वाचन-घोषणा-पत्र

मुस्लिम लीग ने 'पाकिस्तान के आधार पर निर्वाचनों में भाग लेना निश्चित किया। इसका यह भी कहना था कि यह सभी मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है।

विधान-सभाओं के नवीन निर्वाचन सन् १९४५-४६ के शीत काल में हुए। इसमें कांग्रेस ने सभी साधारण तथा कुछ मुस्लिम स्थानों पर विजय प्राप्त की। मुस्लिम लीग ने ४५९ मुस्लिम स्थानों में से ४४६ सीटें जीत लीं। पंजाब में इसने यूनियनिस्ट दल को, जो कई वर्षों से सत्तारूढ़ था तथा दावा करता था कि वह मुसलमानों का भी प्रतिनिधित्व करता है, हरा दिया। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में मुस्लिम लीग सफलता नहीं प्राप्त कर सकी क्योंकि वहाँ खान-बन्धुओं तथा उनके 'खुदाई खिदमतगारों' का जोर था। जिस समय मन्त्रिमण्डल बने, कांग्रेस ने ११ मे से ७ प्रान्तों में अपने मन्त्रिमण्डल बनाये। मुस्लिम लीग केवल बंगाल तथा सिन्ध में ही अपने मन्त्रिमण्डल बना सकी। पंजाब में मौलाना आजाद के प्रयत्नों से कांग्रेस, अकाली तथा यूनियनिस्ट दल ने संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाया तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त में खुदाई खिदमतगारों ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। इनकी सहानुभूति कांग्रेस के साथ थी।

निर्वाचन-परिणाम

युद्धोपरान्त देश के राजनीतिक वातावरण में अपार परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। नवीन निर्वाचन भी हो चुके थे। अब धीरे-धीरे यह देखने में आ रहा था कि सभी वर्गों में देश को स्वतन्त्र देखने की उत्कट इच्छा थी। सरकारी अधिकारियों की भी मनोवृत्ति में परिवर्तन देखने में आ रहा था। वह भी इसी बीच एक ऐसी परिस्थिति आ खड़ी हुई जिसने देश के राजनीतिक वातावरण में पुनः उत्तेजना भर दी। जापान के आत्म-समर्पण के उपरान्त नेताजी द्वारा स्थापित आजाद हिन्द सेना के सिपाही भी कैद कर लिए गये। उसके प्रमुख अधिकारियों के ऊपर फौजी कानून के अनुसार लाल किले में मुकद्दमा चलाया गया क्योंकि सरकार उन्हें राजद्रोही समझती थी। इस घटना ने समस्त देश में इनके प्रति आदर व सम्मान के भाव जागृत कर दिये। देशवासियों के हृदय में यह भावना थी कि इन वीरों ने देश की स्वाधीनता के लिए साहसपूर्ण प्रयत्न किये थे तथा इनको छोड़ देना चाहिए था। स्थान-स्थान पर प्रदर्शन भी किये गये जिनमें सरकार से इन्हें मुक्त कर देने का आग्रह किया गया। कई जगहों पर जनता के ऊपर लाठियाँ तथा गोलियां चलायी गयीं। कलकत्ते में प्रदर्शन में ४० व्यक्ति मारे गये तथा बम्बई में २३ तथा दोनों स्थानों में ३००-३०० व्यक्ति से अधिक घायल हुए। जिन तीन मुख्य नेताओं पर मुकद्दमा चलाया गया था, वे थे कैप्टन शाहनवाज, कैप्टन जी० के० सहगल तथा लेफ्टिनेंट गुरुबख्शसिंह ढिल्लन। सफाई की तरफ से पं० जवाहरलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू,

देश के राजनीतिक वातावरण में पुनः उत्तेजना

आजादहिन्द सेना के अधिकारियों पर मुकदमा

श्री मूलाभाई देसाई, डॉ० कैलाशनाथ काटजू, रायबहादुर दीवान बद्रीदास, श्री आसफअली, बख्शी सर टेकचन्द्र, कुंवर सर दलीपसिंह आदि नामी नेता तथा वकील थे। श्री मूलाभाई देसाई ने सरकारी गवाहों से जोरदार जिरह तथा सफाई की बहस की। मुसलमानों ने भी इस आंदोलन में सहयोग दिया क्योंकि आजाद हिन्द सेना मे मुसलमानों की संख्या अधिक थी यह मुकद्दमा ६ नवम्बर, सन् १९४५ को शुरू हुआ तथा ३ जनवरी, १९४६ को इसका फैसला प्रकाशित हुआ। फौजी अदालत ने इन्हें आजन्म कारावास का दण्ड दिया तथा उनकी वेतनादि की शेष राशियाँ जब्त कर लेने का हुक्म दिया। जनता की भावनाओं को देखते हुए कमान्डर इन-चीफ ने इनकी सजा माफ कर दी तथा वेतनादि की शेष राशियां जब्त करने की सजा बहाल रखी। देश में कई स्थानों पर इस दण्ड के स्वरूप प्रदर्शन किये गये। अकेले कलकत्ते में ४३ व्यक्ति पुलिस की गोली से घायल हुए। जबलपुर में भी सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। जबलपुर 'इण्डियन आर्मी आॅडिनेंस कोर' का हेड-क्वार्टर था, जहाँ शस्त्रों का बड़ा गोदाम था। पूना में गांधीजी ने सैनिकों को शान्त रहने को कहा। फरवरी, सन् १९४६ के तीसरे सप्ताह में भारतीय नौसेना में तथा वायु सेना के एक भाग ने भी आजाद हिन्द सेना के अधिकारियों से सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए विद्रोह कर दिया। बम्बई के तीन लाइन मजदूरों ने भी इनका साथ दिया। इस स्थिति का सामना करने के लिए अंग्रेजी सेना बुलायी गयी। इसने बम्बई में गोली चलायी जिसके फलस्वरूप लगभग २०० श्रमिक मर गये। करांची में जब नौसेना ने विद्रोह किया तथा अंग्रेजी सेना ने उन पर गोली चलायी तो भारतीयों ने भी प्रत्युत्तर में गोलियाँ चलायीं।

सेना में विद्रोह

भारत में होने वाली इन घटनाओं से ब्रिटिश सरकार उदासीन न रह सकी। सेना की टुकड़ियों का विद्रोह भविष्य के लिए खतरे का संकेत था, अतः इंगलैण्ड में यह अनुभव किया जाने लगा कि भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को और अधिक टाला नहीं जा सकता था।

१३

केबिनेट मिशन और बाद की भारतीय राजनीति

भारत की राजनैतिक स्थिति में जिस तेजी के साथ परिवर्तन होता जा रहा था, उसे ध्यान में रखकर ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री एटली ने १६ फरवरी, सन् १९४६ को इंगलैंड की पार्लियामेन्ट में यह घोषणा की कि केबिनेट के तीन सदस्य इस उद्देश्य से भारत भेजे जायेंगे कि वे भारतीय नेताओं से मिलकर स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में योजना बनायें : १६ मार्च को पुनः पार्लियामेन्ट में उन्होंने एक घोषणा की जिसमें कहा गया कि भारत की परिस्थिति में परिवर्तन हो गया है तथा अब उसके हल के लिए नयी योजना बनानी पड़ेगी। इस घोषणा में भारत की स्वाधीनता के अधिकार को स्वीकार किया गया तथा कहा गया कि सरकार यह भी स्वीकार करती है कि भारत को यह निश्चय करने का भी अधिकार रहेगा कि वह राष्ट्रमण्डल में रहे अथवा उससे सम्बन्ध-विच्छेद करले। यह भी कहा गया कि किसी अल्पसंख्यक-वर्ग को इस बात की छूट नहीं दी जायगी कि वह बहुसंख्यक-वर्ग की राजनैतिक प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाये।

प्रधानमन्त्री एटली की घोषणाएँ

२४ मार्च, सन् १९४६ को तीन केबिनेट-सदस्यों का एक मिशन भारत आया। इसमें भारतमन्त्री लॉर्ड पेथिक लॉरेन्स, व्यापार-मण्डल के प्रधान सर स्ट्रेफॉर्ड क्रिप्स तथा फर्स्ट लॉर्ड ऑफ ऐडमिरेल्टी श्री ए० वी० ऐलेक्जेन्डर थे।

केबिनेट मिशन भारत में

इस मिशन ने २५ मार्च, सन् १९६६ को पत्रकारों के बीच एक वक्तव्य में बताया कि वह खुला मस्तिष्क लेकर आया है तथा किसी भी दृष्टिकोण से बँधा नहीं है। मार्च के अन्तिम सप्ताह में इसने लॉर्ड वेवेल तथा प्रान्तीय गवर्नरों से परामर्श किया तथा १ अप्रैल से १७ अप्रैल तक विभिन्न भारतीय नेताओं के साथ परामर्श किया। इस बीच १८२ बैठकें हुईं तथा मिशन ने ४७२ नेताओं से विचार-विमर्श किया। इसके बाद उन्होंने देश की विभिन्न

परामर्श एवं विचार-विमर्श

विचारधारा के प्रतिनिधियों के साथ सम्मेलन किये तथा ५ मई को कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के चार-चार प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन शिमला में बुलाया।[1] इसका मुख्य उद्देश्य कांग्रेस तथा लीग के बीच समझौता करके कोई निश्चित योजना बनाना था, परन्तु क्योंकि मुस्लिम लीग देश के विभाजन पर अड़ी थी, अतः शिमला-कान्फ्रेन्स में कोई हल नहीं निकल सका; अतः १६ मई को मिशन ने अपनी योजना प्रकाशित कर दी।

शिमला-सम्मेलन भी असफल

केबिनेट मिशन योजना

केबिनेट मिशन योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(१) भारत एक संघ होगा जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त तथा देशी रियासतें दोनों सम्मिलित होंगे। वैदेशिक नीति, रक्षा तथा यातायात विभाग संघ के अन्तर्गत होंगे। अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों को प्राप्त होंगी। देशी राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में वह सब विषय होंगे, जो वह संघ को प्रदान न करें।

(२) संघीय कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतें, दोनों के प्रतिनिधि होंगे। संघीय व्यवस्थापिका में किसी साम्प्रदायिक समस्या पर कोई प्रस्ताव बिना उस प्रस्ताव के सम्बन्धित सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों के बहुमत की स्वीकृति के पास नहीं होगा।

(३) प्रान्तों को अपने-अपने पृथक प्रशासन सम्बन्धी वर्ग बनाने का अधिकार होगा। इस प्रकार के तीन वर्ग होंगे। वर्ग (अ) में मद्रास, बम्बई, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा, (ब) में उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त, पंजाब तथा सिन्ध; तथा (स) में बंगाल व आसाम होंगे। इन वर्गों को यह निश्चय करना था कि प्रान्तों के लिए सामूहिक विधान की व्यवस्था की जाय अथवा नहीं तथा

---

1 शिमला-सम्मेलन के पूर्व केबिनेट मिशन के विचारों तथा कांग्रेस व अन्य संस्थाओं व वर्गों के विचारों से मिस्टर जिन्ना सहमत नहीं थे। वे देश के विभाजन की रट लगाये हुए थे और सिद्धान्ततः जब तक यह स्वीकार नहीं कर लिया जाता, वे किसी भी सहयोग के लिए तैयार न थे। शिमला-सम्मेलन की भी असफलता का कारण यही है। केबिनेट मिशन के सदस्य देश के विभाजन की योजना से सहमत नहीं थे; अतः उन्होंने अपनी ही एक योजना का प्रकाशन कर दिया। यहाँ पर मुस्लिमों के एक सम्मेलन का जिक्र आवश्यक है जो केबिनेट मिशन की भारत-यात्रा के दौरान में देहली में हुआ था और जिसका एकमात्र उद्देश्य केबिनेट मिशन पर यह प्रभाव डालना था कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था है और यदि दो-राष्ट्र-सिद्धान्त नहीं माना गया तो इसका परिणाम भयंकर होगा। यह सम्मेलन १० अप्रैल को देहली में हुआ था। श्री सुहरावर्दी ने इस सम्मेलन में कहा कि मुस्लिम राष्ट्र अभी मरा नहीं है और विरोध केवल शब्दों से नहीं होगा।" यहाँ तक ऐसे भाषण इस सम्मेलन में हुए जिसमें चंगेजखाँ और हलाकू की परम्पराओं का पुनरावर्तन करने की बात कही गयी।

यदि ऐसा किया जाय तो वर्ग को किन विषयों का प्रबन्ध सौंपा जाय। भारत-मन्त्री लॉर्ड पेथिक लॉरेन्स के विचार में इस योजना में तीन स्तरों के संविधान की कल्पना की गयी। इसमें सबसे ऊपर भारत संघ था, सबसे नीचे प्रान्त। उन्होंने कहा, 'इसके अतिरिक्त हम यह भी सोचते हैं कि प्रान्त वर्गों के रूप में इसलिए एक साथ संगठित होना चाहेंगे कि सामूहिक रूप से वे एक प्रान्त की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र की सेवाओं का संचालन कर सकें।" प्रान्तों को स्वेच्छा से अपने समूह से निकल जाने का भी अधिकार प्रदान किया गया। वर्ग में सम्मिलित होने का निर्णय नवीन संविधान के अन्तर्गत प्रथम निर्वाचन होने के उपरान्त नवगठित प्रान्तीय विधान-मण्डलों को करना था।

(४) संविधान का निर्माण करने के लिए एक संविधान-सभा बनेगी। इसमें जनसंख्या के अनुसार प्रत्येक प्रान्त को स्थान दिये जायेंगे। अनुमानतः प्रत्येक दस लाख जनसंख्या पर संविधान-सभा में एक सदस्य निर्वाचित होना था। अल्पसंख्यकों के लिए सभी रियायतें समाप्त कर दी जानी थीं तथा केवल तीन प्रकार के निर्वाचक-समूह बनने थे—हिन्दू, मुसलमान तथा सिक्ख (केवल पंजाब में)।

(५) प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों के सहयोग से एक आन्तरिक सरकार की स्थापना होनी थी जो वायसराय की अध्यक्षता में कार्य करती।

(६) भारतीय संविधान-सभा तथा ब्रिटेन के मध्य सत्ता के हस्तान्तरण के फलस्वरूप उठने वाले मामलों के सम्बन्ध में एक सन्धि होगी। इस योजना में यह आशा व्यक्त की गयी कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का एक सदस्य बना रहेगा तथा उसे पृथक् होने का भी अधिकार प्राप्त होगा।

(७) ब्रिटिश सरकार संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान को कार्यान्वित करेगी।

(८) भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित करने के उपरान्त ब्रिटेन के लिए देशी रियासतों पर 'सर्वोपरिता' रखना कठिन होगा, परन्तु यह नवीन सरकार को भी नहीं दी जायगी।

कैबिनेट मिशन ने भारत का विभाजन करने के प्रश्न पर भी विचार किया तथा निम्न कारणों से विभाजन को अस्वीकार किया :

भारत-विभाजन से असहमति

(१) मुस्लिम लीग द्वारा प्रस्तावित पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों की संख्या अधिक थी—पहले में ३७·९% तथा दूसरे में ४८·३%। पंजाब में मुसलमानों की संख्या लगभग १ करोड़ ६० लाख थी तथा गैर-मुसलमानों की लगभग १ करोड़ १२ लाख। बंगाल में मुसलमानों की संख्या ३ करोड़ ३० लाख तथा गैर-मुसलमानों की २ करोड़ ७० लाख से अधिक; आसाम में, मुसलमानों की संख्या गैर-मुसलमानों की अपेक्षा

३० लाख कम थी। मिशन का विचार था कि देश का विभाजन करने से अल्प-संख्यकों की समस्या का उचित हल नहीं निकलेगा।

(२) बंगाल तथा पंजाब का विभाजन, उन प्रान्तों की जनसंख्या के एक बड़े भाग की इच्छा के विरुद्ध था।

(३) प्रशासकीय, आर्थिक तथा सैनिक समस्याएं भी विभाजन के मार्ग में बाधाएं थीं। विभाजन होने पर सुरक्षा तथा डाक-तार की समस्त व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती।

(४) देशी राज्यों के लिए भी विभाजित भारत से सहयोग करना कठिन हो जाता।

(५) प्रस्तावित पाकिस्तान के पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्रों में ७०० से अधिक मील की दूरी थी।

प्रान्तों के वर्गीकरण पर कांग्रेस व लीग में विरोध

केबिनेट मिशन योजना का सर्वाधिक विवादास्पद पहलू प्रान्तों का वर्गों में संगठित होने के सम्बन्ध में था। इस सम्बन्ध में योजना की भाषा भी अस्पष्ट थी। कांग्रेस का मत था कि वर्ग में सम्मिलित होना अथवा उसे छोड़ना ऐच्छिक था तथा वर्गीय संविधान का निर्माण होने पर प्रान्त उसमें रहने अथवा नहीं रहने के लिए स्वतन्त्र थे। मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण था कि प्रान्तों का वर्ग में सम्मिलित होना अनिवार्य था तथा वर्ग के निर्णयों को प्रान्तों के लिए मानना आवश्यक था। ब्रिटिश सरकार का मत मुस्लिम लीग से मिलता-जुलता था।

मूल्यांकन

यह योजना कांग्रेस व मुस्लिम लीग की माँगों का समन्वय थी। कांग्रेस की माँग थी—एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना हो तथा भारत का विभाजन नहीं हो। इस योजना ने कांग्रेस की अखण्ड भारत की माँग मान ली। मुस्लिम लीग को सन्तुष्ट करने के लिए इस योजना में कहा गया कि साम्प्रदायिक प्रश्नों के समझौते के लिए दोनों जातियों का पृथक् बहुमत आवश्यक था। प्रान्तों का अनिवार्य वर्गीकरण होना था तथा प्रत्येक वर्ग को अपना संविधान निर्मित करने का अधिकार था अर्थात् यह पाकिस्तान की माँग के बराबर था क्योंकि वर्ग (ब) तथा (स) में मुस्लिम जनता का बहुमत था तथा इनमें शासन भी मुस्लिम बहुमत के आधार पर होता।

इस योजना के अनुसार साम्प्रदायिक रियायतें समाप्त कर दी गयी थीं। अब केवल तीन निर्वाचक-समूह रह गये थे तथा योरोपियन, ऐंग्लो-इण्डियन, ईसाई, आदि अनेक वर्गों को, जिन्हें पहले पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया, उनके लिए अब यह रियायत समाप्त कर दी गयी। ब्रिटिश सरकार ने इस योजना के द्वारा पहली बार देशी रियासतों को अपने राजनीतिक भाग्य के निर्णय करने का अधिकार प्रदान किया। प्रस्तावित संविधान-सभा के सभी सदस्य भारतीय होने थे तथा

प्रान्तीय विधान-सभाओं के योरोपियन सदस्यों को संविधान-सभा के निर्वाचनों में भाग नहीं लेना था। इस योजना के फलस्वरूप जो अन्तरिम सरकार बननी थी, उसे दिन-प्रति-दिन प्रशासन में पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की गयी थी तथा सभी विभाग भारतीयों को सौंपे जाने का निश्चय कर दिया गया था।

इस योजना के प्रकाशन से मिश्रित प्रतिक्रिया देश में दिखायी देने लगी। केबिनेट मिशन योजना में वर्गीकरण-प्रणाली का समावेश मुस्लिम लीग की पाकिस्तान के मांग के अनुरूप थी। दूसरी ओर, जैसा उल्लेख किया जा चुका है कि देश के विभाजन को प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार न कर कांग्रेस को प्रसन्न रखने की चेष्टा की गयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य पूर्व प्रकाशित योजनाओं की अपेक्षा केबिनेट मिशन योजना प्रगतिशील और महत्वपूर्ण थी। स्वयं गांधीजी ने मिशन योजना की प्रशंसा करते हुए कहा कि परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इससे अच्छी योजना नहीं हो सकती थी।[1] परन्तु यही सब कुछ नहीं था। कांग्रेस ने इसकी आलोचना में कहा कि इसमें प्रस्तावित केन्द्रीय शासन अत्यन्त निर्बल शासन होगा। शासन-सत्ता का इतना अधिक असन्तुलित विकेन्द्रीकरण देश में अराजकता तथा भयंकर आर्थिक अव्यवस्था पैदा कर देगा।[2] इसके अलावा गवर्नर-जनरल का स्वरूप इस योजना में नाममात्र का संवैधानिक शासक का नहीं, अपितु कार्यशील अध्यक्ष का था और कई अंगों में (संघ के) प्रजातान्त्रिक शासन अनिवार्य नहीं था। एक और असंगत बात यह थी कि अस्थायी सरकार में लीग तथा कांग्रेस का समानुपात था। यह प्रस्ताव "न तर्कयुक्त था, न उचित और न जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों के अनुरूप ही।"[3] कांग्रेस ने अपने सूचना-पत्र में प्रतिपादित किया कि "प्रतिबन्धों, आरक्षणों, अभिरक्षणों तथा वर्गहितों के सन्तुलन के (इस) वन में स्वतन्त्र भारत का स्पष्ट चित्र ही नही दिखायी पड़ता था।"[4]

आलोचना

---

1 *Mahatma Gandhi opined that the Cabinet Mission Plan is* "the best document the British Government could have produced in the circumstances."

2 केन्द्रीय शासन की निर्बलता का कारण यह था कि उसका अधिकार केवल विदेश, रक्षा तथा यातायात सम्बन्धी विषयों तक ही था। करेंसी, बैंकिंग, कस्टम्स, माप एवं भारदण्ड, योजना तथा विकास, मुद्रा, विनिमय इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों पर उसका कोई अधिकार नही रखा गया था।

3 "The suggestion for parity between the Congress and the League in the Interim Government was "neither common sense, nor justice, nor equity, nor democracy."

4 *"In the jungle of restrictions, reservations, safeguards and the balancing of one interest against another it is difficult to visualise a clear and complete picture of a free and independent India."*

परन्तु इन आलोचनाओं के स्वरों के बावजूद भी प्राय: सभी दलों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने १४ जून को योजना स्वीकृत कर दी।

योजना स्वीकार्य

मुस्लिम लीग ने भी यद्यपि इस योजना की कटु आलोचना की, परन्तु इसे स्वीकार कर लिया। सिक्खों का यह कहना था कि इस योजना ने उन्हें मुसलमानी बहुमत-वर्ग के बीच छोड़ दिया था, जिससे उन्हें डर था कि उनके हितों की उपेक्षा हो परन्तु कांग्रेस के यह आश्वासन देने पर कि उनके न्यायपूर्ण हितों की उपेक्षा नहीं की जायगी उन्होंने भी योजना स्वीकार कर ली।

हिन्दू महासभा का कहना था कि इस योजना ने भारत की अखण्डता को केवल सैद्धान्तिक रूप में ही स्वीकार किया था। उसने प्रांतों के वर्गीकरण का विरोध किया क्योंकि इससे देश के विभाजन होने का डर था।

संविधान-सभा का निर्वाचन

जुलाई सन् १९४६ में केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित संविधान-सभा के लिए निर्वाचन हुए। इसमें कांग्रेस ने २१० साधारण स्थानों में से १९९ स्थान जीत लिए तथा ब्रिटिश भारत के लिए नियत कुल २९६ स्थानों में से कांग्रेस ने २११ तथा मुस्लिम लीग ने ७३ स्थान प्राप्त किये। मिस्टर जिन्ना ने जब यह देखा कि कांग्रेस ने भारी बहुमत प्राप्त किया था तो उन्हें घोर निराशा हुई तथा मुस्लिम लीग ने यह योजना अस्वीकृत कर दी। कांग्रेस लीग का सहयोग प्राप्त करना चाहती थी, अत: उसने प्रांतीय वर्गों के सम्बन्ध में ६ जून को प्रसारित सरकारी घोषणा भी मान ली, जिसमें कहा गया था कि प्रांतों का वर्गीकरण इस योजना का एक अनिवार्य तत्व था तथा यदि किसी कारणवश कोई सर्वसम्मत समझौता नहीं हो सका तो इसका निर्णय, उसके प्रतिनिधियों के बहुमत द्वारा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सरकार ने यह भी घोषणा की थी कि "यदि ऐसी संविधान-सभा जिसमें भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग शामिल नहीं है, कोई संविधान बनाये तो सम्राट की सरकार भारत के अनिच्छुक हिस्सों पर उसे बलपूर्वक लागू नही करेगी।" संविधान-सभा की प्रथम बैठक ९ दिसम्बर को हुई जिसमे मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों ने भाग नहीं लिया। मिस्टर जिन्ना पाकिस्तान के लिए एक पृथक् संविधान-सभा की मांग करने लगे।

अन्तरिम सरकार का निर्माण

इसी बीच वायसराय इस बात के इच्छुक थे कि केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत एक अन्तरिम सरकार का निर्माण किया जाय। जिस समय अन्तरिम सरकार के गठन पर बातचीत होने लगी, इस प्रश्न पर कि उसमें कौन शामिल हों, कोई समझौता न हो सका। १६ जून १९४६ को लार्ड वेवेल ने एक वक्तव्य निकाला जिसके अनुसार उन्होंने अन्तरिम सरकार में कांग्रेस के ६, मुस्लिम लीग

के ५ तथा अन्य अल्पसंख्यकों के तीन प्रतिनिधियों (१ सिक्ख, १ पारसी, १ ईसाई) को रखने की घोषणा की। मन्त्रियों के मध्य विभागों का वितरण वायसराय द्वारा प्रमुख राजनीतिक दलों के परामर्शानुसार होना था। कांग्रेस ने यह माँग की कि उसे अपने प्रतिनिधियों में एक राष्ट्रीय मुसलमान को रखने का अधिकार मिले। मुस्लिम लीग ने इसका विरोध किया तथा बाद में कांग्रेस ने सरकार में शामिल होने से इन्कार कर दिया। २९ जून को वायसराय ने एक 'कामचलाऊ सरकार' की स्थापना की घोषणा कर दी। २२ जुलाई को वायसराय ने कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के पास एक नवीन योजना भेजी। इसके अनुसार अन्तर्कालीन सरकार के सदस्यों की संख्या १४ होनी थी जिसमें ६ कांग्रेसी प्रतिनिधि (जिसमें एक दलित-वर्ग का सदस्य होना था; ५ मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि तथा अल्पसंख्यक-वर्ग के तीन प्रतिनिधि होने थे। कांग्रेस अपनी संख्या में से राष्ट्रवादी मुसलमान चुन सकती थी। मुस्लिम लीग ने कांग्रेस द्वारा राष्ट्रीय मुसलमान सदस्य की नियुक्ति का विरोध किया तथा प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। वायसराय ने बिना मुस्लिम लीग के ही सरकार बनाने का निश्चय किया। इस बीच मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण के लिए 'डायरेक्ट एक्शन' शुरू करने की योजना बनाई। मुस्लिम लीग

मुस्लिम लीग की सीधी कार्यवाही

का कहना था कि कांग्रेस की हठधर्मी तथा सरकार द्वारा मुसलमानों के साथ जो विश्वासघात किया जा रहा था, उसे हल करने के लिए लीग ने वैधानिक उपायों से काम लिया था, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली थी तथा वह अब प्रत्यक्ष कार्यवाही की योजना तैयार कर रही थी। वास्तव में यह कार्यवाही सरकार के विरुद्ध न होकर गैर-मुस्लिमों के विरुद्ध होनी थी। लीग ने १६ अगस्त इस कार्यवाही के लिए निश्चित किया। पंजाब, कलकत्ते तथा पूर्वी बंगाल में इस कार्यवाही के फलस्वरूप बहुत दंगा मच गया: सैकड़ों व्यक्ति मारे गये। जब ३ सितम्बर को जवाहरलालजी तथा उनके साथियों[1] ने वायसराय की कार्यकारिणी की हैसियत से शपथ ली तो मुस्लिम लीग ने पुनः प्रत्यक्ष कार्यवाही की। यह दिन 'मातम दिवस' मनाया गया तथा भारत में एक भयंकर गृहयुद्ध का प्रारम्भ हो गया। नोआखाली तथा टिपरा में हिन्दुओं पर बहुत

1 इसमें ५ कांग्रेसी हिन्दू, १ कांग्रेसी मुसलमान, २ गैर-कांग्रेसी मुसलमान, १ अकाली सिक्ख, १ गैर-कांग्रेसी ईसाई, १ कांग्रेसी हरिजन, १ गैर-कांग्रेसी पारसी थे: सदस्यों के नाम इस प्रकार हैं: पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद, श्री आसफअली, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री शरतचन्द्र बोस, डॉक्टर जान मथाई, सरदार बल्देवसिंह सर शफातअहमदखाँ, श्री जगजीवनराम, सैयद अलीजहीर तथा श्री सी० एच० भाभा। वायसराय ने यह भी घोषणा की थी कि कि मुसलमान इसमें और शामिल किये जायेंगे।

अत्याचार किया गया। देश में कई स्थानों पर इसकी प्रतिक्रिया भी हुई। गांधीजी ने नोआखाली में शान्ति के लिए यात्रा की तथा देशवासियों से शान्ति रखने की अपील की।

अब मुस्लिम लीग ने देखा कि अन्तरिम सरकार कुशलतापूर्वक काम कर रही थी, तथा संवैधानिक गतिरोध का कुछ निदान निकल आया था, तो उसने यह महसूस किया कि उसके हाथ में कुछ भी अधिकार नहीं आये थे। २६ अक्टूबर को लीग ने अन्तरिम सरकार में भाग लेना स्वीकार किया। इसके पांच सदस्य, नवाबजादा लियाकत-अलीखां, मिस्टर चुन्द्रीगर, मिस्टर अब्दुलरबनिश्तर, मिस्टर गजनफरअलीखां तथा श्री जोगेन्द्रनाथ मण्डल सरकार में सम्मिलित हुए। तीन सरकारी सदस्यों श्री शरतचन्द्र बोस, श्री अलीजहीर तथा सर शफातअहमदखां को त्याग पत्र देना पड़ा। मुस्लिम लीग का इस सरकार में सम्मिलित होने का मुख्य उद्देश्य अपनी स्थिति को दृढ़ करना, पाकिस्तान की मांग मनवाना तथा सरकारी कार्यों में रोड़ा अटकाया था। मुस्लिम लीग ने जब सरकार में प्रवेश किया तो सरकार जिस 'टीम' भावना से काम कर रही थी, वह नष्ट हो गयी। शीघ्र ही कांग्रेस व लीग में अन्तरिम सरकार की नीतियों के सम्बन्ध में मतभेद हो गया। कांग्रेस की धारणा थी कि यह एक मन्त्रि-परिषद के समान है तथा यद्यपि सरकारी पत्रों में इसके लिए 'मन्त्रि-परिषद' शब्द प्रयोग होने लगा था, परन्तु मुस्लिम लीग का मत था कि यह सन् १९३५ के अधिनियम की वायसराय की कार्यकारिणी-समिति के समान थी। उसने कभी भी इस बात का प्रयत्न नहीं किया कि सबसे सहयोग कर शासन चलाया जाय तथा ऐसी नीति प्रस्तावित की जाय जो सभी सदस्यों को मान्य हो। भारत में मुस्लिम लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही के कारण साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गये थे। इन्हें सरकार मुस्लिम लीग की असहमति-नीति के कारण दबाने में असमर्थ हो रही थी। मुस्लिम लीग ने संविधान-सभा का भी बहिष्कार कर रखा था परन्तु वह अन्तरिम सरकार में भाग ले रही थी। उसके प्रतिनिधि १४ अगस्त, सन् १९४७ तक अन्तरिम सरकार में रहे जिसके पश्चात् उसने पाकिस्तान में अपनी पृथक सरकार बनायी।

मुस्लिम लीग का सरकार में प्रवेश

पाकिस्तान के लिए आन्दोलन

यहाँ यह जानना भी असंगत न होगा कि पाकिस्तान का जन्म देने वाले क्या कारण थे तथा उसकी स्थापना के लिए मुस्लिम लीग ने क्या प्रयत्न किये। इस बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि अंग्रेजों ने किस प्रकार मुसलमानों को कांग्रेस के विरुद्ध उभाड़ कर अपने हितों की पूर्ति करनी चाही थी। उन्होंने मुसलमान सदस्यों में जो पृथकता की भावना भरी, वह सर्वदा बढ़ती गयी जिसका फल देश का विभाजन हुआ। प्रारम्भ में तो मुसलमानों की मांग यही थी कि पृथक्-निर्वाचन मण्डल हों तथा व्यवस्थापिका में उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व मिले तथा लोक-सेवाओं

में उनके लिए संरक्षण हो। कांग्रेस यद्यपि इन माँगों को अनुचित समझती थी, फिर भी वह इन्हें मानने को तैयार थी। सन् १६३५ तक लीग ने पाकिस्तान की माँग के लिए आन्दोलन नहीं किया था। जब द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन में भी पृथक् मुस्लिम राज्य स्थापित करने की चौधरी रहमतअली की योजना का जिक्र आया तो इसे मुस्लिम प्रतिनिधियों ने अव्यवहार्य बताया। सन् १६३५ के संविधान के भी विरोध का आधार यह नहीं था कि उसने पृथक् मुसलमानी राज्य की व्यवस्था नहीं की थी, वरन् यह कि प्रस्तावित सुधारों से वास्तविक उत्तरदायी शासन की स्थापना होना सम्भव नहीं था। जब सन् १६३७ में प्रान्तों में निर्वाचन हुए तो मुस्लिम लीग ने जो माँगें की थीं, उनकी भी चर्चा यथास्थान हो चुकी है। लीग की अब तक पृथक् मत, पृथक्-निर्वाचक-मण्डल, वैधानिक रक्षाकवच की माँग पूरी हो चुकी थी। उसके पास कोई सामाजिक अथवा आर्थिक कार्यक्रम तो था नहीं, तथा लीग को जीवित रहना था। वह हिन्दू तथा मुसलमानों के मध्य तनाव पैदा करके ही मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त कर सकती थी तथा इसी कारण पाकिस्तान का नारा लगाया गया। इसी बीच सावरकर तथा अन्य हिन्दू नेता हिन्दू राष्ट्र का स्पष्ट तौर पर प्रचार करने लगे थे तथा वह कांग्रेस को हिन्दू-हितों की विरोधी घोषित कर रहे थे। हिन्दु-सभाई नेता खुले आम ऐसे भाषण देने लगे थे जिससे यह प्रतीत होने लगा था कि संयुक्त भारत में रहने पर सम्भवतया मुसलमानों के अधिकार सुरक्षित न रहें। मुसलमानों को कहा गया कि वह इस देश में अल्पसंख्यक वे तथा उनके लिए उज्ज्वल भविष्य नहीं था। यद्यपि यह प्रचार मुसलमानों के प्रचारों की प्रतिक्रिया के रूप में था, फिर भी इसने मुसलमानों की पृथक्वादी भावनाओं को उभाड़ा। मुसलमान अब यह समझने लगे कि उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति केवल एक पृथक मुस्लिम राज्य की स्थापना होने पर ही हो सकती है।

हिन्दू राष्ट्रवाद का नारा

कांग्रेस के 'जन-सम्पर्क-कार्यक्रम ने, जो सन् १६३७ में निर्वाचनों के पहले तथा बाद में चलाया गया, भी मुसलमानों को विद्रोही बनाया। कांग्रेस का कहना था कि देश की मुख्य समस्या साम्प्रदायिक नहीं अपितु आर्थिक है तथा उसने मुसलमानों को मिलाने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में कुछ मुसलमान कांग्रेस की तरफ खिंच भी आए क्योंकि लीग के पास जन कल्याण की कोई स्पष्ट योजना नहीं थी। मुस्लिम लीग ने इस कार्यक्रम को अपने अस्तित्व के लिए एक चुनौती समझा तथा जिन्ना ने मुसलमानों में प्रचार शुरू कर दिया कि कांग्रेस मुसलमानों में फूट डालकर लीग को कमजोर करना चाहती थी।

कांग्रेस का जन-सम्पर्क आन्दोलन

उसने 'इस्लाम खतरे में' नारा लगाकर मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने के लिए आन्दोलन शुरू किया तथा कांग्रेस की निन्दा करते हुए उसे तानाशाही बताया। लीग ने उन प्रान्तों में, जहाँ कांग्रेस

लीग का कांग्रेस विरोधी आन्दोलन

सरकार बन गयी थी, मुसलमानों के ऊपर हिन्दुओं के कल्पित अत्याचार का ढिंढोरा पीट कर भी मुसलमानों में पृथक होने की भावना का संचार किया। पाकिस्तान की माँग करने में मुस्लिम लीग चेकोस्लोवाकिया के 'सुदेतन आन्दोलन' से भी प्रभावित हुई। उनका कहना था कि सुदेतन जर्मन तथा चेकों में जितना भेद था, उतना ही भारत में हिन्दू व मुसलमानों में था। अन्त में यह भी कह देना चाहिए कि पाकिस्तान की मांग करने में अंग्रेजों ने लीग को उत्साहित किया था। शुरू से ही उन्होंने 'फूट डालो तथा राज्य करो' की नीति अपनायी थी। पाकिस्तान का विचार, पटवर्द्धन तथा मेहता के विचारों में कुछ नया नहीं था।[1] सन् १९३९ में एडवर्ड थॉमसन ने भी इस बात को बड़े विस्मय के साथ देखा कि कुछ सरकारी पदाधिकारी पाकिस्तान की माँग से सहानुभूति रखते थे। मिस्टर एमरी भी समय-समय पर हिन्दू व मुसलमानों के मध्य भेद उल्लेख बड़े जोर शोर से किया करते थे। क्रिप्स प्रस्ताव ने भी भारत-विभाजन को साम्प्रदायिक समस्या का हल स्वीकार किया था।

मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग तथा द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त मुख्यतया सन् १९३७ से १९४० के मध्य विकसित हुआ। जॉन स्टुअर्ट मिल का यह कथन था 'कि राज्य का क्षेत्र साधारण तथा जातीयता के क्षेत्र के अनुरूप होना चाहिए।'

द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त

प्रथम महायुद्ध के बाद योरोप में यह सिद्धान्त बहुत ही मान्य था तथा विलसन के '१४ सिद्धान्तों' का भी आधार था। इस सिद्धान्त के पक्ष में जो तर्क दिए गए हैं, उन्हें मुस्लिम लीग ने भी दोहराया था कि (अ) स्वतन्त्र राज्य उस जाति के धर्म, संस्कृति व भाषा के विकास में अत्यन्त सहायक होता है तथा (ब) ऐसे राज्य में अन्तर्जातीय द्वेष व झगड़े आदि नहीं होते हैं तथा न ही बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों के शोषण की कोई सम्भावना रहती है।

पाकिस्तान की स्थापना का विचार सर्व प्रथम सर मोहम्मद इकबाल ने दिसम्बर सन् १९३० में इलाहाबाद में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में रखा। इकबाल साहब जो पहले तो राष्ट्रवादी विचारों के थे तथा उनकी कविता "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" इसका प्रमाण है पर कालान्तर में वह सम्प्रदायवादी बन गए। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि भारत में जहाँ अनेक जातियों एवं धर्मों के लोग रहते हैं "योरोपीय प्रजातन्त्र" नहीं स्थापित किया जा सकता। उन्होंने कहा कि पंजाब, उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त, सिन्ध तथा बिलोचिस्तान को एक मुस्लिम राज्य के रूप में गठित कर देना चाहिए, यह स्वशासित मुस्लिम राज्य भारत के भीतर अथवा बाहर, रह सकता था। पर वह इसे चाहते थे कि भारत से पृथक न रहें तथा एक केन्द्रीय संघ इकाई के रूप में रहे। संघ की शक्तियाँ कम से कम होती थीं तथा वह अवशिष्ट शक्तियाँ भी इकाइयों को सौंपने के पक्ष में थे। वह प्रान्तों द्वारा सेना के संगठन के पक्ष में थे।

---

1 Communal Triangle, p. 78.

सन् १९३३ में कैम्ब्रिज विश्व विद्यालय में पढ़ने वाले कुछ मुस्लिम विद्यार्थियों ने एक नई योजना प्रस्तुत की। उनके नेता चौधरी हिम्मत अली ने कहा कि पाकिस्तान की स्थापना पंजाब, बिलोचिस्तान, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, काश्मीर व सिन्ध को मिलाकर करनी चाहिए तथा बंगाल व आसाम को मिलाकर 'बंगेइस्लाम' की स्थापना की जाय। सर मोहम्मद जफरुल्ला ने इसे अव्यवहारिक एवं काल्पनिक बताया।[1] सन् १९३८ में मिस्टर जिन्ना ने भी सिन्ध प्रान्तीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन में पाकिस्तान की मांग की। इसके बाद २३ मार्च सन् १९४० को उन्होंने मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत कराया। इस प्रस्ताव में मांग की गयी थी कि भारत के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी क्षेत्र जैसे मुस्लिम बहुल प्रान्तों को मिलाकर एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित करना चाहिए।" अपने भाषण में मिस्टर जिन्ना ने कहा, "राष्ट्र की किसी भी मुसलमान एक राष्ट्र है, अतः उनका अपना प्रदेश तथा राज्य होना चाहिए।

मिस्टर जिन्ना का मत था कि भारत की समस्या एक साम्प्रदायिक समस्या नहीं अपितु एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या थी। उनका कहना था कि यदि ब्रिटिश शासन भारतीय जनता की शान्ति और भलाई का इच्छुक था तो उसके लिए केवल एक मार्ग था कि वह भारत के मुख्य राष्ट्रों को पृथक-पृथक क्षेत्र सौंप दें तथा इन क्षेत्रों के अलग-अलग राज्य बना दें। उनका कहना था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों की सभ्यता भिन्न थी तथा दोनों के मध्य जो एकता कही जाती है वह कृत्रिम है तथा अंग्रेजों के समय से प्रारम्भ हुई है तथा अंग्रेजों ने सैनिक शक्ति के बल पर इसे बनाए रखा है। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि अल्प मतों की इच्छा के विरुद्ध हिन्दू मुसलमानों को एक ही प्रजातांत्रिक पद्धति में रखा गया तो वह वास्तव में हिन्दू राज्य होगा और कांग्रेसी प्रजातन्त्र से इस्लाम नष्ट हो जायगा।[2]

पाकिस्तान की स्थापना सम्बन्धी जो प्रस्ताव मुस्लिम लीग ने पास किया उसका मुख्य अंश इस प्रकार है :

"अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के इस अधिवेशन का यह दृढ़ विचार है कि कोई भी संवैधानिक योजना इस देश में काम में नहीं लाई जा सकती और न मुसलमान उसे स्वीकार कर सकते हैं यदि वह नीचे लिखे मूल सिद्धान्तों पर आधारित न होगी—

भौगोलिक दृष्टि से मिली हुई इकाइयों को विभिन्न क्षेत्रों में बाँट दिया जाय और इन क्षेत्रों को इस प्रकार संगठित किया जाय कि जिन क्षेत्रों में मुसलमानों का बहुमत है जैसे कि भारत के उत्तर-पश्चिम और पूर्वी प्रान्त हैं, उनको स्वतन्त्र

1 *P. R. Sethi* : The last phase of. British Sovereignty in India (1919-47), p. 105.

2 Gwyer. *Sir Maurice* and *Appadorai* : Speeches and Documents on the Indian Constitution , Vol. II pp. 440-442.

राज्यों में संगठित कर देना चाहिए जिनमें इकाइयों को पूर्ण स्वतन्त्रता और सार्वभौम सत्ता प्राप्त हो ।"[1]

इसके कुछ दिनों बाद एसोसियेटेड प्रेस ऑफ अमेरिका को एक भेंट में बताया कि पाकिस्तान एक जनतंत्रात्मक संघीय राज्य होगा जिसमें पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बिलोचिस्तान, सिंध, पंजाब, तथा पूर्व में बंगाल तथा आसाम सम्मिलित होंगे। मुसलमानों ने अलग राष्ट्र के लिए अपनी माँग बराबर रखी तथा जब कभी भी संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए कोई प्रयत्न किये गये, पाकिस्तान की माँग ने उन्हें हमेशा ही असफल कर दिया। क्रिप्स-प्रस्ताव तथा राजगोपालाचारी फार्मूला, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, ने भी पाकिस्तान की माँग को स्वीकार किया।

मुस्लिम लीग द्वारा द्वि-राष्ट्र के सिद्धान्त की माँग करना एक राजनीतिक मूर्खता थी। इसका कहना था कि हिन्दू व मुसलमान धर्म, सामाजिक रीतिरिवाजों, दर्शन, साहित्य आदि दृष्टियों से पृथक-पृथक हैं। दोनों के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोणों में अन्तर है। उनका इतिहास अलग है तथा उनमें किसी दृष्टि से भी समानता नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के अधीन कर दिया जायगा तो उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का विनाश हो जायगा। अलीगढ़ के अफजलहुसैन कादरी तथा जफरुलहसन ने यह दावा किया था कि भारत के मुसलमान स्वतः एक राष्ट्र हैं तथा हिन्दुओं तथा गैरमुसलमानों से उनका राष्ट्रीय अस्तित्व भिन्न था।

मुस्लिम लीग यह समझती थी कि पाकिस्तान का निर्माण अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय था परन्तु यह धारणा दूरदर्शितापूर्ण नहीं थी। लीग ने कभी यह विचार नहीं किया कि पाकिस्तान की स्थापना के बाद भी भारत में कुछ मुसलमान रह जायेंगे तथा उनकी समस्या का क्या हल होगा, अथवा पाकिस्तान में भी कुछ गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक बच रहते तथा उनके सम्बन्ध में क्या निश्चित होना था। यदि इन प्रश्नों का कोई उचित हल निकल सकता था तो भारत में मुस्लिम अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए भी कोई हल नहीं निकल सकता था। डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि राष्ट्रीय राष्ट्र तथा राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग दोनों में परस्पर विरोध होता है। पाकिस्तान की माँग करते हुए मुस्लिम लीग यह भी भूल गयी कि वर्तमान काल में राष्ट्रीयता राज्य के लिए आधार प्रदान नहीं करती है। रूस तथा स्विटजरलैण्ड बहुराष्ट्रीय राज्य हैं परन्तु इनमें ऐसी समस्या कभी नहीं उठी जैसी भारत में। यदि स्विटजरलैण्ड में भी अनेक धर्म, जाति तथा भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले बड़ी शांति से रह सकते हैं तो क्या कारण है कि भारत में हिन्दुओं तथा मुसलमानों की समस्या नहीं सुलझ सकती थी।

---

1 Speeches and Documents on the Indian Constitution, Vol. II p. 443,

अंग्रेजों के भारत छोड़ने की घोषणा

भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ने जो गृह-युद्ध पैदा कर दिया था, उसे देखते हुए अंग्रेजों ने यह विचार किया कि सारी परिस्थिति उनके काबू से बाहर निकलती जा रही थी तथा यदि शीघ्र ही कुछ निर्णय नहीं किया गया तो भारत की हालत और खराब हो जाएगी। ब्रिटिश-प्रधानमन्त्री ने २० फरवरी, सन् १९४७ को यह घोषणा की कि "सम्राट की सरकार अपने इस निश्चय को स्पष्टतया सूचित कर देना चाहती है कि वह जून सन्, १९४८ तक जिम्मेदार भारतीयों के हाथ में शासन-शक्ति को सौंप देगी।" इसके साथ ही यह भी कहा गया कि "यदि जून, सन् १९४८ तक किसी पूर्ण प्रतिनिधि संविधान-सभा द्वारा संविधान का निर्माण नहीं हुआ तो ब्रिटिश सरकार इस बात पर विचार करेगी कि निश्चित तिथि को केन्द्रीय शासन किसे सौंपे तथा इस बात का भी निश्चय करेगी कि भारतीयों के हित में समस्त भारतीय शासन को वह एक ही शक्ति को सौंप दे अथवा उसके (ब्रिटिश भारत) कुछ क्षेत्र वर्तमान प्रान्तीय शक्तियों के हाथ में ही सौंप दे।" उनका कहना था कि अनिश्चित की वर्तमान दशा खतरे से भरी थी तथा और अधिक इसे टाला नहीं जा सकता था। इसी अवसर पर लॉर्ड माउन्टबेटेन की भारत के वायसराय पद पर नियुक्ति घोषित की गयी जिन्हें सत्ता हस्तांतरित करने का कार्य सौंपा जाना था। तेरह मास बाद अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ने की घोषणा से यह विश्वास किया जाता था कि विभिन्न राजनीतिक दलों के मध्य विभेद कम हो जायेंगे और वह किसी निश्चय पर पहुंच जायेंगे। गांधीजी ने ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे उत्तम कार्य कहा, परन्तु वह पाकिस्तान बनने के विचार से कांप उठते थे।

प्रधानमन्त्री की घोषणा

माउन्टबेटेन योजना

२४ मार्च, सन् १९४७ को लार्ड वेवेल के स्थान पर लॉर्ड माउन्टबेटेन भारत के वायसराय बने तथा भारत आते ही उन्होंने विभिन्न नेताओं से विचार-विमर्श प्रारम्भ कर दिया। उनके पद ग्रहण पर लॉर्ड इसमे ने कहा कि वह बीच समुद्र में एक बारूद से भरे ऐसे जहाज के खेने का दायित्व ले रहे थे जिसमें आग लग चुकी थी। उन्होंने यह अनुभव किया कि कांग्रेस व लीग में कोई भी समझौता नहीं हो सकता था तथा देश का विभाजन ही एक मात्र उपाय था। विभाजन को आधार मानकर उन्होंने कांग्रेस व लीग से वार्तालाप कर एक योजना बनायी तथा इस योजना को ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत कराने के लिए वह मई, सन् १९४७ में लंदन गये। वहां से तीन जून को वापस लौटने पर उन्होंने अपनी योजना घोषित कर दी।

इस योजना के अनुसार भारत व पाकिस्तान दो डोमीनियनों की स्थापना तथा बंगाल व पंजाब का विभाजन करने का निर्णय किया गया। पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा आसाम के सिलहट जिले के मुस्लिम-

बहुल प्रदेशों को इस बात की छूट दे दी गयी कि वह पाकिस्तान में मिलें अथवा भारत में।[1] पंजाब, बंगाल, व आसाम प्रान्तों के विभाजन के लिए एक स्वतंत्र सीमा कमीशन की नियुक्ति की गई जिसका कार्य प्रान्तों के मध्य विभाजित भागों की रेखायें निर्धारित करना था। भारत व पाकिस्तान को यह भी अधिकार देना निश्चित किया गया कि वह चाहें तो राष्ट्रमण्डल छोड़ दें। देशी रियासतों के सम्बन्ध में यह घोषणा की गयी कि वह भारत अथवा पाकिस्तान में अपनी इच्छानुसार शामिल हों। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि ब्रिटिश सरकार १५ अगस्त को ही सत्ता हस्तांतरित कर देगी।

लीग तथा कांग्रेस द्वारा इस योजना की स्वीकृति किए जाने के उपरान्त लॉर्ड माउन्टबेटेन ने इसे तुरन्त कार्यान्वित कर दिया। पश्चिमी पंजाब व पूर्वी बंगाल ने पाकिस्तान में रहने का निर्णय किया। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत, सिन्ध, ब्लोचिस्तान, सिलहट ने भी यही निर्णय किया। इन निश्चयों के फलस्वरूप १५ अगस्त, सन् १९४७ को भारत तथा पाकिस्तान दो स्वतंत्र राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। पाकिस्तान की स्थापना से मिस्टर जिन्ना की मुस्लिम राज्य की योजना का स्वप्न पूरा हो गया। ब्रिटिश कूटनीति हमेशा से ही 'विभाजन द्वारा शासन' करने के पक्ष में ही थी। आयरलैण्ड, सूडान, साइप्रस, पैलेस्टाइन इसके उदाहरण हैं। सेठी का कहना है कि पाकिस्तान की स्थापना एक अलौकिक घटना थी।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम सन् १९४७

माउन्टबेटेन योजना के आधार पर जुलाई, सन् १९४७ में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ इस प्रकार थीं :

(१) १५ अगस्त, सन् १९४७ से दो स्वतन्त्र उपनिवेशों, भारत तथा पाकिस्तान का जन्म होगा तथा इसी दिन ब्रिटिश सरकार दोनों उपनिवेशों की संविधान-सभाओं को सत्ता हस्तान्तरित कर देगी।

(२) दोनों उपनिवेशों में एक-एक गवर्नर-जनरल होगा। इनकी नियुक्ति मन्त्रिमण्डल की सलाह से की जायगी। गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तों के गवर्नर भविष्य में स्वेच्छापूर्वक कार्य नहीं कर सकेंगे। उन्हें अपने मन्त्रियों के परामर्श से शासन करना होगा।

(३) दोनों उपनिवेशों की संविधान-सभाएं उनके विधान-मण्डल के रूप में

---

1 इस बात के निर्णय के लिए यह प्रक्रिया थी : बंगाल तथा पंजाब में विधान-सभाओं में मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिम जिलों के प्रतिनिधि को भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने के सम्बन्ध में पृथक-पृथक मतदान करना था। सिन्ध में विधान-सभा को समग्र रूप में इस पर विचार करना था। बिलोचिस्तान को अपनी प्रतिनिधिक संस्थाओं की संयुक्त बैठक द्वारा निश्चित करना था तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा सिलहट में जनमत-संग्रह द्वारा निर्णय होना था।

भी कार्य करेंगी तथा इसकी वैधानिक शक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध न होगा। १५ अगस्त, सन् १९४७ के उपरान्त ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कोई अधिनियम उपनिवेशों पर बिना उसके विधान-मण्डल की स्वीकृति के लागू नहीं होगा।

(४) भारत-मन्त्री का पद समाप्त कर दिया गया तथा जब तक उपनिवेशों में नवीन संविधान नहीं बन जाता, शासन सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार होना था जिसमें परिस्थितियों को ध्यान में रखकर आवश्यक संशोधन कर दिये गये।

(५) देशी राज्यों के ऊपर ब्रिटिश सार्वभौमिक सत्ता का अन्त हो गया तथा उन्हें किसी भी उपनिवेश में सम्मिलित होने का अधिकार दे दिया गया।

१५ अगस्त, सन् १९४७ को जब भारत तथा पाकिस्तान स्वतन्त्र राज्य बने तो लॉर्ड माउन्टबेटेन भारत के तथा मिस्टर जिन्ना पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल बने।

कांग्रेस ने विभाजन को स्वीकार किया

कांग्रेस द्वारा भारत के विभाजन की योजना स्वीकार करने के सम्बन्ध में उसकी काफी निन्दा की गयी है यद्यपि कांग्रेस ने भारत की एकता को पहले से अपना मूलमन्त्र बनाया हुआ था। परन्तु परिस्थितियाँ ही ऐसी उत्पन्न हो गयीं कि उसे बाध्य होकर देश के विभाजन की योजना स्वीकार करनी पड़ी। गांधीजी भी पहले कई बार देश के विभाजन को अस्वीकार कर चुके थे। ऐसा करने में उनके सामने केवल दो ही विकल्प थे—या तो वह पाकिस्तान की अनुमति लेकर हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष सदा के लिए मिटा दें या उसका विरोध करके गृह-युद्ध की सम्भावना पैदा कर दें। पण्डित जवाहरलाल नेहरू तथा सरदार पटेल अन्तरिम सरकार में देख रहे थे कि लीग के सहयोग के बिना देश का शासन नहीं चल पा रहा था। उनके सामने देश में कुशल शासन शान्ति के लिए कोई दूसरा हल ही नहीं था। १५ जून को कांग्रेस महासमिति ने २९ के विरुद्ध १५३ मत से विभाजन की योजना स्वीकार कर ली। कृपलानीजी ने, जो कांग्रेस अध्यक्ष थे, निम्न शब्दों में बताया कि गांधीजी की विभाजन सम्बन्धी सम्मति की उसने क्यों अवहेलना की थी :

"हिन्दुओं मुसलमानों के बीच मार-काट के बुरे कृत्यों की होड़ चल रही है। डर यह है कि यदि हम इस तरह एक-दूसरे से बदला लेने तथा एक-दूसरे का तिरस्कार करते चले जायेंगे तो धीरे-धीरे हम नरभक्षकों अथवा उससे भी बुरी स्थिति में जा गिरेंगे।'.........मैं तीस साल से गांधीजी के साथ हूँ। उनके प्रति मेरी भक्ति कभी विचलित नहीं हुई है। यह भक्ति केवल व्यक्ति केवल व्यक्तिगत नहीं अपितु राजनीतिक है। जब भी मैं उनसे सहमत नहीं हुआ तब भी मैंने उनकी अन्तःप्रेरणा को अपने खूब तर्क-पूर्ण विचारों की अपेक्षा अधिक सही माना है। आज भी मैं मानता हूँ कि अपनी महती निर्भयता को लिए हुए वह सही हैं तथा मेरी युक्तियाँ त्रुटिपूर्ण हैं तो फिर मैं उनके साथ क्यों नहीं हूँ? इसलिए कि मैं अनुभव करता हूँ

कि वह अभी तक इस समस्या को सामूहिक रूप से हल करने का कोई रास्ता नहीं निकाल पाये हैं।

पण्डित नेहरू का कहना था कि अराजकता तथा अशान्ति रोकना सबसे अधिक आवश्यक था तथा निर्दोष लोगों की हत्या होने से तो भारत का विभाजन अधिक अच्छा था। यह भी एक सत्य है कि कांग्रेस भारत की स्वतन्त्रता के प्रश्न को और अधिक नहीं टालना चाहती थी तथा यह भी सोचती थी कि यदि ब्रिटिश नौकरशाही भारत में रही तो वह और भी अधिक संकटपूर्ण परिस्थिति पैदा कर देगी। पण्डित पन्त का कहना था कि "पाकिस्तान की स्वीकृति से, शेष भारत संगठित व सशक्त बन सकेगा। इससे देश उन्नति करेगा तथा विश्व के राष्ट्रों में अपना स्थान प्राप्त करेगा। शेष भारत में 'द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त' सहन नहीं किया जायगा। प्रत्येक नागरिक को अपनी पूर्ण भक्ति राष्ट्र को देनी पड़ेगी।" सरदार पटेल का मत था कि विभाजन हो जाने के उपरान्त भी "हमारे पास ७५% से ८०% तक भारत शेष रहेगा जिससे हम अपनी इच्छानुसार विकसित तथा शक्तिशाली बना सकते हैं।" इनका यह भी मत था कि यदि मुसलमानों को भारत में रहने को विवश किया गया तो केवल फूट व द्वेष ही फैलेगा तथा देश की कोई भी प्रगति नहीं हो सकेगी।

महात्मा गांधी ने विभाजन को एक 'आध्यात्मिक दुर्घटना' कहा। उन्होंने कांग्रेस से असहमति प्रकट करते हुए कहा कि यह ३२ वर्षों के सत्याग्रह का लज्जाजनक परिणाम था।

अंग्रेजों ने भारत क्यों छोड़ा ?

अन्त में इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी विचार कर लेना चाहिए कि अंग्रेजों में इतनी सुबुद्धि कैसे पैदा हो गयी कि स्वयं भारत छोड़ने के लिए तैयार हो गये ? डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैय्या का कहना था कि यह केवल परिस्थितियों का बल था, न कि अंग्रेजों की आदर्शवादिता जिसके कारण वह भारत छोड़ने को तैयार हुए। निःसन्देह अंग्रेजों का भारत छोड़ देने का निर्णय दूरदर्शितापूर्ण था।

भारत में राष्ट्रीय भावना द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त इतनी विकसित हो चुकी थी कि अंग्रेजों ने यह जान लिया था कि शक्ति के जोर पर छल द्वारा अब भारत को दबाये रखना असम्भव होगा। सन् १९४२ का आन्दोलन, आजाद हिन्द फौज का संगठन, सेना में विद्रोह आदि ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे अंग्रेजों को महसूस हो रहा था कि वह एक सुलगते हुए ज्वालामुखी पर बैठे थे जिसका कभी भी विस्फोट हो सकता था।[1] इसके अतिरिक्त रूस, अमेरिका आदि देशों ने भी समय-समय पर अंग्रेज सरकार को कहा था कि वह भारत में संवैधानिक गतिरोध को समाप्त करने

1 Campbell and Johnson write: "(It was) an unique response essentially to a revolutionary situation." (Mission with Mountbatten, p. 361)

की कोई योजना बनावें। अमेरिकी सेक्रेट्री-जनरल जनरल मार्शल ने २६ फरवरी, सन् १९४७ को एक प्रेस-सम्मेलन में कहा कि "संयुक्त राज्य ब्रिटेन के भारत को स्वतन्त्र करने के प्रश्न पर पूरी तरह सहमत था।" एशिया में भी प्रगतिशील आन्दोलन जोर मारने लगा था : एशियाई राष्ट्र यह महसूस करने लगे थे कि पश्चिमी राष्ट्र उनका शोषण कर रहे थे। सुदूर तथा मध्य-पूर्व में नवचेतना फैल रही थी परन्तु इन सबमें अधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अंग्रेजों की शक्ति बिल्कुल क्षीण हो चुकी थी। आर्थिक दृष्टि से वह दिवालिया हो चुका था तथा ऐसे नाजुक समय में, जब ब्रिटेन को अपने देश का पुर्ननिर्माण करना था, उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वह साथ ही साथ भारत पर भी अपना प्रभुत्व कायम रख सके। महायुद्ध के बाद मजदूर दल के सत्तारूढ़ होने ने भी स्वतन्त्रता की गति तेज कर दी। हाउस ऑफ लॉर्ड्स में २५ फरवरी, सन् १९४९ को लॉर्ड पेथिक लारेंस ने यह घोषणा की कि वर्तमान हालत में भारत में ब्रिटिश राज्य सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकता और ब्रिटिश सरकार अब दोबारा यह गलती, जो इसने आयरलैण्ड के सम्बन्ध में भी की थी, नहीं करना चाहती थी।[2] सर स्ट्रेफोर्ड क्रिप्स का भी कहना था कि यदि भारतीयों को सत्ता का हस्तान्तरण नहीं किया गया तो प्रशासन बैठ जायगा।[3] केबिनेट मिशन के प्रस्तावों पर ही चर्चिल ने कहना शुरू कर दिया था कि मजदूर दल इंगलैण्ड का दिवाला निकाल रहा था। अंग्रेजों के भारत छोड़ने का एक कारण यह भी था कि मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस अब तक निश्चय पर पहुंच चुकी थीं तथा दोनों ने ही विभाजन की योजना स्वीकार कर ली थी। संवैधानिक गतिरोधों को दूर करने के लिए इससे अच्छी और कोई योजना नहीं बन सकती थी तथा अब अंग्रेजों के सामने यहाँ जमे रहने का यह बहाना नहीं रह गया था कि देश में साम्प्रदायिकता की समस्या का हल नहीं निकल पाया था। यदि कांग्रेस तथा लीग में यह समझौता नहीं हुआ तो सम्भवतया भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में कुछ और दिन लग जाते। भयानक रक्तपात के बाद देश को विदेशी शासन से मुक्ति मिल ही गयी। हमें इस स्थान पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के वाक्य याद आते हैं, जो उन्होंने मृत्यु से तीन मास पूर्व सन् १९४१ में कहे थे, "भाग्य-चक्र किसी दिन इंगलैण्ड को बाध्य करेगा कि वह भारतीय साम्राज्य को छोड़ दे, परन्तु वह किस दशा में तथा किस कष्ट में भारत छोड़ेंगे.... " उनके शासन का अन्त तब होगा जब इनकी शासन रूपी नदी सूख जायगी तथा नहीं मालूम कितनी मिट्टी तथा कूड़ा-करकट वह अपने पीछे छोड़ जायेंगे।

---

2 Indian Annual Register, 1947, Vol, I. p. 158.
3 *Ibid*, pp. 163-164.

१४

स्वतन्त्र भारत का संविधान और विशेषताएँ

भारतवासियों में जैसे-जैसे राजनीतिक चेतना का विकास होता गया, उनकी यह माँग भी दृढ़ होती गयी कि भारत के संविधान का निर्माण भारतीयों द्वारा हो। सन् १९१९ के मांटफोर्ड-सुधारों से भारतीयों को अनेक आशाएँ थीं, परन्तु जैसा उसका रूप सामने आया, उससे देश के राजनीतिज्ञों के भ्रम मिट गये; उन्होंने यह समझ लिया कि जब तक देश के संविधान का निर्माण स्वयं देशवासियों द्वारा नहीं होगा, तब तक जनता के अधिकारों का कोई ध्यान नहीं रखा जायेगा। सन् १९१९ में अमृतसर में हुए कांग्रेस-अधिवेशन में प्रथम बार राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के आधार पर पूर्ण स्वायत्तशासी शासन की माँग की गयी।

भारतीयों द्वारा संविधान-सभा की माँग

सन् १९२२ में महात्मा गांधी ने इस बात की ओर संकेत किया कि 'स्वराज्य ब्रिटिश पार्लियामेन्ट से उपहारस्वरूप नहीं मिलेगा वरन् वह तो भारत द्वारा सम्पूर्ण विकास की एक घोषणा मात्र होगा।" सन् १९२८ में पंडित मोतीलाल नेहरू ने सर्वदलीय सम्मेलन के निश्चयों के आधार पर भारतीय संविधान की रूपरेखा तैयार की। यद्यपि समय-समय पर कांग्रेस संविधान-सभा की माँग करती रही, परन्तु सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। गोलमेज-सम्मेलन की कार्यवाहियों से यह स्पष्ट था कि सरकार ऐसी माँगों को मानने को तत्पर नहीं थी। सन् १९३४ में स्वराज्य-दल ने एक प्रस्ताव में यह कहा कि अन्य राष्ट्रों के समान ही भारत के लिए भी यह दल आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग करता है तथा इसे क्रियान्वित करने के लिए यह आवश्यक समझता है कि एक संविधान-सभा, जिसमें प्रत्येक वर्ग के दलों का प्रतिनिधित्व हो, बुलायी जाय।" इसके बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू ने वयस्क-मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान-सभा की माँग पर लोकमत जाग्रत किया। फैजपुर अधिवेशन (१९३६) में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसमें कहा गया कि भारतीय जनता केवल उसी विधान को स्वीकार करेगी। जिसका निर्माण उसने स्वयं किया है तथा जो भारतीय राष्ट्र की स्वाधीनता पर

आधारित है। कांग्रेस निश्चित रूप से वस्तुतः लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना चाहती है, जहां राजसत्ता पूर्णरूप से भारतीय जनता में निहित हो तथा सरकार पर जनता का नियन्त्रण हो। ऐसे राज्य का निर्माण केवल संविधान-सभा द्वारा ही किया जा सकता है जो वयस्क-मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हो तथा जिसे विधान-निर्माण के समस्त अधिकार प्राप्त हों।" सन् १९३८ में कांग्रेस ने हरीपुरा-अधिवेशन में इसी मांग को दुहराया तथा युद्ध-काल में भी उसकी यही मांग रही। युद्ध-कार्य में क्योंकि अंग्रेज सरकार भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने की इच्छुक थी, अतः भारतीयों को प्रसन्न करने के लिए गवर्नर-जनरल लॉर्ड लिनलिथगो ने ८ अगस्त, १९४० को घोषित किया कि युद्धोपरान्त भारत के नवीन संविधान के निर्माण का दायित्व भारतीयों पर होगा। इस घोषणा द्वारा प्रथम बार अंग्रेज सरकार ने इस मांग को स्वीकार किया कि भारतीयों को संविधान-निर्माण का अधिकार प्राप्त होगा। बाद में क्रिप्स-मिशन ने भी इसे स्वीकार किया तथा संविधान-सभा संगठन पर भी प्रकाश डाला, परन्तु उसके असफल रहने पर इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी। सन् १९४६ में केबिनेट-मिशन ने संविधान-सभा के संगठन के सम्बन्ध में अपनी योजना प्रस्तुत की।

संविधान-सभा का संगठन

केबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान-निर्माण के लिए संविधान-सभा के संगठन तथा निर्माण का निश्चय किया गया। संविधान-सभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा होना तय किया गया था। सदस्यों के निर्वाचन का आधार जनसंख्या और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण था। ऐसा निश्चित किया गया था कि प्रति दस लाख व्यक्तियों पर एक सदस्य का चुनाव हो। जिस संविधान-सभा का निर्माण इन निर्वाचनों के फलस्वरूप होना था, वह पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था नहीं थी और उसकी शक्तियां सीमित थीं। यह संविधान-सभा ब्रिटिश संसद के अधीन थी। इसके कार्य के लिए भी एक निर्दिष्ट विधि की व्यवस्था थी। जुलाई में संविधान-सभा के सदस्यों का चुनाव हुआ था। इसमें सभी राजनैतिक दलों ने भाग लिया था। यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये निर्वाचन केवल ब्रिटिश भारत के २९६ स्थानों के लिए ही हुए थे; इसमें कांग्रेस को २११ तथा मुस्लिम लीग को ७३ स्थान प्राप्त हुए थे।

संविधान-सभा का लीग द्वारा बहिष्कार

संविधान-सभा की प्रथम बैठक ९ दिसम्बर, सन् १९४६ को हुई। मुस्लिम लीग ने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लिया तथा संविधान-सभा के बहिष्कार का निश्चय किया। लीग ने यह मांग प्रस्तुत की थी कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक्-पृथक् राष्ट्र हैं तथा दोनों के लिए अलग-अलग संविधान सभाएँ होनी चाहिए। लीग के बहिष्कार करने पर भी कांग्रेस ने संविधान-सभा द्वारा संविधान-निर्माण के कार्य को चालू रखने का निश्चय

किया। ११ दिसम्बर को डॉ० राजेन्द्रप्रसाद संविधान-सभा के स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

१३ दिसम्बर को श्री जवाहरलाल नेहरू ने उद्देश्य सम्बन्धी प्रस्ताव विचारार्थ रखा जो २२ जनवरी, सन् १९४७ को स्वीकृत हुआ। संविधान के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए संविधान-सभा ने कई समितियाँ[1] भी नियुक्त कीं। इसी बीच राजनीतिक घटनाचक्र में तेजी से परिवर्तन होते गये। १५ अगस्त को ही अँग्रेजों ने भारत छोड़ने का निश्चय कर लिया और इस दिन भारत का विभाजन होकर भारतवर्ष तथा पाकिस्तान दो नवीन डोमिनियनों का आविर्भाव हुआ। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम ने संविधान-सभा के स्वरूप को बदल दिया। अब संविधान-सभा पूर्णरूपेण एक प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था बन गयी।

संविधान-सभा प्रभुत्व-सम्पन्न

विभिन्न-समितियों की सिफारिशों पर विचार करके २९ अगस्त, सन् १९४७ को संविधान-सभा ने डॉक्टर बी० आर० अम्बेडकर की अध्यक्षता में, इन सिफ़ारिशों के आधार पर नवीन संविधान के प्रारूप को अन्तिम रूप देने के लिए एक प्रारूप-समिति नियुक्ति की। इस समिति ने संविधान का प्रारूप ४ नवम्बर को संविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया तथा तत्पश्चात् उसके प्रत्येक अनुच्छेद पर विचार हुआ। २६ नवम्बर को संविधान सभा में संविधान का अन्तिम रूप स्वीकृत किया तथा यह संविधान २६ जनवरी, सन् १९५० से लागू किया गया। २६ जनवरी का दिन देश प्रति वर्ष स्वतन्त्रता-दिवस के रूप में सन् १९३० से मनाता आ रहा था, अतः इसी ऐतिहासिक दिन पर संविधान को भी लागू करने का निश्चय किया गया था।

संविधान की विशेषताएँ

विस्तृत संविधान— अन्य देशों के संविधानों की तुलना में भारत का संविधान एक विस्तृत प्रलेख है। इसका निर्माण करने में भारतीय संविधान-निर्माताओं ने भूत, वर्तमान और भविष्य सभी परिस्थितियों पर ध्यान दिया है। उनका उद्देश्य केवल मात्र आदर्श संविधान प्रस्तुत करने का नहीं था अपितु इसके साथ-साथ वे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल एक व्यावहारिक संविधान चाहते थे।

मूल संविधान में ३९५ अनुच्छेद तथा ८ अनसूचियाँ थीं। सप्तम संशोधन अधिनियम द्वारा यद्यपि इसके कई उपबन्ध निरसित कर दिये गये तथा फिर भी इसमें ३९६ अनुच्छेद और ९ अनुसूचियाँ हैं। इसके निर्माण में दो वर्ष, ग्यारह मास तथा अठारह दिन लगे तथा इस काल में संविधान-सभा पर लगभग ६३,९६,७२९ रु०

1 यह समितियाँ निम्न थीं : केन्द्रीय शक्ति समिति, केन्द्रीय संविधान समिति, प्रान्तीय संविधान समिति, अल्पसंख्यक तथा मौलिक अधिकार परामर्श समिति, चीफ कमिश्नर प्रान्त समिति, केन्द्र व प्रान्तीय आर्थिक सम्बन्ध समिति तथा पिछड़े-क्षेत्र परामर्श समिति।

व्यय हुए ।[1] इसके विपरीत अमेरिका के संविधान में हुए समस्त संशोधनों के बाद भी उसमें केवल ७,००० शब्द हैं ।

भारत का संविधान इतना अधिक विस्तृत क्यों है ? यह प्रश्न जिज्ञासा और आलोचना दोनों ही दृष्टि से पूछा जाता रहा है । सर जैनिंग्स के इस दृष्टिकोण से कि संविधान-निर्माताओं को वे सभी बातें संविधान में नहीं रखनी चाहिए जो बाहर रखी जा सकती हैं, परिचित होने पर भी भारतीय संविधान को व्यापक बनाया गया । इसके कई कारण हैं । सर जैनिंग्स ने भारतीय संविधान की विस्तृतता पर विचार करते हुए बताया है कि यह पूर्व अनुभवों के कारण हैं और संविधान-सभा ने सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम से प्रेरणा ली है । केवल इतना ही नहीं स्वतन्त्र भारत का संविधान सरकार के अंगों की रूपरेखा मात्र ही प्रस्तुत नहीं करता अपितु उसमें प्रशासनिक तथ्यों का भी समावेश है । संविधान-निर्माताओं के मन में यह शंका थी कि यदि सभी बातों को विस्तारपूर्वक नहीं वर्णित किया गया तो कहीं भविष्य में कोई कठिनाई न उत्पन्न हो जाय । संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान मे केवल संघीय शासन ही की विवेचना की गयी है तथा वहाँ पर राज्य को अपना-अपना संविधान बनाने का अधिकार है, परन्तु भारत के संविधान में संघ तथा राज्यों, दोनों को ही शासन-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है । देश के विशाल आकार को ध्यान में रखते हुए कुछ समस्याओं के समाधान करने की आवश्यकता पर ध्यान देते हुए संविधान में अनेक उपबन्ध रखे गए हैं, जिनके कारण भी संविधान का कलेवर बढ़ गया है ।

संविधान इतना व्यापक क्यों

इसके अतिरिक्त नागरिकों के मौलिक अधिकारों, राज्य की नीति के निर्देशक-तत्वों की व्यवस्था ने संविधान के आकार में वृद्धि की है । पिछड़ी जातियों और अनुसूचित वर्गों के विशेष हितों की व्यवस्था ने संविधान को और भी अधिक व्यापक बना दिया है ।

प्रायः व्यापक संविधान आदर्श संविधान नहीं कहे जाते क्योंकि उनमें विकास की अधिक गुंजाइश नहीं होती । इसके बावजूद भी भारतीय संविधान को व्यापक बनाया गया । इस सम्बन्ध में डॉ० अम्बेडकर का स्पष्टीकरण था : "शासन सम्बन्धी

१ अन्य देशों के संविधान की तुलना में भारत का संविधान एक विशाल प्रलेख है । अन्य देशों के संविधान-निर्माण में कितना समय लगा और कितने अनुच्छेद हैं, वह निम्न चार्ट से स्पष्ट होता है :

देश	संविधान निर्मित होने में लगा समय	अनुच्छेद
भारत	२ वर्ष, ११ मास और १८ दिन	३९५ 395
कनाडा	२ वर्ष, ५ मास	१४७
आस्ट्रेलिया	६ मास	१२८
दक्षिण अफ्रीका	१ वर्ष	१५३
संयुक्त राज्य अमेरिका	४ मास	७

विस्तार को विधान में स्थान प्रदान न करने और उन्हें निश्चित करने का अधिकार व्यवस्थापिका-सभा को सौंपने का खतरा उन्हीं देशों में मोल लिया जा सकता है, जहाँ की जनता वैधानिक नैतिकता से परिपूर्ण हो। भारत में पूँजीतन्त्र इस भूमि पर एक लता के समान है जो अभी प्रजातन्त्र के योग्य नहीं है। इस प्रकार की परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता इसी में है कि शासन का स्वरूप निश्चित करने के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका-सभा पर विश्वास ही नहीं किया जाय।"

संविधान-सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही से हमें यह पता चलता है कि भारतीय संविधान-निर्माता कोई मौलिक प्रलेख निर्मित करने के उद्देश्य से अनुप्राणित नहीं थे। उनका एक उद्देश्य था कि वे ऐसे संविधान का निर्माण करें जो भारत की परिस्थितियों के अनुकूल हो और जिसकी व्यवस्था के अन्तर्गत भारत अधिक से अधिक प्रगति करे।

भारतीय संविधान-निर्माताओं ने देश के संविधान के निर्माण हेतु कई देशों की शासन-व्यवस्थाओं का अध्ययन किया और उन सब आदर्श तथ्यों का निरूपण संविधान में किया जो भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल था। हमारे देश की शासन-व्यवस्था का स्वरूप संसदात्मक है; अतः भारत के संविधान से हमने भारतीय संघ का नामकरण 'यूनियन' (Union) रखा है तथा अवशिष्ट शक्तियाँ (Residual Powers) केन्द्र के पास रखी हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान का मौलिक अधिकारों के अध्याय पर, संविधान की प्रस्तावना (Preamble) पर तथा संविधान की व्याख्या के लिए उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था आदि पर प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। राज्य-नीति निर्देशक-तत्वों का विचार-संविधान निर्माताओं ने आयरलैण्ड के संविधान से लिया है तथा संविधान की संशोधन प्रणाली पर दक्षिण अफ्रीका का प्रभाव है।

विदेशी संविधानों का ऋणी

भारत का संविधान निःसन्देह इन सब विदेशी संविधानों का ऋणी है। विदेशी संविधानों से केवल वे ही बातें संविधान-निर्माताओं ने ली थीं, जिनका भारत की परिस्थितियों से तारतम्य बैठता था। यही कारण है कि सब विदेशी तथ्य संविधान पर थोपे हुए प्रतीत नहीं होते। इनको भारतीय परिस्थितियों में ढाल दिया गया है और संविधान सभा का यह प्रयास रहा है कि ऐसे संविधान का निर्माण करे जो आने वाला हर परिस्थिति का मुकाबला कर सके।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि हमारा संविधान एक विस्तृत संविधान है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि यह लिखित होते हुए भी लचीला संविधान है। संविधान के कुछ उपबन्धों को छोड़ कर जिनमें संशोधन करने के लिए राज्यों के विधान-मण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है, अन्य सब विषयों में संसद विशेष बहुमत के द्वारा संशोधन कर सकती है, अर्थात् संशोधन पर प्रत्येक

अंशतः कठोर परन्तु मुख्यतः लचीला संविधान

सदन में कम से कम दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत को उपस्थित रहना चाहिए तथा मतदान करना चाहिए। यह बहुमत भी साधारण बहुमत नहीं; वरन् उस सदन की कुल सदस्य-संख्या का बहुमत होना चाहिए। इन विषयों में संशोधन करने के लिए कम से कम आधे राज्यों की स्वीकृति आवश्यक होती है, यह है संघ तथा राज्यों के मध्य अधिशासनिक एवं विधायिकी शक्तियों का वितरण, संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व, राष्ट्रपति का निर्वाचन, उच्चतम व उच्च न्यायालय तथा स्वयं संविधान के संशोधन से सम्बन्धित अनुच्छेद। इस प्रकार भारत के संविधान में, न तो संशोधन की प्रक्रिया इंगलैण्ड के समान है, जहाँ संसद एक साधारण विधेयक के समान ही संविधान में संशोधन कर सकती है, और न ही संयुक्त राज्य अमेरिका के समान, जहाँ संविधान में संशोधन का प्रस्ताव संघीय व्यवस्थापिका के दो-तिहाई मत द्वारा विभिन्न राज्यों की दो-तिहाई व्यवस्थापिकाओं की ओर से प्रस्तावित किया जा सकता है, तथा संशोधन तभी मान्य समझे जाते हैं, जब तीन-चौथाई राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ संशोधन सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत कर दें।

भारतीय संविधान की एक विशेषता यह भी है कि इसमें एक भी उपबन्ध ऐसा नहीं है जिसमें संशोधन न किया जा सके। भारतीय संविधान में संसदीय प्रभुसत्ता जो इंगलैण्ड के अलिखित संविधान का मुख्य आधार है तथा मूलभूत विधि के सिद्धान्त का जो अमरीका के लिखित संविधान का आधार है, अपूर्व समन्वय मिलता है। इस सम्बन्ध में श्री नेहरू ने कहा है :

"जैसा हम इस संविधान को यथासम्भव ठोस तथा स्थायी बनाना चाहते हैं, जबकि संविधानों में स्थायित्व होना कठिन है, इसमें लचीलापन भी आवश्यक है। यदि आप किसी वस्तु को कठोर तथा स्थायी बना देते हैं, तो उससे राष्ट्र की, एक जीवित सशक्त तथा प्राणवान जनता का विकास रोक देते हैं........। हम इस संविधान को ऐसा नहीं बना सकते थे जिसे परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार ढाला न जा सके। जब संसार में उथल-पुथल हो रही है तथा हम अति शीघ्र परिवर्तनशील जमाने में रह रहे हैं, हो सकता है, हम आज जो कुछ कर सकें, शायद वह कल न कर सकें।"[1]

---

1 While we want this constitution to be as solid and permanent as we can make it, there is no permanence in constitution. There should be a certain flexibility. If you make anything rigid and permanent, you stop the nation's growth, the growth of a living, vital organic people...In any event we could not make this constitution so rigid that it cannot be adopted to changing conditions when the world is in turmoil and we are passing through a very swift period of transition, what we may do to-day may not be wholly capable tomorrow."

—*Jawahar Lal Nehru.*

सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना

हमारा संविधान देश में सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना करता है। भारतीय संविधान की भूमिका (Preamble) में स्पष्ट है कि "हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए............इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

भारतीय संविधान की इस विशेषता को समझाने के लिए हमें इन शब्दों—'सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न', 'लोकतन्त्रात्मक,' और "गणराज्य" शब्द का अर्थ जानना होगा।

सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) से हमारा तात्पर्य यह है कि भारत में अब एक सर्वसत्ता-सम्पन्न सरकार की स्थापना हो गयी है। भारत अब आन्तरिक और वाह्य मामलों में स्वतन्त्र है। भारत अब स्वयं प्रभुतायुक्त है और अब वह किसी के अधीन नहीं है। किसी वाहरी सत्ता को भारत सरकार के मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। भारत अन्य राज्यों के सामने अब समानपदीय है और अब यह किसी अन्य से किसी भी प्रकार का निर्देश प्राप्त नहीं करेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) और संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है, परन्तु इन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की सदस्यता भारत की सदस्यता को सीमित नहीं करतीं। भारत 'सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न' राज्य होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करता है।

सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न

लोकतन्त्रात्मक (Democratic) संविधान से अर्थ होता है—वह शासन-प्रणाली जिसका संचालन जनता या जनता के प्रतिनिधि करते हैं। संविधान के अनुसार भारत की जनता सभी अधिकारों से सुशोभित है। देश की समस्त शक्ति जनता में केन्द्रित है। भारत की जनता ने ही अपने संविधान का निर्माण किया है। देश की शासन-व्यवस्था का स्वरूप लोकतान्त्रिक है तथा वयस्क मताधिकार के आधार पर स्वतन्त्र निर्वाचन की व्यवस्था के द्वारा सरकारों का निर्माण होता है। जनता की प्रतिनिधि, संसद, देश में कानून-निर्माण की अन्तिम इकाई है।

लोकतन्त्रात्मक

गणराज्य का अर्थ उस लोकतन्त्रात्मक शासन से लिया जाता है जिसका सर्वोच्च शासक कोई राजा न होकर जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति होता है।

गणराज्य

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारत एक 'सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' है।

नवीन संविधान द्वारा भारत में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गयी है। इस प्रकार राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है तथा वह धार्मिक मामलों में

धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना

पूर्ण रूप से तटस्थ है। ऐसे राज्य में राज्य न तो किसी धार्मिक संस्था की स्थापना करता है तथा न ही उन्हें किसी प्रकार की सहायता प्रदान करता है। राजकीय शिक्षालयों में भी धार्मिक शिक्षा वर्जित होती है। संविधान ने नागरिकों को धर्म, जाति तथा वंश के भेदभाव को छोड़कर समान अधिकार प्रदान किये हैं। भारत में राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं तथा यदि कोई व्यक्ति किसी धर्म में विश्वास नहीं रखता तो वह धर्म-विरोधी विचार भी रख सकता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि भारत में एक नास्तिक राज्य को जन्म दिया गया है। धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना का मुख्य उद्देश्य भारत में विषैली साम्प्रदायिकता की भावना का अन्त करना है जिसके भीषण परिणाम हुए।

संघीय शासन तथा शक्तिशाली केन्द्र

संविधान के अनुसार भारत के राज्यों का एक संघ है। संविधान में 'फेडरेशन' शब्द का प्रयोग न करके कनाडा के समान 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है। *ऐसे शासन में शक्ति का विभाजन संघ एवं राज्यों* के मध्य किया गया है, परन्तु राष्ट्र की एकता के हित में संविधान की आत्मा एकात्मक है। जहाँ भारत के शासन में वह सभी तत्व पाये जाते हैं, जो संघात्मक शासनों में मिलते हैं, अर्थात् एक लिखित संविधान की सर्वोच्चता तथा शक्तियों का संघ व एककों में विभाजन, व संविधान की रक्षा के लिए एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना, वहीं राष्ट्र के विभिन्न एककों के लिए समान प्रशासनिक तथा न्यायिक व्यवस्था, समान विधि तथा उन सबके ऊपर शक्तिशाली केन्द्र की भी व्यवस्था की गयी है, जो देश के राजनीतिक एवं आर्थिक हितों की देखभाल करे। संयुक्त राज्य अमेरिका के समान भारत में राज्यों का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, वह उससे अलग नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त उन्हें संविधान में संशोधन का भी अधिकार नहीं प्रदान किया गया है। संविधान द्वारा समस्त देश में नागरिकता तथा एक ही न्याय-प्रणाली की व्यवस्था, अखिल संघीय सेवाओं का अधिकार केन्द्र में होना यद्यपि उसके सदस्य प्रान्तों के उच्चाधिकारी होते हैं, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति होना तथा आपत्काल में केन्द्र का संविधान को एकात्मक बनाने का अधिकार होना तथ्य इस बात की ओर इंगित करते हैं कि भारत में संघात्मक-व्यवस्था होते हुए भी केन्द्र अत्यधिक शक्तिशाली है।

इस प्रकार एक ही संविधान में संघात्मक तथा एकात्मक शासन-व्यवस्थाओं का आदर्श समन्वय हमें अन्यत्र नहीं मिलता है।

भारतीय संविधान में संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता तथा इंगलैण्ड की संसदीय प्रभुसत्ता के मध्य के मार्ग का अनुसरण किया गया है। अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के निर्वाचन की शक्ति प्राप्त

न्यायिक सर्वोच्चता तथा संसदीय प्रभुसत्ता के मध्य समन्वय

है तथा वह संविधान का 'सेफ्टी वॉल्व' या सन्तुलन-चक्र (बेलेंस ह्वील) कहा जाता है। वहाँ के एक प्रसिद्ध मुख्य न्यायाधीश ह्यूज ने कहा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान वही है जो सर्वोच्च न्यायालय कह दे।" वहाँ सर्वोच्च न्यायालय संघीय व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी विधि को इस आधार पर अवैध घोषित कर सकता है कि वह संविधान द्वारा विधान-मण्डल को प्रदान की गयी शक्तियों का अतिक्रमण करती है अथवा वह संविधान की भावना के प्रतिकूल है, या 'उचित प्रक्रिया' (ड्यू प्रोसेस) जैसे सामान्य सिद्धान्तों की, जिनकी व्याख्या सर्वोच्च न्यायालय ही करता है, के विरुद्ध हैं। इस प्रकार संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायालय, विधायी नीति उचित है अथवा नहीं, इस बात का निर्णय करता है, मानों वह विधान-मण्डल का 'तीसरा सदन' हो। इसके विपरीत इंगलैण्ड में संसद सर्वोच्च है, तथा न्यायालय उसके द्वारा निर्मित्त किसी भी विधि को अवैध घोषित नहीं कर सकता।

भारतीय संविधान ने न्यायपालिका को यह शक्ति प्रदान की है कि वह उन विधियों को अवैध घोषित कर सके जो विधान-मण्डल के क्षेत्राधिकार से परे हों, अथवा मूल अधिकारों के प्रतिकूल हों, परन्तु भारत में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरीक्षण' (जुडीशियल रिव्यू) का अधिकार नहीं प्रदान किया गया है। इस प्रकार इसमें 'उचित प्रक्रिया' का उल्लेख नहीं मिलता है तथा स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति जैसे मूलाधिकार विधान-मण्डल के नियंत्रण में रखे गये हैं। इसके साथ ही यदि न्यायपालिका कभी दुराग्रही सिद्ध हो तो संसद संविधान के अधिकांश भाग को जिसमें मूलाधिकार भी सम्मिलित हैं, विशेष बहुमत द्वारा संशोधन कर सकती है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा विधान-मण्डल ही एक दृष्टिकोण से सर्वोच्च है। श्री नेहरू का कहना है, 'कोई भी उच्चतम न्यायालय, कोई भी न्यायपालिका संसद की प्रभुत्वपूर्ण इच्छा के मार्ग में रुकावट नहीं बन सकती। संसद सम्पूर्ण समाज की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। यदि वह कोई गलती करे तो समाज उसे पकड़ सकता है, परन्तु अन्तिम विश्लेषण में, जहाँ समाज के भविष्य का प्रश्न है, न्यायपालिका किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं कर सकती है……अन्ततोगत्वा तथ्य यह है कि विधान-मण्डल को सर्वोच्च रहना चाहिए तथा समाज-सुधार जैसे विषयों में न्यायालयों को उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"[1]

---

1 "No Supreme Court, no judiciary, can stand in judgment over the sovereign will of parliament, representing the will of the entire community. It can pull up that sovereign will if it goes wrong, but, in the ultimate analysis, where the future of the community is concerned, no judiciary can come in the way...... ultimately the fact remains that the legislature must be supreme, and must not be interfered with by the courts of law in such measures as social reform."

संयुक्त राज्य अमेरिका के 'बिल ऑफ राइट्स' के समान ही भारतीय संविधान मे नागरिकों के मूल अधिकारों की घोषणा की गयी है। इन अधिकारों की विस्तृत चर्चा यथास्थान की जायगी। संक्षेप में, यह अधिकार समस्त नागरिकों को न्याय एवं विधि के समक्ष समानता प्रदान करते हैं तथा भाषण व विचार स्वातन्त्र्य के साथ ही उन्हें धार्मिक, सांस्कृतिक, शान्तिपूर्ण सभा-आयोजन, प्रदर्शन, जीविका, वाणिज्य तथा व्यापार आदि की भी स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त संविधान ने बलात् काम लेने तथा मानव के पतन पर भी रोक लगा दी है। अल्पसंख्यकों के हितों को राज्य की ओर से संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था भी संविधान में है तथा उन्हें अपनी शिक्षा-संस्थाओं के खोलने तथा उनका प्रशासन करने के सभी अधिकार प्रदान किये गये हैं। संविधान के अनुसार कोई व्यक्ति कानून के अधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता तथा न ही प्रतिकार दिये बिना राज्य किसी की निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक उपयोग के लिए ले सकता है। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए नागरिक सर्वोच्च न्यायालय अथवा राज्यों के उच्च न्यायालयों में प्रतिवेदन कर सकते हैं, तथा यदि कोई विधि अथवा अध्यादेश इन अधिकारों के प्रतिकूल लागू किया जाता है तो वह न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है, परन्तु इसके साथ ही संविधान में यह भी उपबन्धित है कि राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा संकट के समय इन मूल अधिकारों को स्थगित किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में भी संकट काल में वैयक्तिक अधिकारों पर नियन्त्रण लगाया जा सकता है।

मूल अधिकार

संविधान के चतुर्थ भाग में राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया गया है। यह सिद्धान्त उन आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए राज्य प्रयास करेगा। इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान-निर्माताओं ने आयरलैंड के संविधान से प्रेरणा ली है, परन्तु मूल अधिकारों तथा नीति-निर्देशक-सिद्धान्तों में अन्तर यह है कि इन्हें न्यायालयों में मान्यता नहीं दी जा सकती। यह केवल इस बात पर बल देते हैं कि राज्य की ओर से ऐसी व्यवस्था स्थापित की जायगी जो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय पर आधारित तथा प्रत्येक नागरिक को पर्याप्त मात्रा में जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध हों। भारतीय संविधान का आदर्श एक लोक-हितकारी राज्य की स्थापना करना है, तथा यह भी राज्य शान्ति एवं सुरक्षा की अभिवृद्धि में प्रयत्नशील रहेगा। अनेक विचारकों के अनुसार यह अस्पष्ट एवं अनिश्चित है तथा इनका कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है।

राज्य के नीति-निर्देशक-सिद्धान्त

भारतीय संविधान ने वास्तविक जनतन्त्र की स्थापना के उद्देश्य से प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार प्रदान किया है। देश के प्रत्येक स्त्री अथवा पुरुष

वयस्क मताधिकार सिद्धान्त लागू करना तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त

को, जिसकी आयु २१ वर्ष से अधिक है, जो स्वस्थ मानसिक अवस्था में है तथा किसी अपराध के कारण अयोग्य नहीं ठहराया गया है, मतदान का अधिकार रखते हैं। इस प्रकार पुराने अधिनियमों की तरह अब मताधिकार सीमित नहीं रह गया है। इसके साथ ही साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व, जिसके कारण सदा ही विवाद उत्पन्न होते रहे, का भी अन्त कर दिया गया है। नये संविधान में कुछ निश्चित काल के लिए केवल ऐंग्लो-इण्डियनों, हरिजनों तथा जन-जातियों को संरक्षण प्रदान किये गये हैं परन्तु अन्य किसी जाति अथवा सम्प्रदाय के लिए कोई आरक्षण नहीं है।

भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है तथा इसमें पिछड़े वर्गों के हितों की रक्षा के लिए भी उपबन्ध हैं। अस्पृश्यता को किसी भी रूप में

अस्पृश्यता का अन्त तथा पिछड़े वर्गों में कल्याण की व्यवस्था

लागू करना एक अपराध घोषित कर दिया गया है तथा पिछड़ी जातियों एवं जन-जातियों के उत्थान के लिए संविधान में विशेष उपबन्ध रखे गये हैं। यदि अनुसूचित जातियों का लोकसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं होता तो राष्ट्रपति इन्हें समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए इनके प्रतिनिधियों की नियुक्ति कर सकता है। इनके हितों की रक्षा करना राज्यपालों का उत्तरदायित्व है तथा इनके सम्बन्ध में एक अधिकारी की नियुक्ति की भी व्यवस्था है, जो अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

संक्षेप में, भारत का नवीन संविधान जनता की प्रभुसत्ता के मूल सिद्धान्त पर आधारित है तथा भारतीय जनता की वास्तविक एकता का प्रतीक है। भारतीय संविधान के स्वरूप और विशेषताओं से स्पष्ट है कि भारत का संविधान एक आदर्श प्रलेख है। आदर्श और व्यावहारिकता का एक सुन्दर समन्वय है। नागरिकों के अधिकारों का यह सर्वोत्तम अधिकार-पत्र है। विश्व-शान्ति का यह प्रतीक और अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक है। डॉ० अम्बेडकर ने संविधान के पूर्ण होने पर कहा था कि इस सब तथ्यों के बावजूद भी इच्छित बातें पूर्ण नहीं होतीं तो यह कहना पड़ेगा कि "हमारे संविधान में कोई खराबी नहीं अपितु मनुष्य ही खराब है।"[1]

---

1 "I feel that it is workable and it is flexible and it is strong enough to hold the country together both in peace time and in war time. Indeed, if I may say so, if things go wrong under the reason, the reason will not be that we had a bad constitution. What we will have to say is that man was vile."

(*B. R. Ambedkar* : from Constituent Assembly Debates)

भारतीय संविधान तथा सन् १९३५ का अधिनियम

सन् १९३५ का अधिनियम भारतीय संविधान का एक मुख्य स्रोत है। कई स्थलों पर तो इसमें तथा नवीन संविधान में काफी साम्य है।

समानता

निम्नलिखित दृष्टियों से भारतीय संविधान तथा सन् १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम में समानता है :

(१) दोनों का रूप संघीय है तथा दोनों में ही केन्द्र को अधिक शक्ति प्रदान की गयी है। जिन सूचियों के आधार पर संघ तथा राज्यों में शक्ति-विभाजन किया गया है, उनमें भी समानता है। दोनों में ही संसदीय शासन प्रणाली की व्यवस्था की गयी है।

(२) सन् १९३५ के अधिनियम में प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। वह कार्यपालिका के प्रमुख होते हुए भी भारत सरकार के नियंत्रण में थे तथा उन्हें स्वविवेकानुसार काम करने का अधिकार प्रदान किया गया था। नवीन संविधान में राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होता है, तथा वह उसके प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर स्थिर रहते हैं। वह प्रान्तों में केन्द्रीय शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उन्हें भी कुछ 'स्वविवेक' शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं।

(३) दोनों ही विस्तृत हैं तथा न केवल केन्द्रीय सरकार के मुख्य अंगों तक ही अपने को सीमित रखते हैं, वरन् दोनों में ही प्रान्तीय शासनों के सम्बन्ध में भी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।

(४) दोनों ही संविधानों में केन्द्र तथा कुछ राज्यों में द्विसदनात्मक विधान-मण्डल की व्यवस्था की गयी है।

(५) दोनों सदनों में ही संकटकाल में राज्य अथवा राज्यों में संविधान को विफल घोषित करके केन्द्र उनका शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है।

इन समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ विभिन्नताएँ हैं :

विभिन्नता

(१) सन् १९३५ का शासन अधिनियम एक विदेशी शासन द्वारा भारतीयों पर बलात् लादा गया था तथा जिसके निर्माण में भारतीयों का कोई हाथ नहीं था। नवीन संविधान भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया गया है।

(२) सन् १९३५ का अधिनियम भारतीय शासन पर अन्तिम शक्ति ब्रिटिश संसद को प्रदान करता था, परन्तु अब भारतीय संसद सर्वोच्च है तथा किसी प्रकार के नियंत्रण के अधीन नहीं है।

(३) सन् १९३५ के अधिनियम में अवशिष्ट शक्तियाँ गवर्नर-जनरल के हाथ में थीं अर्थात् वही इस बात का निर्णायक था कि कौन-सी अवशिष्ट शक्ति केन्द्र को दी जाय तथा कौन-सी प्रान्तों के हाथ में रहें। नवीन संविधान ने अवशिष्ट शक्तियाँ संघीय शासन को प्रदान की हैं।

(४) सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत मताधिकार सीमित था परन्तु अब प्रत्येक वयस्क को मताधिकार प्राप्त है।

(५) नवीन संविधान में साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली का अन्त कर दिया गया है तथा एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की घोषणा की है।

(६) सन् १९३५ के अधिनियम में नागरिकों को कोई मूल अधिकार नहीं प्रदान किये गये थे। नवीन संविधान में नागरिकों को मूल-अधिकार प्रदान किये गये हैं जो न्यायालय द्वारा लागू कराये जा सकते हैं।

(७) सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित सर्वोच्च न्यायालय देश का उच्चतम न्यायालय नहीं था तथा कुछ मामलों में उसके निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील हो सकती थी अब भारत का सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे बड़ा न्यायालय है।

(८) सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत जिस संघीय शासन की स्थापना होनी थी, उसकी स्थापना होना अथवा न होना, देशी राज्यों की स्वेच्छा पर निर्भर था। क्योंकि उन्होंने संघीय शासन की स्थापना में कोई रुचि नहीं दिखायी, अतः अधिनियम का संघीय भाग कार्यान्वित नहीं किया जा सका। नवीन संविधान में देशी राज्यों का एकीकरण करके उन्हें विभिन्न राज्यों में शामिल कर दिया गया है। पुराने अधिनियम के अन्तर्गत तो देशी रियासतों की जनता को स्वशासन सम्बन्धी कोई भी अधिकार नहीं प्रदान किये गये थे, परन्तु अब देशी राज्यों की जनता भारत की जनता बन गयी है तथा उसे भी बिना किसी प्रकार के भेदभाव के समान अधिकार प्रदान किये गये हैं।

आलोचना

भारतीय संविधान की अनेक दृष्टिकोणों से आलोचना की गयी। प्रायः यह कहा जाता है कि जिस संविधान-सभा ने संविधान का निर्माण किया, वह वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित नहीं हुई थी तथा इस प्रकार पूर्णरूप से प्रतिनिध्यात्मक न थी। संविधान-सभा का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा हुआ था तथा बाद में उसमें देशी राज्यों के भी प्रतिनिधि शामिल कर लिये गये। संविधान के प्रारूप पर जिस समय विचार किया जा रहा था, एक सदस्य श्री दामोदरस्वरूप सेठ ने इस आशय का एक संशोधन भी प्रस्तुत किया कि इस पर विचार करना स्थगित कर दिया जाय, क्योंकि संविधान-सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित नहीं थी।[1] यह भी कहा जाता है कि संविधान-सभा में केवल एक ही विशेष दल के लोग बहुमत में थे तथा इस प्रकार इसमें अन्य राजनीतिक दलों के लोगों की संख्या नगण्य थी। संविधान-सभा को कुछ विचारक 'पूँजीवाद का गढ़' तथा प्रतिक्रियावादी' भी कहते थे क्योंकि इसमें कम्युनिष्ट तथा समाजवादी नहीं थे।[2]

संविधान-सभा वयस्क मताधिकार पर निर्वाचित नहीं

1 Constituent Assembly Debates, Vol. VII, p. 211.
2 *K. V. Rao* : Parliamentry Democracy of India, p. 4.

यह भी कहा जाता है कि इस संविधान के पीछे जनता की सहमति नहीं है। संविधान की प्रस्तावना में प्रारम्भ में ही कहा गया है—"हम भारत के लोग"

जनता की सहमति का अभाव

परन्तु संविधान के यह शब्द विचारकों के दृष्टिकोण से भ्रामक हैं, क्योंकि भारत के लोगों की संविधान के लागू होने के पहले कोई सम्मति नहीं ली गयी तथा जो कुछ भी संविधान-सभा के सदस्य ने स्वीकृत कर दिया, वही "भारत के लोगों" के नाम से लागू कर दिया गया। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि संविधान-सभा में कांग्रेसी सदस्यों का बहुमत था तथा क्योंकि कांग्रेस का दावा था कि वह पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करती है, अतः जो कुछ भी कांग्रेस दल ने निश्चय किया, वही सभा में उसने अपने बहुमत के बल पर स्वीकृत करा लिया। श्री महावीर त्यागी का मत है कि हमारा संविधान देश में बहुमत रखने वाले दल की देन है।[1] यद्यपि यह एक तथ्य है, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि इसमें कांग्रेस की कोई कुत्सित चाल थी। यदि संविधान-सभा के निर्वाचन वयस्क-मताधिकार के आधार पर भी कराये जाते तो यह निश्चित है कि कांग्रेस का ही संविधान-सभा में बहुमत हुआ होता। संविधान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह

बलात् लादा गया संविधान

बलात् लादा गया है। जिस संविधान पर विवाद हो रहा था, संविधान-सभा की कार्यवाही में कहीं भी इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि संविधान-सभा के सदस्यों ने कभी यह भी सोचा हो कि जिनके ऊपर यह संविधान लागू किया जायगा, उनकी इसके सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया होगी। न ही संविधान के उद्देश्य आदि कभी भी जनता तथा अन्य संस्थाओं की राय जानने के लिए प्रकाशित किये गये, न ही विदेशों के विद्वानों की राय जानने की कोशिश की गयी, जबकि हमारा संविधान मुख्यतः विदेशी संविधान पर आधारित है। जब संविधान-सभा ने संविधान स्वीकृत कर दिया तो उसे लागू करने के पूर्व भी किसी प्रकार का जनमत-संग्रह नहीं किया गया। यह तो निश्चित है कि यदि ऐसा हुआ होता तो जनता ने वर्तमान संविधान को बहुमत से स्वीकार कर लिया होता तथा इस प्रकार का आक्षेप नहीं उठाया जा सकता। कुछ विचारकों ने यह भी आपत्ति उठायी है कि हमारा संविधान

आवश्यकता से अधिक विदेशी संविधानों पर आधारित

आवश्यकता से अधिक अन्य विदेशी संविधानों पर आधारित है तथा उनमें से अनेक के उपबन्धों को इसमें वैसा ही रखा गया है। क्योंकि दूसरे देशों की शासन-प्रणालियों के सम्बन्ध में उठाये गये अनुभवों से लाभ उठाया गया है, अतः यह आक्षेप निराधार ही प्रतीत होता है। ऐसा करने में राष्ट्र का कोई अपमान नहीं हुआ है। सर बी० एन० राव का कहना है

---

1 Constituent Assembly Debates, Vol. IX, p. 1956.

कि ऐसा करने में एक लाभ यह हुआ है कि संविधान के मुख्य उपबन्धों को समझने में कोई कठिनाई नहीं उठानी पड़ी है।[1] संविधान के विस्तृत आकार की भी आलोचना की गयी है। जिन कारणों से संविधान के कलेवर में वृद्धि हो गयी है, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। जो परिस्थितियाँ भारत के संविधान-निर्माण के समय थीं, वह वास्तव में देश के लिए संकटापन्न थीं। डॉ० अम्बेडकर का कहना है, "उसी देश में, जहाँ जनता वैधानिक सदाचार से परिपूर्ण होती है, संविधान में प्रशासन से सम्बन्धित उपबन्ध बिना किसी भय के सूक्ष्म रूप में रखे जा सकते हैं तथा उन्हें विधान-मण्डल पर नियमित करने के लिए छोड़ा जा सकता है, परन्तु भारत की भूमि में, जो अत्यधिक अ-जनतन्त्रात्मक है, प्रजातन्त्रवाद एक ऊपर से लादी गयी वस्तु है, अतः यह आवश्यक समझा गया कि विधान-मण्डल पर प्रशासन, विधि आदि सम्बन्धी विषय न छोड़े जायें।"[2]

विस्तृत आधार

जिन आक्षेपों की ऊपर चर्चा की गयी है, इनमें कोई सार नहीं प्रतीत होता है। संविधान को लागू हुए अब बारह वर्ष हो गये हैं, परन्तु इसे सभी वर्गों तथा सभी दलों से मान्यता मिली है। जिस समय भारत स्वतन्त्र हुआ, देश में साम्प्रदायिकता का बोलबाला था तथा अराजकता फैली थी। ऐसे अवसर पर वयस्क मताधिकार पर एक संविधान-सभा का संगठन करना अत्यन्त कठिन कार्य था, अतः प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा सदस्यों का निर्वाचन करा कर संविधान-सभा को भी जनवादी रूप दिया गया। यदि संविधान में वास्तव में कुछ दोष हैं तो उनमें सरलता से संशोधन किया जा सकता है।

---

1 "There is another advantage in borrowing not only the substances but even the language of established constitution; for we obatin in this way the benefit of the interpretation put upon the borrowed provisions by the courts of other countries of their origin and we thus avoid ambiguity or doubt."

—*Sir B. N. Rao.*

2 It was only where people were saturated with constitutional morality that one could take the risk of omitting from the constitution details of administration and leaving to the legislature to prescribe them. Democracy in India is only a top dressing on the Indian soil which it essentially undemocratic. In these circmstances it is wiser not to trust the legislature to prescribe forms of administration."—*Dr. Ambedkar*

१५

नागरिकों के मूलाधिकार तथा राज्य के नीति-निर्देशक-तत्व

मूल अधिकारों का महत्व

प्रजातन्त्रात्मक शासन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक बल दिया जाता है, तथा यह स्वतन्त्रता बिना अधिकारों के सम्भव नहीं होती, अतः आधुनिक जनतन्त्रों में जनता के व्यक्तित्व के विकास तथा उसके जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए अनेक अधिकार प्रदान किये जाने लगे हैं। प्रोफेसर लास्की का मत है कि अधिकार ही आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्य की आधारशिला है अथवा यह वह कसौटी है जो बताती है कि राज्य का स्वरूप कैसा है। उनका कहना है कि यह वह गुण है जो मौलिक इस कारण नहीं कि यह परिवर्तनशील नहीं है, वरन् वह व्यक्ति के सद्जीवन के लिए आवश्यक है तथा शासन की शक्ति से परे है। नागरिकों के मौलिक अधिकार राज्य की शक्ति पर इस दृष्टि के प्रतिबन्ध लगाते हैं कि राज्य इनका हनन नहीं कर सकता। यह राज्य की तानाशाही प्रवृत्ति पर एक अंकुश के समान होते हैं, परन्तु यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि राज्य व्यक्तियों को असीमित अधिकार प्रदान करता है। यह अधिकार ऐसे नहीं होते कि व्यक्ति इनका मनमाना प्रयोग करें।

मौलिक अधिकार केवल आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्य की आधारशिला-मात्र नहीं है अपितु नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक मापदण्ड हैं। किसी भी राष्ट्र की समृद्धि, कल्याण और उसकी प्रगति इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उस राष्ट्र के नागरिक कितने राष्ट्रभक्त और निष्ठावान हैं। राष्ट्र के प्रति निष्ठा और भक्ति उतनी ही अधिक होगी, जितने अधिकार उस देश का संविधान अपने नागरिकों को देता है। यही तथ्य संविधान-निर्माताओं के मस्तिष्क में था और उसी का साकार रूप संविधान में निहित मौलिक अधिकारों का अध्याय है।

"नागरिकों के मौलिक अधिकार मानव स्वतन्त्रता के मापदण्ड और संरक्षक दोनों ही हैं। इस कारण उनका अपना मनोवैज्ञानिक महत्व है जिसकी आज के युग का कोई राजनैतिक-दार्शनिक उपेक्षा नहीं कर सकता।"[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका पहला देश था जिसने सर्वप्रथम अपने संविधान में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया। प्रथम महायुद्ध के बाद नागरिकों को अधिकार प्रदान करने की प्रथा सामान्य हो गयी। सन् १९१९ में जर्मन संविधान, सन् १९२२ व १९३६ के आयरलैण्ड के संविधान, सन् १९३६ के सोवियत संघ के संविधान, फ्रांस के चौथे तथा पाँचवे गणतन्त्र के संविधान तथा जापान के नवीन संविधान में भी इन नागरिकों को अनेक अधिकार प्रदान किये गये हैं। भारत के संविधान के भाग ३ में नागरिकों को जो मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं, वह अन्य देशों की तुलना में अत्यन्त विशद् तथा व्यापक हैं।[2] जब तक भारत अंग्रेजों के शासन में रहा, उसके नागरिक हर प्रकार के अधिकारों से वंचित रहे। वास्तव में अंग्रेजी शासन का उद्देश्य भारत में जनतंत्रात्मक शासन की स्थापना करना नहीं था। सर्वप्रथम नेहरू रिपोर्ट ने जिसकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है, जनता को मौलिक अधिकार प्रदान करने की माँग की, परन्तु साइमन कमीशन[3] ने ऐसी माँग का विरोध किया। जब सन् १९३५ का संविधान निर्मित हो रहा था, उसमें जनता को मौलिक अधिकार प्रदान करने की माँग की गयी, परन्तु ज्वाइन्ट पार्लियामेन्ट कमेटी रिपोर्ट (सन्

अन्य देशों में मूलाधिकार

भारतीय संविधान में मूलाधिकार

1 *The Leader* : Constitution Supplement, 18th Jan. 1950.
2 M. G. Gupta : Aspects of Indian Constitution p. 121.
3 But we consider that the only practical means of protecting the weaker or less numerous elements in the population is by the retention of an impartial power, residing in the Governor-General and the Governors of Provinces to be exercised for this purpose."

(Simon Commossion Report, Vol II. Para. 36)

The above view found expression in the White Paper of Dec. 1931. "The Federal Legislatures and the Provincial Legislatures will have no power to make laws subjecting in British India any British subject in respect of taxation, the holding of property of any kind, the carrying on of any profession, trade, business or occupation, or the employment of any servant or agent or in respect residence or travel within the boundaries of the federation, to any disability or discrimination based upon his religion, descent, caste, colour or place of birth......"

(Para 22)

१९३१-३४) से इसका विरोध किया। इस रिपोर्ट का कहना था कि भारत में यदि नागरिकों को कुछ अधिकार प्रदान किये गये तो उनसे कई परेशानियां उठ खड़ी होंगी तथा व्यवस्थापिका के अधिकार सीमित हो जावेंगे। देशी राज्यों ने भी अपनी सीमाओं में जनता को किसी भी प्रकार के अधिकारों को प्रदान किये जाने का विरोध किया।[1] यह भी कहा जाता था कि इंगलैण्ड में जनता को संविधान द्वारा ऐसे अधिकार नहीं मिले थे। प्रान्तों में स्वायत्त-शासन की स्थापना तथा उनके कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र के बाद जनता में इस बात की चेतना जागृत होने लगी कि उसे कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन ने भी इस भावना को सुदृढ़ किया। सन् १९४५ में सप्रू कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये जाने पर भी बल दिया।[2] भारत को अंग्रेजों ने जिस परिस्थितियों में छोड़ा, उसने अल्पसंख्यकों तथा अन्य अनेक प्रकार की समस्याएं पैदा कर दीं। जिस समय संविधान का निर्माण हो रहा था, संविधान-सभा ने अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की जो संविधान में अल्पसंख्यकों के हित में कुछ सुझाव दे। उसने मूल अधिकारों के सम्बन्ध में भी एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने नागरिकों को दो प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाने की सिफारिश की। प्रथम कोटि के अधिकार तो ऐसे होने थे जिनकी रक्षा न्यायालय द्वारा करायी जा सके तथा दूसरी कोटि के अधिकार ऐसे होने थे, जो उन सिद्धान्तों का निरूपण करें जिनके आधार पर राज्य की नीतियां निर्धारित होनी थीं अथवा कानून बनाये जाने थे। दूसरी कोटि के ही अधिकार भारतीय संविधान के भाग ४ में राज्य के नीति-निर्देशक-तत्वों के रूप में उल्लिखित हैं।

स्वतन्त्रता के पूर्व मूल अधिकार

मूल अधिकार राज्य की शक्ति पर एक प्रकार के प्रतिबन्ध हैं तथा यदि

1 Report of the Joint Parliamentary Committee, para 300.

2 Para 865 of the Report says :
"........howsoever in appropriate the tabulation of fundamental rights may be in England and howsoever inconsistent it may be with the fundamental dogma of the British constitution that fundamental rights are incompatible with the sovereignty of Parliament in the peculiar circumstances of India we are distinctly of the opinion that the framing of fundamental rights is necessary not only for giving assurances and guarantees to the minorities, but also for prescribing a standard of conduct, for the Legislature, Government and the courts........We would be sorry if constitutional jurisits or or lawyers under the spell of English law treated fundamental rights as nothing more than moral maxims or adages."

केन्द्र अथवा राज्य की कोई विधि अथवा आदेश उनके प्रतिकूल हो तो मूल-अधिकारों को न्यायालय द्वारा मान्यता दिलायी जा सकती है। भारतीय न्यायालयों को अधिकार है कि वह कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका को इन अधिकारों के प्रतिकूल कार्य करने से रोक सकें।[1] संविधान के अनुच्छेद १२ में 'राज्य' शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ दिया गया है तथा न केवल केन्द्र अथवा राज्य की सरकारें अथवा व्यवस्थापिकाएँ ही वरन् यदि भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन कोई स्थानीय अथवा अन्य प्राधिकारी अधिकारों के प्रतिकूल कार्य करें तो उन पर भी न्यायालय रोक लगा सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद १३ के अनुसार भारतीय राज्य-क्षेत्र में पूर्व प्रवृत्त विधियाँ भी उस मात्रा तक शून्य घोषित की गयी हैं जिस तक ये इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं तथा राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनावेगा जो इस भाग द्वारा दिये गये अधिकारों को न्यून करती हो। इस प्रकार भारतीय संविधान में वर्णित अधिकार ब्रिटिश प्रकार की संसदीय प्रभुसत्ता को मान्यता प्रदान नहीं करते और वह अमेरिका के समान न्यायपालिका की सर्वोपरिता को भी मान्यता नहीं देते हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के जस्टिस मुकर्जी का मत है कि भारत का संविधान एक लिखित संविधान है जिसने ब्रिटिश संसदीय पद्धति की अनेक बातों को ग्रहण किया है, परन्तु विधान के विषय में इसने संसद की प्रभुसत्ता पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं की है। इस दृष्टि से इसने अमेरिकी संविधान तथा अन्य संविधानों का अनुसरण किया है।[2] संविधान-सभा ने इन अधिकारों के रक्षण के भी सम्बन्ध में अत्यन्त रुचि दिखायी तथा उसका विश्वास था कि इन अधिकारों का कोई महत्व नहीं रहेगा यदि संवैधानिक उपचार नागरिकों को प्रदान किये जायेंगे। इसी कारण संविधान में अनुच्छेद ३२ तथा २२६ को सम्मिलित किया गया है।[3] सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बोस ने रामसिंह तथा दिल्ली राज्य के मध्य एक विवाद का निर्णय करते हुए कहा कि हम लोगों का कर्त्तव्य है कि जनता को संविधान द्वारा जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनकी रक्षा करें तथा यह देखें कि व्यवस्थापिका अथवा कार्यपालिका द्वारा उनका हनन तो नहीं होता।[4] इसका तात्पर्य यह होता है कि संविधान द्वारा नागरिकों को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे राज्य द्वारा बनाये गये सामान्य कानूनों से अधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि यदि राज्य

मूल अधिकार और न्यायपालिका राज्य पर प्रतिबन्ध

1 *Dash* : The Constitution of India, p. 375.
2 A. K. Gopalan Vs The State of Madras (1950).
3 *C. H. Alexandrowicz* : Constitutional Development in India, p. 35.
4 In Ram Singh Vs. State of Delhi, Justice Bose observed : "It is our duty and privilege to see that rights which are intended to be fundamental are kept fundamenal.......We are here to preserve intact for the people of India the freedoms, [contd.

कोई ऐसी विधि या आदेश प्रवर्तित करे जो उनके प्रतिकूल हों, तो वह न्यायालय द्वारा अवैधानिक घोषित किये जा सकते हैं।

ऊपर की गयी विवेचना से यह न समझ लेना चाहिए कि मौलिक अधिकारों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है तथा वह असीमित हैं। न्यायधीश बोस ने भी इस बात को माना है कि संसद तथा कार्यपालिका को यह अधिकार है कि वह नागरिकों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा सके तथा संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार असीमित नहीं हैं। यदि संसद किसी विधि को बनाती है तथा न्यायपालिका दुराग्रही सिद्ध होती है तो संसद को यह भी अधिकार है कि वह संविधान के अधिकांश भाग को, जिसमें मूल अधिकार भी सम्मिलित हैं, संशोधन कर दे। उच्चतम न्यायालय ने रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य तथा ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य के मामलों में संविधान के अनुच्छेद १९ (२) की संकुचित व्याख्या की। संसद ने संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, सन् १९५१ द्वारा इस व्याख्या का अतिक्रमण कर दिया। इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल, द्वारकादास बनाम शोलापुर स्पिनिंग कं० तथा पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम बेला बनर्जी के मामलों में अनुच्छेद ३२ की संकुचित व्याख्या की गयी थी। संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, सन् १९५५ ने इनका भी अतिक्रमण कर दिया। इस प्रकार व्यवहार में यह कहा जा सकता है कि संसद तो न्यायपालिका से भी सर्वोपरि है क्योंकि वह उसके द्वारा दी गयी व्यवस्था को संशोधन करके प्रभावहीन कर सकती है।

मौलिक अधिकारों का स्थगन तथा उन पर प्रतिबन्ध

भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त मौलिक अधिकार कुछ विशेष परिस्थितियों में स्थगित किये जा सकते हैं अथवा इन पर कुछ प्रतिबन्ध भी हैं।

अधिकारों का स्थगन

संविधान के अनुच्छेद ३३ के अनुसार संसद सशस्त्र बल के सम्बन्ध मे मूल अधिकारों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकती है जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन उचित रीति से कर सकें तथा उनमें अनुशासन भी बना रहे। अनुच्छेद ३४ के अनुसार जब किसी क्षेत्र में सैनिक (मार्शल) विधि प्रवृत्त हो, संसद उस क्षेत्र में संघ अथवा राज्य की सेवा में नियुक्त किसी व्यक्ति को, शान्ति अथवा व्यवस्था बनाये रखने के सम्बन्ध में किये गये किसी कार्य के लिए तारण (इन्डेम्निटी) देने का अधिकार रखती है। अनुच्छेद ३६५ के अनुसार जब आपात् की उद्घोषणा प्रवर्तन

---

which have now been guaranteed them and which they have earned through the years to eherish, to the very fullest extent of the guarantee, and to cnsure that they are not whittled away or brought to nought either by parliamentary or by executive action."

में हो, राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा यह घोषणा कर सकता है कि उद्घोषणा के काल में मूलाधिकारों को कार्यान्वित करने के लिए न्यायालयों को प्रचलित करने का अधिकार स्थगित रहेगा. उद्घोषणा समाप्त होने पर यह अधिकार पुनः प्रभावी हो जायेगा। अनुच्छेद ३५८ के अनुसार आपात् की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में अनुच्छेद १९ में उल्लिखित वाक्स्वातन्त्र्य, सम्मेलन, संघ निर्माण करने, चलने-फिरने निवास करने अथवा बस जाने, सम्पत्ति के अर्जन तथा वृत्ति और उपजीविका करने के अधिकारों की 'राज्य' की अधिशासनिक अथवा विधायी कार्यवाहियों के विरुद्ध रक्षा नहीं की जा सकेगी। उद्घोषणा की समाप्ति पर इस कार्यवाही अथवा किसी विधि का कोई प्रभाव नहीं रहेगा, परन्तु उद्घोषणा की अवधि में नागरिक के अधिकारों का जो उल्लंघन किया जायेगा, उससे रक्षा करने के लिए नागरिकों को कोई उपचार प्रदान नहीं किये गये हैं।

अन्य प्रतिबन्ध

उपरिवर्णित प्रतिबन्धों के अतिरिक्त भी संविधान ने मूल अधिकारों पर कुछ अन्य प्रतिबन्ध लगाये हैं। संविधान के अनुच्छेद १९ में नागरिकों की सात प्रकार की स्वतन्त्रता का उल्लेख है, परन्तु इनमें से प्रत्येक पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगे हैं, जिन्हें राज्य कार्यान्वित कर सकता है। उदाहरणार्थ, जहाँ नागरिकों को भाषण तथा विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, वहीं संविधान में यह व्यवस्था भी है कि राज्य सुरक्षा, अन्य राज्यों के साथ परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार तथा सदाचार, न्यायालय अवमान (Contempt of Court), मानहानि अथवा अपराधों को उत्तेजना आदि विषयों के सम्बन्ध मे इस स्वतन्त्रता के प्रयोग पर युक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है। जब राज्य नागरिकों के किसी मूल अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध लगाता है तो यह निश्चय करना न्यायालयों का काम होता है कि व्यक्ति के जिस अधिकार को मर्यादित किया गया है, वह 'युक्तियुक्त है' अथवा नहीं। इस प्रकार प्रत्येक स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-से प्रतिबन्ध युक्तियुक्त हो सकते हैं? प्रतिबन्ध के युक्तियुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका उस उद्देश्य से, जिसे विधि प्राप्त करना चाहती है, उचित सम्बन्ध हो अर्थात् जिस गलती को रोका जाता है, प्रतिबन्ध को उससे अधिक नहीं होना चाहिए।" उच्चतम न्यायालय ने चिंतामन बनाम मध्यप्रदेश राज्य के मामले में कहा, "वह विधि जो मनमाने ढंग से अथवा अतिरंजन से अधिकार के ऊपर आक्रमण करती है, युक्तियुक्त नहीं कही जा सकती" अर्थात् कानून प्रतिबन्ध लगाकर जिस उद्देश्य को प्राप्त करना चाहता है, वास्तविक प्रतिबन्ध उससे अधिक नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि यदि प्रतिबन्ध लगाये जायँ तो वह उचित ढंग से लगाये जाने चाहिए। जब कभी भी न्यायालयों के सामने यह प्रश्न उठता है कि विधि द्वारा आरोपित प्रतिबन्ध उचित हैं

प्रतिबन्ध एवं न्यायालय

अथवा अनुचित तो वह यह देखते हैं कि प्रतिबन्ध किस प्रकार लगाये गये हैं, उनको कार्यान्वित करने की प्रतिक्रिया क्या है, उनका विस्तार क्या है तथा जिस बुराई को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह कितनी तात्कालिक है ? यदि कोई प्रतिबन्ध प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का हनन करता है तो वह अनुचित है। उदाहरणार्थ, यदि कोई प्रतिबन्ध किसी नागरिक के संघ निर्माण करने, सम्पत्ति रखने अथवा व्यवसाय करने के अधिकार का उल्लंघन करता है तथा व्यक्ति को सुनवायी का कोई अवसर नहीं मिलता तो वह प्रतिबन्ध उचित नहीं समझा जायेगा। उच्चतम न्यायालय ने अनेक मामलों में यह भी निर्धारित कर दिया है कि जब तक असाधारण परिस्थितियाँ नहीं हों, मूलाधिकारों को कार्यपालिका की इच्छा पर छोड़ देना अनुचित है।[1]

संविधान द्वारा प्रदत्त मूलाधिकार

भारतीय संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सात शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया गया है :

(१) समता का अधिकार ;
(२) स्वतन्त्रता का अधिकार ;
(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार ;
(४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार ;
(५) संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार ;
(६) सम्पत्ति का अधिकार तथा,
(७) संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

समता का अधिकार

समता प्रजातन्त्र का एक मूल तत्व है तथा क्योंकि भारत एक जनतन्त्रात्मक राज्य है, अतः इसके संविधान में समता के सिद्धान्त को बहुत महत्व दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद १४ के अनुसार "भारत राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायगा।

विधि के समक्ष समता

उपर्युक्त अनुच्छेद में 'विधि के समक्ष समता तथा विधियों के समान संरक्षण' शब्द एक-से प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में उनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। विधि के समक्ष समता एक नकारात्मक संकल्पना है जिसका आशय है कि किसी भी व्यक्ति को किसी प्रकार के विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हैं तथा सामान्य विधि के समक्ष सभी समान हैं। विधियों का समान संरक्षण एक सकारात्मक

१ मद्रास राज्य बनाम राव (सन् १९५२—एस० सी० आर० ५९७ ;
रघुबीर बनाम कोर्ट ऑफ वार्ड्स (सन् १९५३)—एस० सी० आर० १९४९ ;
द्वारकादास बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (सन् १९५४)—एस० सी० ए० २०४।

संकल्पना है जिसका आशय है कि समान परिस्थितियों में सभी के साथ समान व्यवहार होगा।

विधि के समक्ष समता का यद्यपि आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का चाहे उसका पद अथवा स्थिति कैसी भी हो, वह सामान्य विधि के अधीन रहता है तथा उस पर न्यायालयों में मुकद्दमा चलाया जा सकता है। इस प्रकार राज्याधिकारियों तथा साधारण जनता मे कोई अन्तर नहीं रह जाता। इंगलैण्ड में भी यही स्थिति है, परन्तु सार्वजनिक हितों को दृष्टिगत रखते हुए इस समानता के नियम के कुछ अपवाद भी हैं। यह निम्नलिखित हैं[1]—

समानता के नियम के अपवाद

(१) राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल अपने पद के अधिकारों के प्रयोग अथवा कर्त्तव्यों के पालन के अन्तर्गत किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होंगे। (२) न्यायालयों में राष्ट्रपति अथवा राज्यपालों के कार्यकाल में उनके विरुद्ध किसी भी प्रकार की फौजी कार्यवाहियाँ नहीं की जा सकेंगी; अथवा कोई न्यायालय कार्यकाल में उन्हें गिरफ्तार करने अथवा जेल में रखने का आदेश नहीं दे सकेगा। (३) राष्ट्रपति अथवा किसी राज्यपाल के खिलाफ अनुतोष की माँग करने वाली कोई व्यवहार्य कार्यवाहियाँ उसकी पदावधि में किसी न्यायालय में तब तक संस्थित नहीं की जायेंगी, जब तक कार्यवाहियों के स्वरूप, उनके लिए वाद का कारण, ऐसी कार्यवाहियों को संस्थित करने वाले पक्षकार का नाम, विवरण, निवासस्थान तथा उससे माँग किये जाने वाले अनुतोष का वर्णन करने वाली लिखित सूचना को यथास्थित राष्ट्रपति या राज्यपाल को दिये जाने अथवा उनके कार्यालय में छोड़ जाने के पश्चात् दो मास का समय व्यतीत नहीं हो गया हो। इन विमुक्तियों के होते हुए भी राष्ट्रपति पर महाभियोग की कार्यवाही चलायी जा सकती है अथवा राज्य सरकार तथा भारत सरकार पर मुकद्दमे चलाये जा सकते हैं। इस अनुच्छेद के कुछ अपवाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत भी होते हैं अर्थात् विदेशी शासक अथवा राजदूत विधियों से परे होते हैं।

विधियों का समान संरक्षण

विधियों के समान संरक्षण का अभिप्राय अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने इस प्रकार स्पष्ट किया है : "प्रत्येक व्यक्ति के वैयक्तिक अधिकारों की समान रूप से सुरक्षा की जाये।...... इसका केवल यही अभिप्राय नहीं है कि इस प्रकार की सुरक्षा के हेतु विधियों द्वारा प्रस्तुत साधन उसको प्राप्त होंगे, वरन् यह अभिप्राय भी है कि किसी व्यक्ति के ऊपर ऐसा भार अथवा व्यय न पड़ेगा, जो समान परिस्थितियों में अन्य व्यक्तियों के ऊपर नहीं पड़ता है।" संक्षेप में, इसका आशय यह है कि विधियों अथवा उसके प्रशासन में मनचाहा भेद-भाव नहीं होना चाहिए। उन परिस्थितियों में जिनमें किसी भिन्न व्यवहार की आवश्यकता न हो तो किसी

1 अनुच्छेद ३६१

व्यक्ति के साथ पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए और न ही उसे किसी नुकसान की स्थिति में रखा जाना चाहिए। इसका हम यह अर्थ नहीं लगा सकते कि सभी नागरिकों पर समान कर लगाया जायगा, परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि समान परिस्थितियों में अथवा एक-सी ही सम्पत्ति के स्वामियों पर कर लगाने का आधार एक हो। यदि विभिन्न वर्गों के वर्गीकरण का कोई उचित आधार हो तो व्यवस्थापिका भिन्न-भिन्न प्रकार के कर लगा सकती है। उदाहरणार्थ, वह शिक्षा-संस्थाओं, पुस्तकालयों आदि को कर से मुक्त कर सकती है, विभिन्न व्यवसायों व उद्योगों पर विभिन्न प्रकार के कर लगा सकती है अथवा वास्तविक तथा व्यक्तिगत—दोनों प्रकार की सम्पत्ति पर भिन्न-भिन्न प्रकार के कर लगा सकती है, परन्तु ऐसा विभेद करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्गीकरण के आधार का औचित्य विधि के उद्देश्य को सामने रख कर निश्चित किया जावे। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया है कि जूरी द्वारा किसी मामलों की जाँच देश के कुछ भागों में स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रख कर की जा सकती है (वीरेन्द्र बनाम लीगल रिमेम्ब्रेंसर (सन् १९५५)—(एस० सी० ए० ५८८) अथवा यदि मद्यनिषेध-सम्बन्धी कोई विधि कार्यान्वित की जाए तो सैनिक अथवा असैनिक कर्मचारियों अथवा विदेशी यात्रियों तथा भारतीयों के मध्य किसी प्रकार का विभेद करना असंवैधानिक नहीं होगा क्योंकि मद्यनिषेध की दृष्टि से वह समान स्थिति में नहीं होते। (बम्बई राज्य बनाम बालसरा (सन् १९५१)—एस० सी० आर० ६८२)

धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान के आधार पर विभेद का अन्त

संविधान के अनुच्छेद १५ के अनुसार राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा; तथा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश अथवा पूर्ण आंशिक रूप में राज्यनिधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोगों के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निबन्धन अथवा शर्त के अधीन न होगा, परन्तु इसके साथ ही इस अनुच्छेद के कुछ अपवाद भी हैं, अर्थात् राज्य स्त्रियों तथा बच्चों के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध बना सकता है, तथा राज्य को सामाजिक तथा शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े किन्हीं नागरिक वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने में बाधा न होगी।[1]

---

1 केन्द्रीय सरकार ने निर्णय किया है कि संसद एवं राज्य विधान सभाओं में अनुसूचित एवं जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण की अवधि को १० वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया। सरकार ने यह भी निर्णय किया है कि वह [contd.

संविधान का अनुच्छेद १५ हर प्रकार के विभेद का अन्त कर देता है। है। संविधान अनुच्छेद १६ उपर्युक्त अनुच्छेद की ही उपसिद्धि है। इसके अनुसार "राज्याधीन नौकरियां या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी" तथा "केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म-स्थान, निवास अथवा इसमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय मे न अपात्रता होगी न विभेद किया जाएगा।" इस प्रकार यह अनुच्छेद साम्प्रदायिक भेदभाव ही नहीं, वरन् स्थानीय भेदभाव अथवा स्त्री-पुरुष के मध्य भेदभाव का अन्त कर देता है, परन्तु नियुक्ति के सम्बन्ध में अवसर की समता के अधिकार के कुछ अपवाद भी हैं। संसद यह निश्चय कर सकती है कि कुछ विशेष प्रकार की नौकरियों के लिए राज्य में निवास सम्बन्धी योग्यता आवश्यक है अथवा कुछ नौकरियों को पिछड़े वर्गों के लिए सुरक्षित कर सकता है जिनका नौकरियों में उचित प्रतिनिधित्व न हो अथवा धार्मिक या साम्प्रदाविक संस्थाओं में पदों को केवल उसी धर्म या सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है। अनुच्छेद ३३६ के अनुसार नौकरियों में संविधान के लागू होने के दस वर्ष बाद तक कुछ स्थान ऐंग्लो-इण्डियनों के लिए सुरक्षित रखे गये; अनुच्छेद ३३५ के अनुसार संघ अथवा राज्य के कार्यों से संसक्त सेवाओं तथा पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में प्रशासन-कार्यपटुता बनाये रखने की संगति के अनुसार अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के सदस्यों के दावों को भी ध्यान में रखा जाना है।

सरकारी सेवाओं में अवसर की समानता

संविधान के अनुच्छेद १७ में अस्पृश्यता के अन्त करने की घोषणा कर दी गयी है तथा इसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। इसी अनुच्छेद के अनुसार अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध बना दिया गया है जो विधि के अनुसार दण्डनीय है।[1] इस अधिनियम द्वारा इस प्रकार संविधान ने अस्पृश्यता का जो प्रतिषेध किया है, उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। इसमें अस्पृश्यता के आधार पर किये गये कौन-कौन से कार्य अपराध हैं, बताये गये हैं तथा उनके लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी है।

अस्पृश्यता का अन्त

अन्य क्षेत्रों में अनुसुचित जातियों को सुविधायें प्रदान करने के वर्तमान प्रावधानों में भी कोई परिवर्तन नहीं करेगी। मूल रूप से १९६० तक की तक की अवधि संविधान ने निर्धारित की थी लेकिन बाद में संशोधन द्वारा यह १९७० तक के लिए बढ़ा दी गई अब संसद में शीघ्र ही उचित विधेयक प्रस्तुत कर यह अवधि २६ जनवरी १९८० तक बढ़ा दी जायगी।

1 इस सम्बन्ध में सन् १९५५ मे संसद ने अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित किया।

देश में सामाजिक समता की स्थापना करने के लिए संविधान ने अनुच्छेद १८ के अनुसार घोषित कर दिया है कि राज्य की ओर से सेना अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधि के अतिरिक्त अन्य कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा तथा न भारत का ही कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार करेगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक नहीं है परन्तु वह राज्य के अधीन कोई लाभ अथवा विश्वास का पद धारण किये हुए है तो भी वह बिना राष्ट्रपति की सम्मति के कोई खिताब स्वीकार नहीं कर सकता तथा न ही राज्य के अधीन लाभ अथवा विश्वास का पद धारण करते हुए कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य अथवा उसके अधीन किसी राज्य से कोई भेंट या उपाधि बिना राष्ट्रपति की सम्मति के स्वीकार नहीं कर सकता।

उपाधियों का अन्त

स्वातंत्र्य-अधिकार

संविधान के अनुच्छेद १९-२२ में व्यक्ति को कुछ स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गयी हैं। संविधान के अनुच्छेद १९ के अनुसार सभी नागरिकों को निम्न अधिकार प्रदान किये गये हैं :

(क) वाक्-स्वातन्त्र्य तथा अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य ;

(ख) शान्तिपूर्वक तथा निरायुध सम्मेलन करने का अधिकार ;

(ग) संस्था अथवा संघ बनाने का अधिकार ;

(घ) भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का अधिकार ;

(ङ) भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने तथा बस जाने का अधिकार ;

(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण तथा व्यय करने का अधिकार ;

(छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार अथवा कारोबार करने का अधिकार।

यह अधिकार असीमित नहीं है तथा संविधान ने ही इन पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा रखे हैं जो समाज के वृहत्तर हितों को ध्यान में रखते हुए लगाये गये हैं। इस प्रकार (१) यद्यपि राज्य द्वारा व्यक्ति को वाक् तथा अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य प्रदान किया गया है, परन्तु राज्य इसके प्रयोग पर राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हितों में या न्यायालय अवमान, मानहानियों, अपराध उद्दीपन के सम्बन्ध में युक्तियुक्त निर्बन्ध लगा सकता है। (२) सभा सम्मेलन करने के सम्बन्ध में दी गयी स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि यह सभाएँ शान्तिपूर्ण एवं निरायुध हों परन्तु सार्वजनिक व्यवस्था की दृष्टि से राज्य इस पर निर्बन्ध लगा सकता है। उच्चतर न्यायालय ने रमेश थापर बनाम मद्रास सरकार तथा ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य के मामलों में इस धारा की व्याख्या करते हुए कहा : "यह धारा उन कृत्यों को, जो केवल शान्ति को भंग करने के प्रयत्न में किये जाते हैं, दण्डित नहीं करती। जब

तक कृत्य राज्य की जड़ों को संकट पैदा नहीं करें अथवा उसे पलटने की आशंका उत्पन्न नहीं करें, तब तक भाषण व अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अधिकारों को सीमित नहीं किया जा सतता। (३) सभी नागरिकों को संघ अथवा संस्थाएँ बनाने का अधिकार संविधान ने प्रदान कर रखा है, परन्तु यह अधिकार भी उन प्रतिबन्धों के अधीन है जिन्हें राज्य साधारण जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए लगाता है। स्वतन्त्रता की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों का निर्माण नहीं कर सकता जो षड्यन्त्र करे, अथवा सार्वजनिक शान्ति अथवा व्यवस्था को भंग करें। (४) संविधान ने नागरिकों को सर्वत्र अबाध संचरण करने, देश के किसी भी भाग में निवास करने तथा बस जाने का अधिकार प्रदान कर डाला है, परन्तु राज्य सामान्य जनता के हितों अथवा किसी अनुसूचित आदिम जाति के हितों के संरक्षण के लिए युक्तियुक्त निर्बंध लगा सकता है। (५) संविधान ने वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार नागरिकों को प्रदान किया है, परन्तु राज्य सामान्य जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए इस पर भी प्रतिबन्ध लगा सकता है। (६) संविधान ने सभी नागरिकों को वृत्ति, उपजीविका, व्यापार अथवा व्यवसाय करने का अधिकार प्रदान कर रखा है, परन्तु राज्य जनता के हित में युक्तियुक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है। राज्य कतिपय व्यवसायों के सम्बन्ध में आवश्यक वृत्ति अथवा शिल्पिक योग्यताएं निर्धारित कर सकता है अथवा किसी कारोबार या उद्योग को पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से स्वयं-अपने हाथ में ले सकता है।

भारत का कोई भी नागरिक विदेशों की यात्रा करने का अधिकार रखता है। यह बात भी सर्वोच्च न्यायालय के बहुमत फैसले से निश्चित हो गयी है। १० अप्रैल, सन् १९६७ को सन्तवतसिंह साहनी की एक अपील सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार कर ली जो उन्होंने पंजाब उच्च न्यायालय के फैसले के विरुद्ध की थी। पंजाब उच्च न्यायालय ने उन्हें वैदेशिक विभाग मन्त्रालय द्वारा पासपोर्ट का प्रार्थना-पत्र अस्वीकार कर देने के पक्ष में फैसला दिया था। श्री साहनी ने अपील में कहा कि कार्यपालिका का यह कार्य उनके मौलिक अधिकार में बाधक तथा अवैधानिक था। श्री सुब्बाराव, मुख्य न्यायाधीश ने बहुमत निर्णय दिया कि ऐसा कोई भी कानून नहीं था जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को विदेश यात्रा के अधिकार से अथवा पासपोर्ट दिये जाने से वंचित किया जा सके। न्यायालय ने यह भी स्वीकार किया कि कार्यपालिका का मनमाने ढंग से किसी व्यक्ति को पासपोर्ट देने से इन्कार करना संविधान के अनुच्छेद १४ का उल्लंघन था। न्यायाधीश एम० हिदायतुल्ला तथा न्यायाधीश आर० एस० बच्छावत ने अल्पमत निर्णय में कहा कि पासपोर्ट पाने का अधिकार किसी भी हालत में मौलिक अधिकार नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध नागरिक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से नहीं है। मानव-अधिकार की सार्वभौम घोषणा में यह अवश्य कहा गया है कि "हर किसी को कोई भी देश

विदेश-यात्रा एक मौलिक अधिकार

छोड़ने का अधिकार है, चाहे वह अपना ही देश क्यों नहीं हो" परन्तु वह अपराधियों और राजनीतिक आन्दोलनकारियों पर लागू नहीं। १० मई को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी कर सरकार को यह अधिकार प्रदान किया कि वह देश की प्रभुसत्ता, अखण्डता तथा सुरक्षा की दृष्टि से किसी भी नागरिक का पासपोर्ट रद्द कर सकती है या इस आधार पर पासपोर्ट नहीं दे।

अपराध की दोष-सिद्धि के विषय में संरक्षण

कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जायेगा, जब तक कि उसने अपराधारोपित क्रिया करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण नहीं किया हो। वह अपराध के लिए निश्चित दण्ड से अधिक दण्ड का पात्र नहीं होगा। कोई व्यक्ति एक अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित तथा दण्डित नहीं किया जायेगा तथा किसी व्यक्ति को अपने विरुद्ध साक्षी होने को बाध्य नहीं किया जायगा।[1]

प्राण तथा दैहिक स्वाधीनता का संरक्षण

संविधान के अनुच्छेद २१ के अनुसार किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया छोड़कर अन्य प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता। यह अनुच्छेद सुप्रसिद्ध मैग्नाकार्टा से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार "किसी व्यक्ति को देश की विधि को छोड़कर अन्य प्रकार से गिरफ्तार, कारावासित, वंचित, निर्वासित अथवा विनष्ट नहीं किया जा सकेगा।" इसका आशय यह है कि कार्यपालिका नागरिकों की स्वतन्त्रता में उस समय तक हस्तक्षेप नहीं कर सकती जब तक वह अपने कार्य का विधि के किसी उपबन्ध द्वारा समर्थन न प्राप्त कर सके, परन्तु व्यक्ति को किसी भी देश में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती है तथा भारत ने ब्रिटिश संविधान के इस मूल सिद्धान्त को, कि संसद में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि ही यह निश्चय करते हैं कि व्यक्तियों के अधिकार कहाँ तक जायें तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सार्वजनिक हित राज्य की सुरक्षा में उन्हें कहाँ तक नियन्त्रित किया जाय, यह अनुच्छेद विधान-मण्डल की शक्तियों पर प्रतिबन्धित नहीं है। गोपालन बनाम राज्य (सन् १९५०) में मुख्य न्यायाधीश कानिया ने यह कहा कि यद्यपि संयुक्त राज्य में तो न्यायालय व्यक्ति के जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने वाली विधियों को अनुचित तथा दमनात्मक होने के कारण अवैध घोषित कर सकता है, परन्तु भारत मे ऐसा सम्भव नहीं है। भारत में 'संविधान में प्रयुक्त विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' वाक्यांश ने जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी अन्तिम अधिकार व्यवस्थापिका को प्रदान किया है। गिरफ्तारी तथा नजरबन्दी के कानून, चाहे वह कितने ही क्रूर तथा अनुचित क्यों न हों, न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित

1 अनुच्छेद २०।

नहीं हो सकते। जहाँ तक इस अनुच्छेद का सम्बन्ध है, व्यवस्थापिका का कथन अन्तिम है तथा उसका न्यायिक पुनरीक्षण नहीं हो सकता।"[1]

भारत में संविधान ने राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, समाज के लिए आवश्यक सेवाओं का संधारण, प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामलों आदि से सम्बन्धित कार्यों के लिए निवारक-विरोध (प्रिवेंटिव डिटेन्शन) कानूनों को बनाने का अधिकार विधान-मण्डल को दिया है तथा विधान-मण्डल ऐसा कानून बना सकता है जिसके अनुसार व्यक्ति को उपर्युक्त कारणों में से किसी एक के लिए कारावासित किया जा सकता है, परन्तु इसका दुरुपयोग न हो, इसलिए संविधान ने अनुच्छेद २२ में इस पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये हैं। यह निम्नलिखित हैं :

(१) जब किसी व्यक्ति को साधारण विधि के अधीन गिरफ्तार किया जाय, (अ) उसे यथा शीघ्र ही गिरफ्तारी का कारण बता दिया जाना चाहिए ; (ब) उसे २४ घन्टे की भीतर ही निकटस्थ मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाना चाहिए। मजिस्ट्रेट की आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति इस अवधि से अधिक हवालात में नहीं रखा जा सकता ; (स) उसे अपनी पसन्द के वकील से परामर्श करने तथा अपनी प्रतिरक्षा का अधिकार मिलना चाहिए। यह अधिकार शत्रु-विदेशियों को सुलभ नहीं है तथा न ही उन नागरिकों को जो निवारक-निरोध उपबन्धित करने वाली किसी विधि के अधीन नजरबन्द किया गया हो।

(२) जब किसी व्यक्ति को निवारक-निरोध-विधि के अधीन गिरफ्तार किया जाता है तो (अ) उसे केवल तीन मास तक ही हवालात में रखा जा सकता है तथा यदि सरकार उसे तीन मास से अधिक नजरबन्द रखना चाहती हो तो उसे एक मन्त्रणा-प्रणाली का प्रतिवेदन प्राप्त करना होगा कि उसे तीन मास से अधिक काल के लिए नजरबन्द रखना उचित है। इस प्रकार हवालात मे रखे गये व्यक्ति को यथाशीघ्र वह कारण बता दिये जायेंगे जिनकी वजह से उसे गिरफ्तार किया गया हो, यदि वह लोक-हित के विरुद्ध न हों।[2]

शोषण के विरुद्ध अधिकार

संविधान के अनुच्छेद २३ के अनुसार मानव का पणन, बेगार तथा इसी प्रकार का जबरदस्ती लिया गया श्रम प्रतिषेध कर दिया गया है तथा इसका उल्लंघन अपराध घोषित कर दिया गया है जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा। चौदह वर्ष से कम के बालकों को भी किसी कारखाने व खान में न तो नौकर रखा जा सकता है तथा न ही किसी संकटमय नौकरी में लगाया जा सकता है, परन्तु

1 यह अनुच्छेद सम्पत्ति के अधिकार में प्रयुक्त नहीं होता क्योंकि वह अनुच्छेद ३१ द्वारा नियमित होता है।

2 ३१ दिसम्बर १९६९ को नजरबन्दी कानून का २० वर्ष पुराना अस्तित्व समाप्त हो गया। राज्यों का अधिकार है कि इस सम्बन्ध में वे अपने-अपने नजरबन्दी नियम बना लें।

इसी अनुच्छेद में राज्य को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह सार्वजनिक प्रयोजन के लिए लोगों को सेवा करने को बाध्य कर सके तथा ऐसी सेवा लागू करने में राज्य, धर्म, मूल वंश, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार

अंतःकरण की तथा धर्म के अबाध आचरण की स्वतन्त्रता

संविधान ने भारत के सभी नागरिकों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा किसी धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने का समान अधिकार प्रदान किया है, परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि यह स्वतन्त्रता सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार, स्वास्थ्य आदि में बाधक न हों; राज्य को ऐसे कानून बनाने का भी अधिकार प्रदान किया गया है जो धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनिमय अथवा निर्बन्धन करता हो। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय

धार्मिक तथा मूर्त्त धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता

प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना तथा पोषण करने, धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करने, जंगम तथा स्थावर सम्पत्ति के अर्जन तथा स्वामित्व तथा ऐसी सम्पत्ति के विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार रखता है। राज्य किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं नहीं कर सकता है जिनका आगम किसी विशेष धर्म तथा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण

विशेष धर्म के लिए कर देने के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता

में व्यय करने के लिए विशेष रूप से विनियुक्त कर दिया गया हो। राज्य द्वारा पूर्णतः पोषित किसी भी शिक्षा-संस्था में कोई भी धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती है, परन्तु यह प्रतिबन्ध उन शिक्षा-संस्थाओं पर लागू नहीं होगा

राजकीय शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा निषिद्ध

जो राज्य द्वारा प्रशासित तो हो रही हों, परन्तु जिनकी स्थापना ऐसे दान या ट्रस्ट द्वारा हुई हो जिसका उद्देश्य धार्मिक शिक्षा देना हो, परन्तु सरकार द्वारा मान्यता-प्राप्त अथवा सहायता-प्राप्त शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा ऐच्छिक होगी।[1]

संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी-नागरिकों के किसी वर्ग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि अथवा संस्कृति हो, उसे बनाये रखने का अधिकार अनुच्छेद २९ द्वारा प्रदान किया गया है।

---

1 अनुच्छेद २६—२८।

अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण

राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-विधि से सहायता प्राप्त करने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं रखा जा सकता। इसके साथ ही अल्पसंख्यकों के अनुच्छेद ३० के अन्तर्गत अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना तथा प्रशासन का अधिकार प्रदान किया गया है तथा शिक्षा-संस्थाओं को सहायता प्रदान करने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म अथवा भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक-वर्ग के प्रबन्ध में है।[1]

शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना तथा प्रशासन

सम्पत्ति का अधिकार

भारतीय संविधान के नागरिकों को उत्तराधिकार, व्यक्तिगत उपार्जन अथवा अन्य वैध उपायों से सम्पत्ति के अर्जन, धारण तथा व्ययन का अधिकार प्रदान किया है। इंगलैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधानों की भाँति, भारतीय संविधान भी इस प्रकार सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार का समर्थन करता है, परन्तु संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, सन् १९५५ ने इसमें कुछ ऐसे परिवर्तन कर दिये हैं कि सार्वजनिक हित में राज्य सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण कर सके। विधि के प्राधिकार के बिना कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता है। सार्वजनिक उद्देश्य के अतिरिक्त राज्य किसी भी व्यक्ति से अनिवार्य रूप से सम्पत्ति तब तक नहीं ले सकता, जब तक कोई ऐसी विधि न पास की जाये जो यह निश्चित करे कि मुआवजे की क्या राशि होगी अथवा उन सिद्धान्तों का निरूपण करे जिनके आधार पर मुवाअजा दिया जाना है : संविधान के (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, सन् १९५५ ने इसमें यह और जोड़ दिया है कि इस प्रकार का कोई कानून, इस आधार पर कि मुआवजा अपर्याप्त है, किसी भी अदालतों में कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकेगी।

सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार का संविधान द्वारा समर्थन

इस प्रकार सम्पत्ति के सम्बन्ध में मुआवजा निर्धारित करने का अधिकार विधान-मण्डल को ही प्राप्त है। यद्यपि संविधान कार्यपालिका के स्वेच्छाचारी आचरण से व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करता है पर विधान-मण्डल के कार्यों से रक्षा नहीं करता यद्यपि मुआवजा दिये बिना सम्पत्ति छीनने के सम्बन्ध में भारत

1 अल्पसंख्यकों के द्वारा अपनी भाषा में शिक्षा देने के अधिकार के सामने राज्य द्वारा शिक्षा का माध्यम निश्चित करने का अधिकार महत्वहीन हो जाता है। (बम्बई राज्य बनाम बम्बई एजूकेशन सोसायटी)

इंगलैंड तथा अमेरिका से प्रभावित हुआ है, जहाँ मुआवजे की पर्याप्तता निश्चय करना न्यायालयों के ही अधिकार-क्षेत्र में हैं।

इधर कुछ समय से देश में एक वर्ग जिसमें कांग्रेसी भी शामिल हैं मांग कर रहा है कि समाजवादी कार्यक्रमों को लागू करने के लिए सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों के वर्ग से निकाल दिया जाए। गोलकनाथ के फैसले के बाद, जिसमें कहा गया कि केवल संविधान सभा ही मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है, विधान मण्डल नहीं, यह शंका पैदा होती है कि क्या संसद मौलिक अधिकारों में ऐसा संशोधन कर सकती है? डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि सम्पत्ति एक व्यापक शब्द है जिसका केवल कोई आर्थिक या भौतिक स्वरूप नहीं होता है। डॉ० सिंघवी ने कहा है, "सम्पत्ति परिवार तथा अन्य अनेक धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का आधार भी है। परिवार की इकाई, अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, धंधा अपनाने की स्वाधीनता सब संपत्ति की धारणा पर टिके हैं। यदि नागरिक अधिकारों को सुरक्षित रखना है तो व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार दिया जाना आवश्यक है नहीं तो अन्य व्यक्तिगत मूल-अधिकारों की स्थिति त्रिशंकु जैसी हो जायेगी।"[1] संविधान के नीति निदेशक तत्वों में कहा गया है कि सामाजिक हित में संपत्ति के केन्द्रीकरण पर रोक लगायी जानी चाहिए। यदि सम्पत्ति समाज के लिए खतरा बन जाये तो समाज उस पर अवश्य अंकुश लगाये। डॉ० सिंघवी का कहना है कि मौलिक अधिकारों को तर्क संगत रीति से नियंत्रित करने का अधिकार राज्य को संविधान में दिया है। केवल न्यायालय तो यह जांच करते हैं कि प्रतिबन्ध उचित है अथवा नहीं जिससे सरकार जनता के लिए या त्रासदायी बन जाए।[2]

संवैधानिक उपचारों का अधिकार

भारतीय संविधान में न केवल नागरिकों के मूलाधिकारों का ही उल्लेख किया गया है, वरन् इसमें इन अधिकारों की रक्षा का उपचार भी उल्लिखित है। प्रत्येक नागरिक को इन अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय में प्रतिवेदन करने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय मूलाधिकारों की चौकीदारी करता है। इन अधिकारों को क्रियान्वित करने के लिए उच्चतम न्यायालय ऐसे आदेश अथवा लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कार्पस), परमादेश (मेडेमस), प्रतिषेध (प्रोहिबिशन), अधिकार पृच्छा (को-वारंटी) तथा उत्प्रेषण (सरशियोरारी) आदि लेख, जो भी समुचित हों, जारी कर सकता है। यह आदेश अथवा लेख उच्च न्यायालयों द्वारा भी जारी कर सकता है। यह आदेश अथवा लेख उच्च न्यायालयों द्वारा भी जारी किये जा सकते हैं। डॉ०

1 दिनमान, दिनांक ८ मार्च १९७०, पृ० ३०।
2 उपर्युक्त।

अम्बेडकर ने इन उपचारों को संविधान का 'हृदय तथा आत्मा' कह कर सम्बोधित किया है ।[1]

बन्दी-प्रत्यक्षीकरण

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए यह प्रलेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है—'शरीर को प्रस्तुत करो।' यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है जो यह समझता है कि उसे अवैध रूप से बन्दी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय बन्दीकरण करने वाले अधिकारी तथा बन्दी को न्यायालय के समक्ष उपस्थिति करने की आज्ञा देता है जिससे बन्दीकरण के कारणों की जाँच हो सके। दोनों पक्षों के विचारों को सुन कर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबन्दी वैध या अवैध है तथा यदि यह अवैध होती है तो उसे फौरन स्वतन्त्र किये जाने का आदेश दे सकता है।

परमादेश

परमादेश का अर्थ है—'हम आज्ञा देते हैं।' यह आदेश तब जारी किया जाता है जब न्यायालय किसी अधिकारी अथवा व्यक्ति को अपना कानूनी कर्त्तव्य पूरा करने के लिए विवश करना चाहता है। न्यायालय इसे जारी करने के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। यह प्रायः सार्वजनिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए जारी किया जाता है।

प्रतिषेध

इस लेख के द्वारा प्रायः उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालय को कानूनी सूत्रों से बाहर आने वाले मामले को रोकना होता है। मन्त्रियों अथवा अन्य अधिकारियों को भी यह आदेश दिया जा सकता है।

उत्प्रेरण

इस लेख का अर्थ होता है—"और अधिक सूचित होना।" यह लेख एक उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालय को जारी किया जाता है। जिसमें निम्न न्यायालय को (जिसमें पहले कोई विवाद, जो अब उच्च न्यायालय में चल रहा हो) तत्सम्बन्धी कागजात तथा कार्यवाही भेजने का आदेश दिया जाता है। इस लेख द्वारा न्याय के हित में किसी निम्न न्यायालय का ऊपरी न्यायालय में मुकद्दमा भेजने का आदेश देता है।

अधिकार पृच्छा का अर्थ होता है—"किस आज्ञा से"। यह लेख तब जारी जाता किया है, जब न्यायालय को पद सम्बन्धी दावे की वैधानिकता की जाँच

---

1 'If I was asked to name any particular article in this constitution as most important an article which this constitution would be a nullity—I could not refer to any other article except this one. It is the very soul of the constitution and the very heart of it." (*C. A. D.* Vol. VII, p. 953.)

अधिकार पृच्छा करनी होती है। यदि यह दावा निराधार होता है तो उस व्यक्ति को अपने पद से हटना पड़ता है। इसको जारी करने का मुख्य प्रयोजन यह होता है कि कोई अवैध दावेदार किसी सार्वजनिक पद को न हथिया ले।

मूल अधिकारों का मूल्यांकन

मूल अधिकारों की उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते, परन्तु इन अधिकारों की अनेक आधारों पर आलोचना भी की गयी है। प्रायः मूल अधिकारों की सर्वाधिक आलोचना इस आधार पर की गयी है कि वह सीमित हैं। उन पर इतने प्रतिबन्ध लगे हुए हैं कि यदि संविधान एक हाथ से नागरिकों को अधिकार प्रदान करता है तो दूसरे से उन्हें छीन लेता है।[1] संविधान में समय-समय पर संशोधन करके व्यवस्थापिका भी अधिकारों को छीन सकती है। भिन्न-भिन्न अधिकारों के क्या अपवाद हैं, इनकी यथास्थान विवेचना हो चुकी है। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों पर प्रत्यक्ष रूप में कोई निर्बन्ध नहीं लगाता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति भी संकटकालीन परिस्थिति घोषित करके भाषण, अभिव्यक्ति, शान्तिपूर्ण सम्मेलन तथा सभा-संगठन की स्वतन्त्रताओं को आपात् काल में छीन सकता है अथवा न्यायालयों से इन मूल अधिकारों के लागू करने की शक्ति भी छीन सकता है। इसकी विचारकों ने बहुत अधिक आलोचना की है। श्री हरिविष्णु कामथ का मत है कि इससे तानाशाही का जन्म हो सकता है[2] परन्तु अल्लादि कृस्णास्वामी अय्यर ने इस आक्षेप का विरोध किया है। उनका मत है कि इस उपबन्ध का प्रयोग केवल असाधारण अवस्थाओं

अधिकार सीमित हैं

---

1 *Mr. C. J. Chagla*, of the Bombay high court union, who had also been Union Minister of Education, has remarked : "It has been said that our constitution gives fundamental rights with one hand and with the other hand takes them away, by circumscribing the rights by innumerable exceptions and provisions. That to my mind is a very facile criticism."

2 Mr. Kamath said, "by this provision they were laying the foundation of a totalitarian state, and a police state, aganist all those principles that the Congress had held aloft during the last few decades. If we get place in that state, it will be the place of the grave and the void of desert. When tempests blow, the weight of this negation will be so heavy that the whole edific will collapse." *H. V. Kamath.*

में किया जायगा तथा इसका उद्देश्य लोकतन्त्र का विनाश नहीं अपितु विनाश से उसकी रक्षा करना है।[1]

मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने का उद्देश्य चाहे कितना भी पवित्र हो, परन्तु इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि कुछ अंशों में यह राज्य की शक्ति अत्यन्त असीमित कर देता है। इसी कारण यह भी कहा जाता है कि भारतीय संविधान मे शक्तिके केन्द्रीयकरण को स्वतन्त्रता से अधिक महत्व प्रदान किया गया है। निवारक-निरोध-विधि का संविधान में होना भारत के जनतन्त्रात्मक राज्य पर एक कलंक समझा जाता है। विचारकों ने आपात् काल को इसी कारण दासत्व का काल कहा है क्योंकि इसमें नागरिकों को कार्यपालिका के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने अथवा अपने अधिकारों को रक्षित करने का कोई अवसर नहीं मिलेगा। इसी कारण जिस समय संविधान-सभा में इस अनुच्छेद पर विवाद हो रहा था, एक सदस्य श्री सोमनाथ लाहिड़ी ने कहा, "मूलाधिकारों का निर्माण पुलिस के सिपाही के दृष्टि-कोण से किया गया न कि एक स्वतन्त्र तथा संघर्षशील राष्ट्र की दृष्टि से।"[2]

मूल अधिकारों की इस आधार पर भी आलोचना की गयी है कि इसमें कुछ ऐसी बातों को छोड़ दिया गया है, जिन्हें भी मूल अधिकार घोषित किया जाना चाहिए था। इस कोटि में काम का अधिकार, कुछ परिस्थितियों में राज्य से सहायता प्राप्त करने का अधिकार, निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, आदि को रखा जा सकता है। संविधान निर्माताओं ने इन अधिकारों को राज्य के नीति निर्देशक-तत्वों के अन्तर्गत रखा है। क्योंकि इन सिद्धान्तों की न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं की जा सकती है, अतः इनका वह महत्व नहीं जो मूल अधिकारों का होता है।

कुछ बातें मूलाधिकार घोषित नहीं की गयीं

इन आलोचनाओं के बाद भी मूल अधिकारों का महत्व कम नहीं हो जाता। यदि जनता के अधिकारों से अधिक महत्व अपनी सुरक्षा को देना है तो यह उचित ही है। विश्व के उन देशों में भी, जो आदर्श प्रजातन्त्र कहे जाते हैं, जनता को असीमित अधिकार प्राप्त नहीं हैं। वहाँ भी वैयक्तिक हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों को अधिक महत्व दिया जाता है। ऐसा ही भारत के संविधान में भी किया गया है।

1 "This provision is absolutely necessary. It will be the life of the constitution. Far from killing democracy, it will save democracy from danger and extinction.

2 The fundamental rights were framed from the point of view of police-constables.and not from the point of a view free-fighting nation,